जिनवाणी

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के अमृत महोत्सव के
उपलक्ष्य मे प्रकाशित

कर्म सिद्धान्त विशेषांक

प्रधान सम्पादक
डॉ० नरेन्द्र भानावत

□

सम्पादक
डॉ० श्रीमती शान्ता भानावत

□

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर–३०२००३

जिनवाणी

कर्म सिद्धान्त विशेषांक · वर्ष : ४१ अंक : १०–१२

अक्टूबर–दिसम्बर, १९८४

वीर निर्वाण सवत २५११

आश्विन-मार्गशीर्ष, २०४१

प्रवन्ध सम्पादक :

प्रेमराज वोगावत

संस्थापक :

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ

प्रकाशक .

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान न १८२-१८३ के ऊपर

वापू वाजार, जयपुर–३०२ ००३ (राजस्थान)

फोन न. ४८९९७

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :

सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर

जयपुर–३०२००४ (राजस्थान)

फोन न. ४७४४४

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन न ३६५३/५७

सदस्यता :

स्तम्भ सदस्यता . १००१ रु

सरक्षक सदस्यता ५०१ रु०

आजीवन सदस्यता . देश मे २५१ रु०

आजीवन सदस्यता विदेश मे ७५१ रु०

त्रिवर्षीय सदस्यता . ५५ रु०

वार्षिक सदस्यता · २० रु०

इस विशेपाक का मूल्य १० रु०

मुद्रक :

फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जौहरी वाजार, जयपुर–३

नोट : यह आवश्यक नही कि इस विशेपांक मे प्रकाशित लेखको के विचारो से सम्पादक या सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल की सहमति हो।

समर्पण

ज्ञान-दर्शन रूप
स्वाध्याय
और
चारित्र रूप
सामायिक-साधना
के प्रबल प्रेरक
आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज
के
तप पूत तेजस्वी व्यक्तित्व
को
उनके अमृत महोत्सव पर
सादर सविनय समर्पित !

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड

कम सिद्धान्त और सामाजिक चिन्तन २३५ ३०८

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

परिशिष्ट

सम्पादकीय

'हम तो कबहू न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ।।

अध्यात्मप्रवण कवि द्यानतराय की उपयुक्त पंक्तियाँ जीव के भव भ्रमण की पीडा और ग्लानि को व्यक्त करती हैं। 'निज घर' हमारा आत्म-स्वभाव है और 'पर घर' यह ससार है। जीवात्मा अपने कर्मानुसार विविध योनियाँ धारण कर अनादि काल से ससार में भटक रही है। इस भटकन और भ्रमण का कारण आत्मा के साथ बँधे हुए / चिपके हुए कर्म हैं। प्रश्न है जब आत्मा अपने सुख-दुःख की कर्ता स्वय है और सब में मूलत वह समान है तब ससार में इतना दुःख और वैषम्य क्यो है? क्या मनोवैज्ञानिक रूप से यह सम्भव है कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता हो और फिर भी वह अपने सुख के लिए दुःख के काँटे बोए? इस प्रश्न का उत्तर जैन दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया में खोजा है। उनका मानना है कि जीव अपने सुख-दुःख का विधाता और भोक्ता स्वय होते हुए भी अनादि काल से कर्म के बन्धनों में जकडा हुआ है। यही कारण है कि सिद्धान्तत वह पूर्ण स्वतंत्र और आनंदमय होते हुए भी व्यवहार में स्वतंत्र और आनदमय नहीं है।

जीव जो क्रिया करता है उसका नाम कर्म है। दूसरे शब्दों में जिस पर क्रिया का प्रभाव पडे वह कर्म है। 'कर्म' शब्द का लोक-व्यवहार और शास्त्र में विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। जन साधारण अपने अपने काम धन्धे, व्यवसाय, कर्तव्य आदि के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। पर जैन-दर्शन में 'कर्म' शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। उसके अनुसार ससारी जीव जब रागद्वेषयुक्त मन वचन, काया से जो भी किया करता है उससे उसके आत्म प्रदेशों में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है, उत्तेजन होता है। उससे वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यन्तर संस्कारों को जन्म देता है। ये पुद्गल परमाणु भौतिक और जड होते हुए भी जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक वाचिक, शारीरिक क्रियाओं के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के साथ अग्नि लोह पिण्ड की भांति परस्पर एकमेक हो जाते हैं और आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित कर लेते हैं, जिससे उसका तेज हतप्रभ और मन्द हो जाता है। जब विशिष्ट साधना के द्वारा इन कर्म पुद्गलों को नष्ट कर दिया जाता है तब आत्मा पूर्ण स्वतंत्र और आनन्दमय बन जाती है। जब तक इन कर्मों का क्षय नहीं होता, आत्मा भव भ्रमण करती रहती है। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि कृत कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती।

कर्म-फल के भोग के सम्बन्ध मे कई मान्यताएँ है । एक मान्यता यह है कि आत्मा कर्म करने मे स्वतत्र है परन्तु उसका फल देना ईश्वर के हाथ मे है। जैनदर्शन ऐसा नही मानता। वह कर्म सिद्धान्त को प्राकृतिक विधान-नियम मानकर चलता है। उसकी दृष्टि मे जीव स्वयं ही अपना विधाता और नियामक है। किसी वाहरी नियन्ता की आवश्यकता नही। अपने पुरुषार्थ, साधना, सत्कर्म, सद्विचार द्वारा वह वँधे हुए कर्मों के फल-भोग की प्रकृति, स्थिति, रस आदि मे घट-बढ रूप मे परिवर्तन ला सकता है, पाप प्रकृति को पुण्य मे, अशुभ प्रकृति को शुभ मे बदल सकता है। यही नही वह सयम, तप आदि की साधना से अपने पूर्व मे वधे हुए कर्मो को विना फल भोगे ही निर्जरित कर सकता है। इस दृष्टि से पिछले जन्म के अच्छे-वुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दु.ख की व्याख्या करते हुए भी कर्म सिद्धान्त वर्तमान मे किये गये पुरुषार्थ के महत्त्व को रेखाकित करता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'व्यक्ति जैसा करेगा वैसा भरेगा' तब उसकी मुक्ति कैसे होगी ? उसे सुख-दु.ख, पुण्य-पाप तो भोगना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो क्रिया भोग के रूप मे, विषयसुख की प्राप्ति के रूप में की जाती है उससे कर्मबध होता है पर जो क्रिया अनासक्त भाव से राग-द्वेष रहित होकर विशुद्ध सेवाभाव से, विवेक और यतनापूर्वक की जाती है वह वध का कारण नही होती।

'कर्म' का विचार लगभग सभी भारतीय दर्शनो और धर्मो मे हुआ है। कर्म के इस विचार मे सभी ने 'क्रिया' को मूलभूत आधार माना है। क्रिया 'अपने लिए' और क्रिया 'समाज के लिए' इस आधार पर वैयक्तिक कर्म और सामूहिक कर्म की चर्चा चली है। हमारी दृष्टि से इनमे कोई आत्यन्तिक विरोध नही है। जब कोई कहता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ तो इसका अर्थ यह नही कि वह अन्य सबको नकार रहा है। इसके मूल में आत्म-पुरुषार्थ और आत्म-शक्ति को जागृत कर दैन्य, निराशा, पराजय, हीनता जैसी भावना को नष्ट करने का लक्ष्य रहा है। जब कोई कहता है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् तू ही ब्रह्म है तो इसका अर्थ यह नही कि वह अपने को नकार रहा है। इसके मूल मे अपने अहं को विसर्जित करने का भाव निहित है। सत कबीर ने इस अनुभव को कितने सुन्दर रूप मे वाणी दी है—

जब मैं था तब हरि नही, अब हरि है मैं नाहि।
सब अँधियारा मिटि गया, दीपक देख्या मांहि ॥

जब व्यक्ति 'मेरेपन' और 'तेरेपन' दोनो से ऊपर उठ जाता है तब वह कह उठता है 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' अर्थात् सब ब्रह्म स्वरूप है। जब व्यक्ति अपने 'स्व' का 'सर्व' मे विलय कर देता है तभी यह स्थिति आती है। कबीर की आत्मा आनद विभोर होकर कह उठती है—

लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ।।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी यहीं आकर मिल जाते हैं। इनमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं रहता। जब व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोकसेवा एवं जनकल्याण के लिए क्रिया करता है तब उसमें बंध की नहीं, मुक्त होने की, राग की नहीं वीतराग की, उपभोग की नहीं, उपयोग की शक्ति विकसित होती है।

इस शक्ति को विकसित करने की भावना से ही, इस शक्ति के विशिष्ट आराधक परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० की ७५वीं जयन्ती (अमृत महोत्सव—पौष शुक्ला चतुर्दशी सं० २०४१) के उपलक्ष्य में 'जिनवाणी' का यह 'कर्म सिद्धान्त विशेषांक' प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्यश्री ज्ञान दर्शन रूप स्वाध्याय एवं चारित्र रूप सामायिक साधना की प्रबल प्रेरणा देते हुए जनसाधारण को आत्म शक्ति के प्रकटीकरण एवं कर्म निर्जरा की सतत उद्बोधना देते रहे हैं। उन्हीं के तपपूत तेजस्वी व्यक्तित्व को यह विशेषांक समर्पित है।

'जिनवाणी' के पूर्व प्रकाशित 'स्वाध्याय' 'सामायिक', 'तप', 'श्रावक धर्म' 'साधना' 'ध्यान', 'जैन संस्कृति और राजस्थान' आदि विशेषांकों की तरह यह विशेषांक भी अपना वैशिष्ट्य लिये हुए है। यह चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड 'कर्म सिद्धान्त के शास्त्रीय विवेचन' से सम्बन्धित है। इसमें जैन दर्शन में मान्य कर्म सिद्धान्त के विविध पक्षों के साथ-साथ बौद्ध, गीता, सांख्य मीमांसा, ईसाई इस्लाम धर्म एवं पाश्चात्य दर्शन में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त पर अधिकृत विद्वानों के ३१ निबन्ध संकलित किये गये हैं। इनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त को व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने और परखने में सहायता मिलती है।

द्वितीय खण्ड 'कर्म सिद्धान्त के सामाजिक चिन्तन' से सम्बन्धित है। शास्त्रीय रूप में कर्म सिद्धान्त का जो विवेचन हुआ वह मुख्यतया व्यक्तिवादी धरातल पर ही। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को विश्लेषित करने वाली आज कई विचारधाराएँ प्रवाहमान हैं। यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि अध्यात्म क्षेत्र में कर्म-सिद्धान्त की प्रक्रिया का जो विकास हुआ है क्या वह हमारे वर्तमान जीवन की सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकता है? और यदि हाँ तो किस रूप में व किस सीमा तक? इस व्यावहारिक धरातल पर कर्म विचार का जो चिन्तन चला है वह मुख्यतः कर्मयोग और सत्कर्म के रूप में ही। इस खण्ड में १५ निबन्ध दिये गये हैं। जिनमें ३२ से लेकर ४० तक के ९ निबन्ध देश के प्रबुद्ध विचारकों और तत्त्व चिन्तकों के हैं जो उनकी पुस्तकों

से सकलित किये गये है। इस खण्ड के निबन्धों में जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे आज के युग की समस्याओं व विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में हैं अतः इनका स्वर समीक्षात्मक है। इनके अध्ययन से कर्म-विचार की विविध भंगिमाओं, उनकी शक्तियो और सीमाओं से परिचित होने में मदद मिलती है। विचार-मन्थन की दृष्टि से इन निबन्धों का विशेष महत्त्व और उपयोग है। ये विचार लेखको के अपने हैं और उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

तृतीय खण्ड मे 'कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान' से सम्बन्धित चार निबन्ध हैं। इनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता को समझने में सहायता मिलती है। चतुर्थ खण्ड 'कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएं' से सम्बन्धित है। इसमें जैन कथा साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए तत्सम्बन्धी ५ कथाएँ दी गई हैं। कर्म सिद्धान्त को समझने में ये कथाएँ विशेष उपयोगी हैं। परिशिष्ट में सहयोगी लेखकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

इस विशेषांक के प्रकाशन की योजना आज से लगभग चार वर्ष पूर्व बनी थी। हमारा विचार कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान से सम्बद्ध विशेष सामग्री इसमें प्रकाशित करने का था पर वह संभव न हो सका। जैन धर्म, दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् श्री कन्हैयालाल लोढा का सामग्री-सकलन मे विशेष सहयोग मिला है, अतः हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। जिन विद्वान् आचार्यों, मुनियो व लेखको ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस विशेषांक को इस रूप में प्रस्तुत करने मे हमारी सहायता की, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते है। जिन व्यक्तियो, संस्थाओं व व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमे आर्थिक सहयोग प्रदान किया, वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। विज्ञापन खण्ड के संयोजक श्री सुमेरसिंह बोथरा और उनके सहयोगी सर्वश्री पूरणराज अब्बाणी जोधपुर, पारसराज बाँठिया अहमदाबाद, धर्मेन्द्र हीरावत बम्बई, मोतीचन्द कर्णावट जयपुर एवं पार्श्वकुमार मेहता जयपुर का विज्ञापन एकत्र करने मे विशेष सहयोग रहा है अतः हम उनके आभारी हैं।

आशा है, इस विशेषांक के अध्ययन-मनन से आत्म-पुरुषार्थ को जागृत करने एवं लोकसेवा के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलेगी।

सी-२३५ ए, दयानंद मार्ग, तिलकनगर,
जयपुर-४

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्रथम खण्ड

•

कर्म सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन

१ | कर्मों की धूप-छाँह*

☐ आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

दु ख का कारण कर्म-बंध
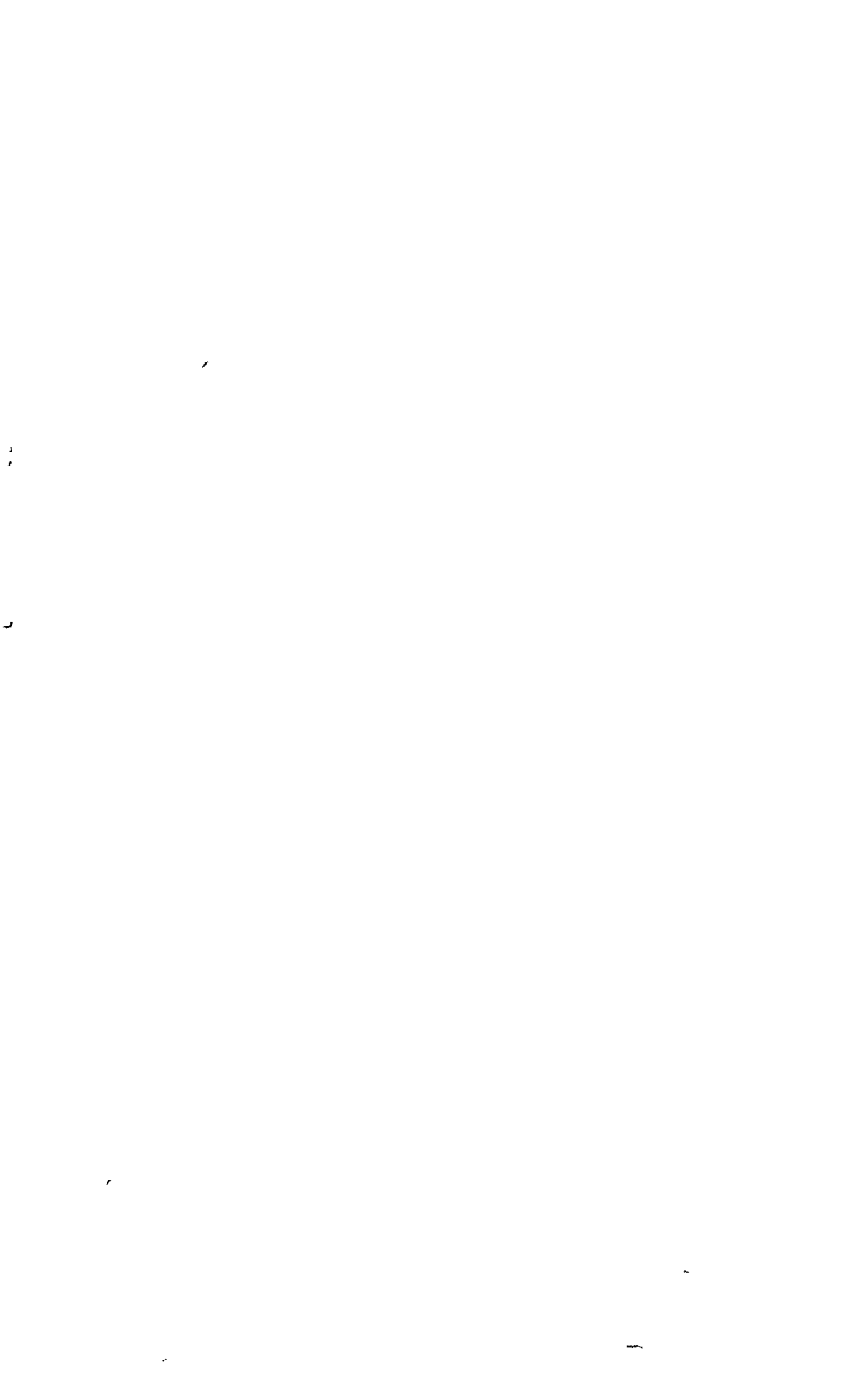
बन्धुओ! वीतराग जिनेश्वर ने, अपने स्वरूप को प्राप्त करके जो आनन्द की अनुभूति की, उससे उन्होंने अनुभव किया कि यदि ससार के अन्यान्य प्राणी भी, कर्मों के पाश से मुक्त होकर, हमारी तरह स्वाधीन स्वरूप मे स्थित हो जायें तो वे भी दु ख के पाश से बच जायेंगे यानी दु ख से उनका कभी पाला नही पडेगा। दु ख, अशान्ति, असमाधि या क्लेश का अनुभव तभी किया जाता है जबकि प्राणी के साथ कर्मों का बन्ध है।

दु ख का मूल कर्म और कर्म का मूल राग-द्वेष है। ससार मे जितने भी दु ख हैं, वेदनायें हैं, वे सब कर्ममूलक ही हैं। कोई भी व्यक्ति अपने कृत कर्मों का फल भोगे बिना नही रह पाता। कर्म जैसा भी होगा फल भी उसी के अनुरूप होगा। प्रश्न होता है कि यदि दु ख का मूल कर्म है तो कर्म का मूल क्या है? दु खमूलक कर्म क्या स्वय सहज रूप मे उत्पन्न होता है या उसका भी कोई कारण है? सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी कार्य कारण के बिना नही होता। फिर उसके लिए कोई कर्त्ता भी चाहिये। कर्त्तापूर्वक ही क्रिया और क्रिया का फल कर्म होता है।

कर्म और उसके कारण

परम ज्ञानी जिनेश्वर देव ने कहा कि कर्म करना जीव का स्वभाव नही है। स्वभाव होता तो हर जीव कर्म का बध करता और सिद्धो के साथ कर्म लगे होते। परन्तु ऐसा नही होता है। अयोगी केवली और सिद्धो को कर्म का बध नही होता। इससे प्रमाणित होता है कि कर्म सहेतुक है, अहेतुक नही। कर्म का लक्षण बताते हुए आचार्य ने कहा—"कीरइ जिएण हेउहिं।" जो जीव के द्वारा किया जाय, उसे कर्म कहते हैं। व्याकरण वाले क्रिया के फल को कर्म कहते हैं। खाकर आने पर उससे प्राप्त फल—भोजन को ही कर्म कहा जाता है। खाने की क्रिया से ही भोजन मिला, इसलिए भोजन कर्म कहाता है। सत्सग म आकर कोई सत्सग के सयोग से कुछ ज्ञान हासिल करे, धर्म की बात सुने तो यहा श्रवण सुनने को भी कर्म कहा—जैसे 'श्रवण कर्म"। पर यहा इस प्रकार के कर्मों से मतलब नही है। यहाँ आत्मा के साथ लगे हुए कर्म से प्रयोजन है। कहा है—'जिएण हेउहिं, जेण तो भण्णई कम्म" यानी ससार की क्रिया का कर्म तो

*आचार्यश्री के प्रवचन से उद्धृत।

स्वतः होता है। परन्तु यह विशिष्ट कर्म स्वतः नही होता। यहां तो जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के सग्रह का नाम कर्म है।

कर्म के भेद और व्यापकता :

कर्म के मुख्यतः दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। कार्मण वर्गणा का आना और कर्म पुद्गलो का आत्म प्रदेशो के साथ सम्बन्धित होना, द्रव्य कर्म है। द्रव्य कर्म के ग्रहण करने की जो राग-द्वेषादि की परिणति है, वह भाव कर्म है।

आपने ज्ञानियो से द्रव्य कर्म की बात सुनी होगी। द्रव्य कर्म कार्य और भाव कर्म कारण है। यदि आत्मा की परिणति, राग द्वेषादिमय नही होगी तो द्रव्य कर्म का सग्रह नही होगा। आप और हम बैठे हुए भी निरन्तर प्रतिक्षण कर्मों का संग्रह कर रहे है। परन्तु इस जगह, इसी समय, हमारे और आपके बदले कोई वीतराग पुरुष बैठें तो वे सापरायिक कर्म एकत्रित नहीं करेंगे। क्योकि उनके कषाय नही होने से, ईर्यापथिक कर्मो का संग्रह है। सिद्धो के लिए भी ऐसी ही स्थिति है।

लोक का कोई भी कोना खाली नही है, जहां कर्मवर्गणा के पुद्गल नहीं घूम रहे हो। और ऐसी कोई जगह नही, जहा शब्द-लहरी नही घूम रही हो। इस हाल के भीतर कोई बच्चा रेडियो (ट्रांजिस्टर) लाकर बजाये अथवा उसे आलमारी के भीतर रखकर ही बजाये तो भी शब्द लहरी वहां पहुँच जायेगी और संगीत लहरी पास मे सर्वत्र फैल जायेगी। इस शब्द लहरी से भी अधिक बारीक, सूक्ष्म कर्म लहरी है। यह आपके और हमारे शरीर के चारों ओर घूम रही है और सिद्धो के चारो तरफ भी घूम रही है। परन्तु सिद्धो के कर्म चिपकते नही और हमारे आपके चिपक जाते हैं। इसका अन्तर यही है कि सिद्धो मे वह कारण नही है, राग-द्वेषादि की परिणति नही है।

कर्म का मूल राग और द्वेष :

ऊपर कहा जा चुका है कि हेतु से प्रेरित होकर जीव के द्वारा जो किया जाय, वह कर्म है। और कर्म ही दु खो का कारण है—मूल है। कर्म का मूल बताते हुए कहा कि—"रागो य दोसो, बीय कम्म बीय।" यानी राग और द्वेष दोनो कर्म के बीज है। जब दु खो का मूल कर्म है तो आपको, दु ख निवारण के लिए क्या मिटाना है? क्या काटनी है? दु ख की बेडी। यह कब हटेगी? जब कर्मो की बेडी हटेगी—दूर होगी। और कर्मो की बेड़ी कब कटेगी? जब राग-द्वेष दूर होगे।

बहुधा एकान्त और शान्त स्थान मे अनचाहे भी सहसा राग-द्वेष आ घेरते है। एक कर्म भोगते हुए, फल भोग के बाद, आत्मा हल्की होनी चाहिये, परन्तु साधारणतया इसके विपरीत होता है। भोगते समय राग-द्वेष उभर आते या चिन्ता-शोक घेर लेते तो नया बध बढता जाता है। इससे कर्म-परम्परा

चालू रहती है। उसका कभी अवसान—अन्त नही हो पाता। अत ज्ञानी कहते हैं कि कर्म भोगने का भी तुमको ढग-तरीका सीखना चाहिये। फल भोग की भी कला होती है और कला के द्वारा ही उसमे निखार आता है। यदि कर्म भोगने की कला सीख जाओगे तो तुम नये कर्मों का बन्ध नहीं कर पाओग। इस प्रकार फल भोग मे तुम्हारी आत्मा हल्की होगी।

कर्म फल भोग आवश्यक

शास्त्रकारो का एक अनुभूत सिद्धान्त है कि—"कडाएा कम्माण न मोक्ख अत्थि।" तथा 'अवश्यमेव भोक्तव्य, कृत कर्म शुभाशुभम्" यानी राजा हो या रक, अमीर हो या गरीब, महात्मा हो अथवा दुरात्मा, शुभाशुभ कर्म फल सब जीव को भोगना ही पडेगा। कभी कोई भूले भटके सन्त प्रकृति का आदमी किसी गृहस्थ के घर ठडाई कहकर दी गई थोडी मात्रा मे भी ठडाई के भरोसे भग पी जाय तो पता चलने पर पछतावा होता है मगर वह भग अपना असर दिखाए बिना नही रहेगी। बारम्बार पश्चात्ताप करने पर भी उस साधु प्रकृति को भी नशा आये बिना नही रहेगा। नशा यह नही समझेगा कि पीने वाला सन्त है और इसने अनजाने मे इसे पी लिया है अत इसे भ्रमित नही करना चाहिये। नही, हर्गिज नही। कारण, बुद्धि को भ्रमित करना उसका स्वभाव है। अत वह नशा अपना रग लाये बिना नही रहेगा। बस, यही हाल कर्मों का है।

भगवान महावीर कहते हैं कि— हे मानव! सामान्य साधु की बात क्या? हमारे जैसे सिद्धगति की ओर बढने वाले जीव भी कर्म फल के भोग से बच नही सकते। मेरी आत्मा भी इस कर्म के वशीभूत होकर, भव भव मे गोते खाती हुई कर्म फल भोगती रही है। मैने भी अनन्तकाल तक, भवप्रपच में प्रमादवश कर्मों का बध किया जो आज तक भोगना पड रहा है। कर्म भोगते हुए थोडा सा प्रमाद कर गये तो दूसरे कर्म आकर बध गए, चिपक गए।"

मतलब यह है कि कर्मों का सम्बन्ध बहुत जबदस्त है। इस बात को अच्छी तरह समझ लिया जाये कि हमारे दैनिक व्यवहार में, नित्य की क्रिया मे कोई भूल तो नही हो रही है? नये कर्म बाधने मे कितना सावधान हूँ? कर्म भोगते समय कोई नये कर्म तो नहीं बध रहे हैं? इस तरह विचारपूर्वक काम करने वाला, कर्मबध से बच सकता है।

कर्मों की धूप छाह

परन्तु ससार का नियम है कि सुख के साथ दुख आता है और साता के साथ असाता का भी चक्र चलता रहता है। यह कभी नही हो सकता कि शुभाशुभ कर्म प्रकृतियो मे मात्र एक ही प्रकृति उदय मे रहे और दूसरी उसके साथ नही आये। ज्ञानियो ने प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्मों का बध और उदय चाल

रहना बतलाया है। दृष्टान्त रूप से देखिये, अभी उस जाली के पास जहा आप धूप देख रहे हैं, घटेभर के वाद वहां छाया आ जावेगी और अभी जहा दरवाजे के पास आपको छाया दिख रही है, कुछ देर के वाद वहा धूप आ जायेगी। इसका मतलव यह है कि धूप और छाया वरावर एक के पीछे एक आते रहते है। धूप-छाह परिवर्तन का द्योतक है। एक आम प्रचलित शब्द है, जिसका मतलव प्रायः प्रत्येक समझ जाता है कि यहा कोई भी वस्तु एक रूप चिरकाल तक नही रह सकती।

जव मकान मे धूप की जगह छाया और छाया की जगह जगह धूप आ गई तो आपके तन, मन मे साता की जगह असाता और असाता की जगह साता आ जाये तो इसमें नई बात क्या है? सयोग की जगह वियोग से आपका पाला पडा तो कौनसी वडी बात हो जावेगी? ज्ञानी कहते है कि इस ससार मे आए तो समभाव से रहना सीखो। सयोग मे जरूरत से अधिक फूलो मत और वियोग के आने पर आकुल-व्याकुल नही वनो, घवराओ नही। यह तो सृष्टि का नियम है—कायदा है। हर वस्तु समय पर अस्तित्व मे आती और सत्ता के अभाव मे अदृश्य हो जाती है। इस बात को ध्यान मे रखकर सोचो कि जहा छाया है वहा कभी धूप भी आयेगी और जहां अभी धूप है, वहा छाया भी समय पर आये बिना नही रहेगी।

अभी दिन है—सर्वत्र उजाला है। छ. बजे के बाद सूर्योदय हुआ। परन्तु उसके पहले क्या था। सर्वत्र अधेरा ही तो था। किसी को कुछ भी दिखाई नही देता था। यह परिवर्तन कैसे हो गया? अन्धकार की जगह प्रकाश कहा से आ गया? तो जीवन मे भी यही क्रम चलता रहता है। जिन्दगी एक धूप-छाँह ही तो है।

हर हालत में खुश और शान्त रहो :

संसार के शुभ-अशुभ के क्रम को, व्यवस्था को, ज्ञानीजन सदा समभाव या उदासीन भाव से देखते रहते है। उन्हे जगत् की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ चचल अथवा आन्दोलित नही कर पाती। वे न तो अनुकूल परिस्थिति के आने पर हर्षोन्मत्त और न प्रतिकूलता मे व्यथित एव विषण्ण वनते है। सूरज की तरह उनका उदय और अस्त का रग एक जैसा और एक भावो वाला होता है। वे परिस्थिति की मार को सहन कर लेते है, पर परिस्थिति के वश रग बदलना नही जानते। जीवन का यही क्रम उनको सवसे ऊपर बनाये रखता है। अपनी मानसिक समता बनाये रखने के कारण ही वे आत्मा को भारी वनाने से वच पाते है। और जिनमे ऐसी क्षमता नही होती और जो इस तरह का व्यवहार नही बना पाते, वे अकारण ही अपनी आत्मा को भारी, वोझिल वना लेते हैं। □

२ कर्म और जीव का सम्बन्ध*

□ प० रत्न श्री हीरा मुनि

ससार एक रगमच है

ससार एक रगमच है। यहाँ नाना प्रकार के पात्र हमे दृष्टिगोचर होते हैं। इनमे कोई अमीर है तो कोई गरीब, कोई राजा है तो कोई रक, कोई सबल है—तो कोई निबल, कोई विद्वान है तो कोई मूख। किसी का सवत्र अभिनन्दन अभिवन्दन है तो किसी को दुत्कार-फटकार। किसी के दशन को आँखें तरसती, टकटकी लगाये पथ निहारती तो किसी को फूटी आख से भी देखना पसद नही, कोई कामदेव रति तुल्य तो कोई कौवा तवा की तरह भद्दा-काला। कोई साँचे मे ढालकर फुरसत मे बनाया हुआ ऐसा रूपवान तो कोई बेढब, बेडोल और ऊँट, गदभवत् भद्दी आकृति वाला। कोई कोमल, सरल तो कोई ककश कठोर, टढा-मेढा अष्टावक्र की तरह। किसी को 'वसमोर, प्लीज' कहकर कोयलवत और तान छेडने को कहा जाता है तो किसी को 'बैठ जाओ', 'तुमको किसने खडा किया', 'क्या कौओ और गधे की तरह गला फाड रहे हो', 'यह फटा बाँस और कही जाकर बजाना', ऐसा कहा जाता है। किसी की लात भी अच्छी तो किसी की भली बात भी खराब।

मात्र मनुष्य की ही बात नही। यह जीव कभी सुख-सागर म निमग्न देव बना तो कभी भयकर भयावने भय और असह्य दुःख का घर नारकी बना। इस तरह गति, जाति आदि की बाहरी भिन्नता ही नही, भीतरी-गुणस्थान, लेश्या, पुण्यानुबधी पुण्य आदि की दृष्टि से असख्य भेद शास्त्रकारो ने किये हैं।

विभिन्नता विचित्रता का कारण कम

आखिर, इस विभिन्नता विचित्रता, विभेद और विसदृशता का कारण क्या है? विविधता विषमता अनेकता के अनेको कारण एव समाधान प्राप्त होते हैं। वैदिक परम्परा इस भिन्नता का कारण ईश्वर को मानती है तो कोई सामाजिक अव्यवस्था बताते है। किन्ही का मन्तव्य है कि यह माता पिता का दोष है तो कोई आदत, कुटेव, अज्ञानता, स्वाथ, वासनामयी वत्ति का कारण मानते हैं।

---

*मुनि श्री के प्रवचन स। प० शोभाचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित।

जैन दर्शन इस विभिन्नता का कारण कर्म मानता है। जैन मान्यतानुसार जो जैसा करता है, वही उसका फल भोगता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्म-फल का अधिकारी नही हो सकता, जैसा कि कहा है—

> "स्वय कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकम् तदा ॥"

उपर्युक्त तथ्य को ही हिन्दी कवि ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

> "अपने उपार्जित कर्मफल को जीव पाते हैं सभी—
> उसके सिवा कोई किसी को कुछ नही देता कभी ।
> ऐसा समझना चाहिये एकाग्र मन होकर सदा,
> दाता अपर है भोग का इस बुद्धि को खोकर सदा ॥"

कर्म के अनेक अर्थ :

कर्म शब्द अनेकार्थक माना गया है। काम-धंधे के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना, पीना, चलना, फिरना आदि क्रिया का भी कर्म शब्द से व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ आदि क्रिया-कांड के अर्थ मे, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारो वर्णो तथा ब्रह्मचर्य आदि चारो आश्रमो के लिये नियत किये गये कर्म रूप अर्थ मे, व्याकरण के निर्माता लोग कर्त्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया, जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है, इस अर्थ में, और नैयायिक लोग उत्क्षेपण-अवक्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मो के संदर्भ मे कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द एक विशेष अर्थ मे व्यवहृत किया जाता है। जैन दर्शन की मान्यता-नुसार कर्म नैयायिको या वैशेषिकों की भाँति क्रिया रूप नही है किन्तु पौद्गलिक द्रव्य रूप है। आत्मा के साथ प्रवाह रूप से सम्बन्ध रखने वाला एक अजीव द्रव्य है।

कर्म और जीव का सम्बन्ध :

भगवान् महावीर ने ससार के अनन्त-अनन्त पदार्थो को मुख्य रूप से दो भागो मे विभाजित किया है—जीव और अजीव या जड और चेतन। जीव के साथ जड़ का सयोग-सम्बन्ध ही संसार मे विविधता, विचित्रता और विभिन्नता उत्पन्न करता है। यदि विभिन्नता का कारण मात्र चेतन आत्मा होती तो सिद्ध अवस्था मे भी विभिन्नता होती किन्तु ऐसा नही है। इसी प्रकार मात्र जड भी विचित्रता-विभिन्नता का कारण नही है जैसे विना जीव का अलोकाकाश। अत: मिट्टी और पानी के सयोग की तरह जड़ और चेतन के सयोग को ही जैन दर्शन

गति, जाति, योनि आदि की विभिन्नता का कारण मानता है। वह उसे ईश्वर, ब्रह्म या शक्तिशाली देवों का कार्य नहीं मानता है। प्रश्न होता है कि जीव का अजीव कर्म से सम्बन्ध कब से है ? जैन दर्शन इस सम्बन्ध को खदान से निकले सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की तरह अनादि मानता है।

सम्बन्ध दो तरह के होते हैं समवाय सम्बन्ध और संयोग सम्बन्ध। गुण गुणी का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है जो अलग नहीं किया जा सकता। जैसे मिश्री और मिठास, अग्नि और उष्णता, नमक और खारापन, जीव और ज्ञान, सूर्य और प्रकाश। लेकिन जीव और जड़ कर्म का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है जैसे—दूध और पानी, सोना और मिट्टी, लोहा और अग्नि, तार और बिजली, शरीर और जीव। जीव और कर्म का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध न होकर संयोग सम्बन्ध है।

कर्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि यदि कर्म जड़ है तब जड़ कर्म मे किस प्रकार फल देने की शक्ति है। प्रत्यक्ष में हम देखते हैं जड़ पदार्थों का अन्य जड़ पदार्थों पर भी संयोग के कारण प्रभाव दिखायी देता है जैसे पारस लोह को स्वर्ण रूप मे परिवर्तित कर देता है। वस्त्र विभिन्न रंगों के परमाणुओं का संयोग पाकर चित्र विचित्र रंगों को प्राप्त होता है, इस तरह जड़ में भी संयोग शक्ति के कारण विभिन्नता आती है तो फिर जड़ चेतन का संयोग पाकर अधिक शक्तिवाला बन जाय, उसमें कोई आश्चर्य नहीं ? स्पष्ट ही हम देखते हैं—भंग शिला पर घोटी जाकर शिला मे नशा नहीं पैदा कर, पीने वाले चेतन मे अपना अत्यधिक प्रभाव दिखाती है।

जैन दर्शनानुसार कर्म द्रव्य रूप व भाव रूप से दो प्रकार का है। जीव से सम्बद्ध कर्म पुद्गल द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूप भाव, भाव कर्म है। राग-द्वेष रूप चिंतन से आत्म प्रदेशों में एक प्रकार की हलचल-कंपन होती है। इस प्रकार परिणाम स्वरूप कर्म पुद्गल आकृष्ट हो चिपक जाते हैं। जैसे केमरा आकृति को, रेडियो ध्वनि को और चुम्बक लोह-कणों को खींचता है, वैसे ही परिणाम द्रव्य कार्मण वर्गणा को आकर्षित करता है, कर्म में स्वयं सुख-दुःख प्रदान करने की शक्ति नहीं है किन्तु यह शक्ति चेतन द्वारा प्रदत्त होती है। चेतन का संयोग पाकर कर्म की शक्ति बलवत्तर हो जाती है। जिसके प्रभाव से देवेंद्र, नरेन्द्र, धर्मेन्द्र तीर्थंकरों को भी कठोर यातना भोगना पड़ी।

आत्मा कर्म के साथ किस प्रकार आबद्ध होती है यह तथ्य निम्न दृष्टांत द्वारा सुगमतया समझा जा सकता है। कल्पना कीजिये जैसे आपने एक गाय के गले में रस्सा डाल कर उसे बाँध लिया। यह गाँठ गाय के नहीं, चमड़े के नहीं

रस्से से रस्से के साथ लगी है और गाय बंधी हुई है। आत्मा और कर्म के साथ भी यही बात है। कर्म की गांठ कर्म के साथ लगी है, आत्मा के साथ नहीं, किन्तु आत्मा बन्धन से फँस गयी है। आत्मा अरूपी और कर्म रूपी है, अरूपी रूपी के साथ कभी सम्बन्ध नहीं करता। विचित्रता यही है कि कर्म के साथ कर्म के बन्धन से आत्मा बन्ध रही है। जैसे गांठ खुल जाने से गाय मुक्त हो जाती है उसी प्रकार कर्म की गांठ खुल जाने पर आत्मा भी स्वतंत्र और कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

मानव के पास बुद्धि रूप ज्ञान और आचरण रूप क्रिया का ऐसा अनुभव रूप बल, शक्ति है कि वह कठिन, गुरुतर, दुष्कर और दुर्भेद्य को भी आसान कर सकता है। जीव अपने प्रयत्न विशेष से, पुरुषार्थ से कर्म को पृथक् कर सकता है, यथा—

> "मलं स्वर्णगतं वह्नि, हंस. क्षीर गत जलम्।
> यथा पृथक्करोत्येव, जन्तोः कर्म मलं तपः॥"

अर्थात्- जैसे स्वर्ण में रहा हुआ मल अग्नि के ताप से, दूध और पानी हंस की चोंच से पृथक्त्व को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कर्ममल तप से नष्ट हो जाता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप द्वारा यह जीव कर्म का पृथक्-करण कर सकता है। हमारा जीवन विघ्न, बाधा और विपत्तियों से भरा पड़ा है। इनके कारण हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। एक ओर बाहरी परिस्थिति प्रतिकूल होती है तो दूसरी ओर घबराहट, चिन्ता और पाप के प्रकटीकरण से अंतरंग स्थिति को हम स्वयं अपने हाथों से बिगाड़ लेते हैं। ऐसी अवस्था में—"विपत्तिकाले विपरीत बुद्धिः" होने पर भूल पर भूल होना स्वाभाविक है। अंततोगत्वा हम आरम्भ किये कार्य को निराश हो छोड़ देते हैं। ऐसे समय में कर्म सिद्धान्त शिक्षक का कार्य करता है, पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाता है। वह आत्मा को धीरज बंधाता है। दुःख में घबराहट और सुख में संयत कर, उच्छृंखल व उद्दण्ड होने से बचाता है। इस तरह जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त पुरुषार्थ पर अवलंबित है।

•□•

३

कर्मवाद
एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

☐ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है, क्रीडा भूमि है। यहाँ की पुण्य भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, सांख्य, वेदान्त, वशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनों ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फूले और फले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत हैं।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन मे विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वों पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है। उन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे तत्त्व का जो विश्लेषण किया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट विश्व मे भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने मे तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने मे ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पंक मे निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के समक्ष इस अनुपम विचार राशि की भले ही अवहेलना करें किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अति प्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुत तत्त्वज्ञान से ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिकवादों की दुनिया मे कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे बिना भारतीय दर्शन विशेषत आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता।

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार "कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता।'

सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्याविशारद कीथ ने सन् १९०९ की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका मे एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख लिखा था। उसमें वे लिखते हैं—"भारतियो के कर्म बन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। ससार की समस्त जातियों से उन्हे यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त जाने विना अग्रसर नही हो सकता।"

जैन दर्शन का मन्तव्य :

कर्मवाद के समर्थक दार्शनिक चिन्तकों ने काल आदि मान्यताओं का सुन्दर समन्वय करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जैसे किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नही अपितु अनेक कारणो पर अवलंवित है वैसे ही कर्म के साथ-साथ काल आदि भी विश्व-वैचित्र्य के कारणों के अन्तर्गत समाविष्ट है। विश्व-वैचित्र्य का मुख्य कारण कर्म है और काल आदि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने मे जन-जन के मन मे आत्मविश्वास व आत्मबल पैदा होता है और साथ ही पुरुषार्थ का पोषण होता है। सुख-दु.ख का प्रधान कारण अन्यत्र न ढूंढकर अपने आप मे ढूंढना बुद्धिमत्ता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि "काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणो मे से किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणो की उपेक्षा की जाय, यह उचित नही है, उचित तो यही है कि कार्य निष्पत्ति मे काल आदि सभी कारणो का समन्वय किया जाय।" इसी बात का समर्थन आचार्य हरिभद्र ने भी किया है।

दैव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध मे अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। आचार्य समन्त भद्र ने लिखा है—बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कही पर दैव प्रधान होता है तो कही पर पुरुषार्थ। दैव और पुरुषार्थ के सही समन्वय से ही अर्थ सिद्धि होती है। जैन दर्शन मे जड़ और चेतन पदार्थों के नियामक के रूप मे ईश्वर या पुरुष की सत्ता नही मानी गई है। उसका मन्तव्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, सहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणों से ही प्राणियो के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतो से ही ज्ञान, सुख, दु.ख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मो की सिद्धि नही कर सकते। जड़ भूतो के अतिरिक्त चेतन तत्त्व की सत्ता को मानना आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य है। कभी भी मूर्त-जड़, अमूर्त-चैतन्य को उत्पन्न नही कर सकता। जिसमे जिस गुण का पूर्ण रूप से अभाव है उस गुण को वह कभी भी उत्पन्न नही कर सकता। यदि इस प्रकार नही माना जाये तो

काय कारण भाव की व्यवस्था ही निरथक हो जायगी। फलस्वरूप हम भूता को भी किसी काय का कारण मानने के लिए बाध्य नही होगे। ऐसी स्थिति मे किसी काय के कारण की अन्वेषणा करना भी निरथक होगा। इसलिए जड और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वो की सत्ता मानते हुए कम मूलक विश्व व्यवस्था मानना तब सगत है। कम अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने आप फल प्रदान करने मे समथ होता है।

कमवाद की ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने पर हमे सवप्रथम वेद कालीन कम सम्बन्धी विचारो पर चितन करना होगा। उपलब्ध साहित्य मे वेद सबसे प्राचीन हैं। वैदिक युग मे महर्षियो को कम सम्बन्धी ज्ञान था या नहीं ? इस पर विज्ञो के दो मत हैं। कितने ही विज्ञो का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदो-सहिता ग्रन्थो मे कमवाद का वणन नही आया है, तो कितने ही विद्वान् यह कहते हैं कि वेदों के रचयिता ऋषिगण कमवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान यह मानते हैं कि वेदो मे कमवाद की चर्चा नही है उनका कहना है कि वदिक काल मे ऋषियो ने प्राणियो में रहे हुए वविध्य और वचित्र्य का अनुभव तो गहराई मे किया पर उन्होने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तरात्मा म न कर बाह्य जगत मे की। किसी ने कमनीय कल्पना के गगन म विहरण करते हुए कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वों को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वदिक युग का सम्पूर्ण तत्त्व चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि मे ही विकसित हुआ। पहले विविध देवो की कल्पना की गई और उसके पश्चात एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन मे सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रुजन पराजित हो अत देवो की प्राथनाएँ की गई और सजीव व निर्जीव पदार्थों की आहूतियाँ प्रदान की गई। यज्ञ कम का शन शन विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा सहिताकाल से लेकर ब्राह्मण काल तक क्रमश विकसित हुई।

आरण्यक व उपनिषद् युग म देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका सहिताकाल व ब्राह्मणकाल मे अभाव था। उपनिषदो स पूर्व के वदिक साहित्य म कम विषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषदकाल म अदृष्ट रूप कम का वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कम को विश्व-वचित्र्य का कारण मानने मे उपनिषदो का भी एकमत नहीं रहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ म काल, स्वभाव,

नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नही।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदो-संहिता ग्रंथो मे कर्मवाद का वर्णन है, उनका कहना है कि वेदो मे "कर्मवाद या कर्मगति" आदि शब्द भले ही न हो किन्तु उनमे कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद संहिता के निम्न मंत्र इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं—**शुभस्पतिः** (शुभकर्मों के रक्षक), **धियस्पतिः** (सत्कार्यों के रक्षक), **विचर्षणिः** तथा **विश्वचर्षणिः** (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा), "**विश्वस्य कर्मणो धर्ता**" (सभी कर्मों के आधार) आदि पद देवों के विशेषणो के रूप मे व्यवहृत हुए है। कितने ही मंत्रो मे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार संसार मे जन्म लेता है और मरता है। वामदेव ने अपने अनेक पूर्वभवो का वर्णन किया है। पूर्वजन्म के दुष्कृत्यो से ही लोग पाप कर्म मे प्रवृत्त होते हैं-- आदि उल्लेख वेदों के मंत्रो मे हैं। पूर्वजन्म के पाप कृत्यो से मुक्त होने के लिए ही मानव देवो की अभ्यर्थना करता है। वेदमंत्रो मे संचित और प्रारब्ध कर्मो का भी वर्णन है। साथ ही देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते है और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं। ऋग्वेद मे पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मो के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरो में प्रविष्ट होता है, इसका वर्णन है। "**मा वो भुजेमान्य-जातमेनो**", "**मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम**" आदि मन्त्रों से यह भी ज्ञात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मो को भी भोग सकता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मन्त्रो मे प्रार्थना की है। मुख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है, पर विशिष्ट शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है।

उपर्युक्त दोनो मतो का गहराई से अनुचिन्तन करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदो मे कर्म सम्बन्धी मान्यताओ का पूर्ण रूप से अभाव तो नही है, पर देववाद और यज्ञवाद के प्रभुत्व से कर्मवाद का विश्लेषण एकदम गौण हो गया है। यह सत्य है कि कर्म क्या है, वे किस प्रकार बंधते हैं और किस प्रकार प्राणी उनसे मुक्त होते हैं आदि जिज्ञासाओ का समाधान वैदिक संहिताओ मे नही है। वहाँ पर मुख्य रूप से, यज्ञकर्म को ही कर्म माना है और कदम-कदम पर देवो से सहायता के लिए याचना की है। जब यज्ञ और देव की अपेक्षा कर्मवाद का महत्त्व अधिक बढने लगा, तब उसके समर्थको ने उक्त दोनो वादो का कर्मवाद के साथ समन्वय करने का प्रयास किया और यज्ञ से ही समस्त फलो की प्राप्ति स्वीकार की। इस मन्तव्य का दार्शनिक रूप मीमासा दर्शन है। यज्ञ विषयक विचारणा के साथ देव विषयक विचारणा का भी विकास हुआ।

ब्राह्मणकाल मे अनेक देवो के स्थान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई, उन्होंने भी कम के साथ प्रजापति का समन्वय कर कहा—प्राणी अपने कम के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल प्राप्ति अपने आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवो को अपने अपने कम के अनुसार फल प्रदान करता है। वह न्यायाधीश की तरह है। इस विचारधारा का दाशनिक रूप न्याय, वशेषिक, सेश्वरसाख्य और वेदान्त दशन मे हुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानो को वैदिक परम्परा मे कम कहा गया है, वे अस्थायी हैं, उसी समय समाप्त हो जाते हैं, अत वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं? इसलिए फल प्रदान करने वाले एक अदृष्ट पदाथ की कल्पना की, उसे मीमासा दशन ने 'अपूव" कहा। वैशेषिक दशन मे "अदृष्ट" एक गुण माना गया है, जिसके धम-अधम रूप ये दो भेद हैं। न्यायदशन मे धम और अधम को सस्कार कहा है। अच्छे बुरे कर्मों का आत्मा पर सस्कार पडता है वह अदृष्ट है। अदृष्ट आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नही मिल जाता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। चू कि यदि ईश्वर कमफल की व्यवस्था न करे तो कम निष्फल हो जाए। साख्य कम को प्रकृति का विकार कहता है। श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पडता है। उस प्रकृतिगत सस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वदिक परम्परा मे कमवाद का विकास हुआ है।

बौद्धदशन मे कम

बौद्ध और जन ये दोनो कम प्रधान श्रमण सस्कृति की धाराए हैं। बौद्ध परम्परा ने भी कम की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि जीवो मे जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह कमकृत है। लोभ (राग), द्वेष और मोह से कम की उत्पत्ति होती है। रागद्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी, मन, वचन और काय की प्रवृत्तिया करता है और राग द्वेष और मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह ससार चक्र निरन्तर चलता रहता है। जिस चक्र का न आदि है न अन्त है, किन्तु वह अनादि है।

एक बार राजा मिलिन्द ने आचाय नागसेन से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है? समाधान करते हुए आचाय ने कहा—यह दिखलाया नही जा सकता कि कम कहाँ रहते हैं।

'विसुद्धिमग्ग' मे कम को अरूपी कहा है। अभिधम्म कोष मे उसे अविज्ञप्ति का रूप कहा है। यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है। सौत्रातिक मत की दृष्टि से कम का समावश अरूप मे हैं व अविज्ञप्ति को नही मानते। बौद्धो ने कम को सूक्ष्म माना है। मन, वचन और काय की जो प्रवत्ति है वह कम

कहलाती है पर वह विज्ञप्ति रूप है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तात्पर्य मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नही, किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य संस्कार है। बौद्ध परिभाषा में इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार कर्म को वासना कहा है और वचन एवं कायजन्य सस्कार कर्म को अविज्ञप्ति कहा है।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से पुकारते हैं। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि—जितने भी कार्य है वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को न्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को माने विना कार्य नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे कहे तो ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सभी सरिताओ का प्रवाह वासना-समुद्र मे मिलकर एक हो जाता है।

शून्यवादी मत के मन्तव्य के अनुसार अनादि अविद्या का अपर नाम ही वासना है।

विलक्षण वर्णन :

जैन साहित्य में कर्मवाद के सम्वन्ध मे पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैन दर्शन मे प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है उसका किसी भी भारतीय परम्परा मे दर्शन नही होता। जैन परम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है।

कर्म का अर्थ :

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि। जीवन व्यवहार मे जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह कर्म कहलाता है। व्याकरण शास्त्र के कर्ता पाणिनी ने 'कर्म' की व्याख्या करते हुए कहा—जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है। वैशेषिक दर्शन मे कर्म की परिभाषा इस प्रकार है—जो एक द्रव्य मे समवाय से रहता हो, जिसमे कोई गुण न हो, और जो सयोग या विभाग मे कारणान्तर की अपेक्षा न करे। साख्य दर्शन मे सस्कार के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। गीता मे कर्मशीलता को कर्म कहा है। न्याय शास्त्र मे उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओ के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त विद्वान् चार वर्णों और चार आश्रमो के कर्तव्यो को कर्म की सज्ञा प्रदान करते है। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओ को कर्म रूप कहते है। बौद्ध दर्शन जीवो की विचित्रता के कारण को कर्म कहता है जो वासना रूप है। जैन परम्परा मे कर्म दो प्रकार का माना गया है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। रागद्वेषात्मक परिणाम अर्थात्

कषाय भावकर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल जडतत्त्व विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा चेतन तत्त्व के साथ मिल जाता है द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया का कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन-विशेष प्राप्त पुद्गल भी कर्म है। कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व कर्म का सयोग है, तभी तक ससार है और इस सयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है।

विभिन्न परम्पराओं मे कर्म

जैन परम्परा मे जिस अर्थ मे 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है उस या उससे मिलते जुलते अर्थ मे भारत के विभिन्न दर्शनो मे माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन मे माया, अविद्या और प्रकृति शब्दो का प्रयोग हुआ है। मीमासा दर्शन मे अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध दर्शन मे वासना और अविज्ञप्ति शब्दो का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। साख्यदर्शन में 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय वैशेषिक दर्शन म अदृष्ट, सस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप स सभी दर्शनो मे हुआ है। भारतीय दर्शनो म एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद म विश्वास नही है, क्योकि वह आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही मानता इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नही मानता है किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप मे कर्म की सत्ता मानते ही हैं।

न्याय दर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषो से प्रेरणा सम्प्राप्त कर जीवो मे मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म सस्कार कहलाते हैं।

वैशेषिक दर्शन म चौबीस गुण माने गये हैं उनम एक अदृष्ट भी है। यह गुण सस्कार से पृथक् है और धर्म अधर्म ये दो उसके भेद हैं। इस तरह न्याय दर्शन में धर्म अधर्म का समावेश सस्कार म किया गया है। उन्ही धर्म अधर्म को वैशेषिक दर्शन मे अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषो से सस्कार होता है, सस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषो से पुन सस्कार उत्पन्न होते ह। इस तरह जीवो की ससार-परम्परा बीजाकुरवत् अनादि है।

साख्य योग दर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और

अभिनिवेश इन पाँच क्लेशो से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत क्लिष्टवृत्ति से धर्माधर्म रूपी सस्कार पैदा होता है। सस्कार को आशय, वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा जाता है। क्लेश और संस्कार को बीजाकुरवत् अनादि माना है।

मीमासा दर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही यज्ञ आदि जितने भी अनुष्ठान किये जाते हैं उन सभी कर्मों का फल देता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहाँ पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नही कहा है।

वेदान्त दर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्व-वैचित्र्य का कारण है। ईश्वर कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फल प्राप्ति कर्म से नही अपितु ईश्वर से होती है।

बौद्ध दर्शन का अभिमत है कि मनोजन्य संस्कार वासना है और वचन और कायजन्य सस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से ही प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और उससे पुनः लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है, इस तरह अनादि काल से यह ससार चक्र चल रहा है।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप :

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ सस्कार या वासना रूप मानते है वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नही होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दु.ख का हेतु नही हो सकता। कर्म आत्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दु:खो का कारण है, गुणो का विघातक है, अतः वह आत्मा का गुण नही हो सकता।

बेडी से मानव बधता है, मदिरापान से पागल होता है और क्लोरोफार्म से बेभान। ये सभी पौद्गलिक वस्तुएँ है। ठीक इसी तरह कर्म के संयोग से आत्मा की भी ये दशाएँ होती है, अत कर्म भी पौद्गलिक है। बेडी आदि का बन्धन बाहरी है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए है, अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध है एतदर्थ ही बेड़ी आदि की अपेक्षा कर्म-परमाणुओ का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आन्तरिक प्रभाव पडता है।

जो पुद्गल-परमाणु कर्म रूप मे परिणत होते हैं उन्हे कर्म वर्गणा कहते है और जो शरीर रूप मे परिणत होते है उन्हे नोकर्म वर्गणा कहते है। लोक

इन दोनो प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कम है, अत वह भी पौदगलिक है। पौदगलिक काय का समवायी कारण पौदगलिक है। मिट्टी आदि भौतिक हैं और उनसे निर्मित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होती है और शस्त्रादि के प्रहार मे दु खानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जसे पौदगलिक है वैसे ही सुख दु ख के प्रदाता कम भी पौदगलिक हैं।

ब ध की दृष्टि से जीव और पुद्गल दानो भिन्न नही हैं किन्तु एकमेव हैं, पर लक्षण की दृष्टि से दोनो पृथक् पृथक हैं। जीव अमूत व चेतना युक्त है जबकि पुद्गल मूत और अचेतन है।

इन्द्रियो के विषय-स्पश, रस, गध, रूप और शब्द ये मूत हैं और उनका उपभोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूत है। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख दु ख भी मूत है, अत उनके कारणभूत कम भी मूत हैं।

मूत ही मूत को स्पश करता है। मूत ही मूत से बधता है। अमूत जीव मूत कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाशरूप हो जाता है।

गीता उपनिषद आदि मे श्रेष्ठ और कनिष्ठ कार्यों के अर्थ मे "कम" शब्द व्यवहृत हुआ है। वैसे जैन दर्शन में कम शब्द क्रिया का वाचक नही रहा है। उसके मन्तव्यानुसार वह आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौदगलिक पदाथ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो से कम वगणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कम का सम्बद्ध हो। जीव के साथ कम तभी सम्बद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कम और कम से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कम और प्रवृत्ति के काय और कारण भाव को लक्ष्य मे रखते हुए पुदगल परमाणुओ के पिण्डरूप कम को द्रव्यकम कहा है और राग द्व षादि रूप प्रवृत्तियो को भावकर्म कहा है। इस तरह कम के मुख्य रूप से दो भेद हुए—द्रव्यकम और भावकम। द्रव्यकम के होने मे भाव-कम और भावकम के होने मे द्रव्यकम कारण है। जसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकम से भावकर्म और भावकम से द्रव्यकम का सिलसिला भी अनादि है।

कम पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड और

चेतन तत्त्वो के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म हो या भावकर्म उसमे जड और चेतन नामक दोनो प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड और चेतन के मिश्रण हुए विना कर्म की रचना नही हो सकती। द्रव्य और भावकर्म मे पुद्गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता मुख्य है, किन्तु एक दूसरे के सद्भाव और असद्भाव का कारण मुख्य नही है। द्रव्यकर्म मे पौद्गलिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व गौण होता है। भावकर्म मे आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होती है और पौद्गलिक तत्त्व गौण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्गल परमाणुओ को शुद्ध पिण्ड माने तो कर्म और पुद्गल मे अन्तर ही क्या रहेगा ? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म मे भेद क्या रहेगा ?

उत्तर मे निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते समय ससारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्वन्ध ससारी आत्मा से है, मुक्त आत्मा से नही है। ससारी आत्मा कर्मों से वधा है, उसमे चैतन्य और जडत्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है और उसमे विशुद्ध चैतन्य ही होता है। वद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक-दूसरे के साथ मिल जाते है, नीरक्षीरवत् एक हो जाते है, वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म भी जड और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि ससारी आत्मा भी जड और चेतन का मिश्रण है और कर्म मे भी वही बात है, तव दोनो मे अन्तर क्या है ? उत्तर है कि ससारी आत्मा का चेतन अश जीव कहलाता है और जड अश कर्म कहलाता है। वे चेतन और जड अश इस प्रकार के नही हैं जिनका ससार-अवस्था मे अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था मे ही होता है। ससारी आत्मा सदैव कर्म युक्त ही होती है। जव वह कर्म से मुक्त हो जाती है तब वह ससारी आत्मा नही, मुक्त आत्मा कहलाती है। कर्म जव आत्मा से पृथक् हो जाता है तब वह कर्म नही शुद्ध पुद्गल कहलाता है। आत्मा से सम्वद्ध पुद्गल द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्गल के तीन रूप होते है—(१) शुद्ध आत्मा—जो मुक्तावस्था मे है, (२) शुद्ध पुद्गल, (३) आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण—जो ससारी आत्मा मे है। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्वन्ध आत्मा और पुद्गल की सम्मिश्रण अवस्था मे है।

• □ •

-४- कर्म का अस्तित्व

☐ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

जैनदर्शन या कई अन्य दर्शन आत्मा को अपने शुद्ध मूल स्वभाव की दृष्टि से समान मानते हैं। मूलत आत्माओं के स्वरूप मे कोई अन्तर नही है। परन्तु विश्व के विशाल मच पर सभी धर्मों और दर्शनो के व्यक्तियो से लेकर साधारण जनता तक सभी का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि सभी आत्माए एक सी नही हैं, एकरूप नही हैं। जिधर दृष्टि दौडाते हैं उधर ही विविधता, विचित्रता और विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इन विभिन्नताओं की दृष्टि से ही धर्मशास्त्रो मे ४ गतिया और ८४ लाख जीव-योनिया मानी गई है। सभी गतिया और योनियो की परिस्थिति भी एक-सी नहीं है। कोई पशु पक्षी रूप मे है तो कोई मनुष्य रूप मे है कोई देवता रूप मे है तो कोई नारकजीव के रूप मे है। इतना ही नही, एक ही तरह के प्राणियो मे भी हजारो लाखो भेद की रेखाए हैं। एक मनुष्य जाति को ही ले लें, उसमे भी कोई क्रूर है, तो कोई दयालु है, कोई सरलता की मूर्ति है तो कोई कुटिलता की प्रतिमूर्ति, कोई सयमी है तो कोई परले दर्जे का असयमी, कोई लोभी लालची है तो कोई स तोषी उदार है, कोई राग-द्वेष से अत्य त लिप्त है तो कोई वीतराग है। मनुष्यो मे भी शरीर मन, बुद्धि, धन आदि को लेकर भी असख्य भिन्नताए हैं। कोई शरीर से दुबला पतला है तो कोई हट्टा कट्टा मोटा ताजा, कोई सुन्दर सुरूप है तो कोई काला कुरूप है, कोई जन्म से ही रोगी है, तो कोई बिलकुल स्वस्थ एव नीरोगी है, किसी का शरीर बिलकुल बेडोल बौना अगहीन है, तो किसी का सुडोल, कदावर एव पूर्णांग है। कोई अल्पायु है तो कोई चिरायु कोई रोब वाला है, तो कोई सर्वथा प्रभावहीन। कोई अहकार का पुतला है तो कोई नम्र एव निरभिमान। कोई मायावी एव कपटी है तो दूसरा बिलकुल सरल, निश्छल एव निष्कपट। कोई दु ख की भट्टी मे बुरी तरह तप रहा है, जबकि कोई सुख चैन की बसी बजा रहा है। कोई निपट मूर्ख, निरक्षर भट्टाचार्य है, तो कोई बुद्धिमान और प्रतिभाशाली है। किसी के पास धन का ढेर लगा हुआ है तो कोई पैसे-पैसे के लिए मुहताज हो रहा है। कोई छोटा है तो कोई बड़ा। कोई बालक है कोई युवक है कोई वृद्ध है।

प्रश्न है कि यह विभिन्नता क्यो ? 'एग आया'[1] (आत्मा समान है) के

---

१ स्थानांग सूत्र सू० १।

सूत्रानुसार आत्मा जब आत्मा है तो उसका रूप एक-सा होना चाहिए। इतनी विरूपता और विचित्रता क्यो ? एक ही तत्त्व मे दो विरोधी रूप नही होने चाहिए। यदि है तो उनमे से कोई एक ही रूप मौलिक एव वास्तविक होना चाहिए। दोनो तो वास्तविक एव मौलिक नही हो सकते। अत: आत्मा के किस रूप को वास्तविक माना जाए ? अन्धकार और प्रकाश दोनो एक नही हो सकते।

इसका समाधान जैनदर्शन ने इस प्रकार किया है—आत्माओ की यह विभिन्नता, विविधता या विरूपता उनकी अपनी नही है, स्वरूपगत नही है। आत्मा तो शुद्ध सोना है। मूलत: उसमे कोई भेद नही है, किसी भी प्रकार की विविधता या विरूपता नही है। जो आत्मा का स्वरूप निगोद के जीव मे है, वही स्वरूप नारकी, तिर्यंचो, देवो और मनुष्यो की आत्मा का है, वही स्वरूप मोक्षगत मुक्त आत्माओ का है, इसमे तिलमात्र भी भेद नही है। अध्यात्म जगत् के विश्लेषणकार जैन कवि द्यानतरायजी कह रहे है :—

जो निगोद मे सो मुझ माही, सोई है शिवथाना ।
'द्यानत' निहचे रचभेद नही, जाने सो मतिवाना ।।
आपा प्रभु जाना, मैं जाना ।

अत: यह निश्चित सिद्धान्त है कि द्रव्य दृष्टि से, अर्थात् अपने मूल स्वरूप से सभी आत्माए शुद्ध है,[1] एक स्वरूप है,[2] अशुद्ध कोई नही है। जो अशुद्धता है, विरूपता है, भेद है, विभिन्नता है, वह सब विभाव से—पर्याय दृष्टि से है। जिस प्रकार जल मे उष्णता बाहर के तेजस् पदार्थो के सयोग से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा मे भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, सुख-दु:ख आदि की विरूपता-विभिन्नता बाहर से आती है, अन्दर से नही। अन्दर मे हर आत्मा मे चैतन्य का प्रकाश जगमगा रहा है।

प्रश्न होता है, आत्माओ मे विभिन्नता, विरूपता या अशुद्धि अहेतुक या आकस्मिक है या सहेतुक-सकारणक ? यदि अशुद्धता को अहेतुक माना जाए तो फिर वह कभी दूर नही हो सकेगी, क्योकि वह फिर सदा के लिए रहेगी। ऐसी स्थिति मे आत्मा मे सुषुप्त परमात्म तत्त्व को जगाने, आत्मा के अनन्त प्रकाश को आवृत्त करने वाले आवरणो से मुक्ति पाने की साधना का कोई अर्थ नही रह जाता। इसलिए जल मे आई हुई उष्णता की तरह आत्मा मे आई हुई अशुद्धता सहेतुक है, अहेतुक नही।

---

१ सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'—द्रव्य सग्रह।
२ एगे आया—स्थानाग सू० १।

इस दश्यमान विश्व मे दो प्रकार के पदाथ दिखाई देत हैं—चेतन (जीव) और अचेतन (जड या अजीव)। दोनो के गुण धम, अस्तित्व और त्रियाए पृथक-पृथक् हैं। तब फिर इनमे विकार, विभिन्नता और अशुद्धता दिखन का क्या कारण है ? कारण है—विजातीय पदाथ का सयाग।

प्रत्येक पदाथ क समान गुण धम, निजी स्वभाव तथा उससे मेल खाने वाली क्रिया से सम्बन्धित पदाथ सजातीय कहलाता है। तथा उस पदाथ के स्वभाव, गुण धम तथा त्रिया से विपरीत स्वभाव, गुणधम या क्रिया वाला पदाथ कहलाता ह—विजातीय। सजातीय पदार्थों के सयोग से विकार पैदा नही होता, विकार पदा होता है—सजातीय के साथ विजातीय पदार्थों के सयोग के कारण। जीव के लिए अजीव विजातीय पदाथ है। जब जीव के साथ अजीव का सयोग होता ह तो जीव (आत्मा) मे विकार उत्पन्न होता ह। निष्कष यह ह—कम नाम का यह अजीव ही एक विजातीय पदाथ ह, जो आत्माओ की शुद्धता को भग करके उनकी स्थिति मे भेद डालता है, विरूपता या विभिन्नता पदा करता ह। जसे सौ टची सोना शुद्ध है, सभी सोना स्वण दष्टि से समान ह, लेकिन उसमे विजातीय तत्त्व 'खोट' मिल जान पर विविधता या विरूपता पदा हो जाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्माओ के साथ कम नामक विजातीय अजीव पुदगल मिल जाने से आत्माओ मे विरूपता या विभिन्नता पैदा हो जाती है। विश्व की आत्माओ (जीवो) म अशुद्धता, विभिन्नता या विषमताओ का भी एक बीज है—विजातीय कारण ह—जिसका स्वभाव आत्मा से अलग ह, वह बीज (कारण) ह—कम। इसीलिए आचाराग सूत्र म कहा गया ह—

'कम्मुणा उवाही जायइ।'[1]

कम बीज के कारण ही जीवो की नाना उपाधिया हैं विविध अवस्थाए हैं।

आत्मा की विभिन्न सासारिक परिणतियो—अवस्थाओ के लिए सभी आत्मवादी दाशनिको न कम को ही कारण माना ह।

भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का इसी प्रकार का उत्तर दिया है —

'कम्मओण भते! जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभाव परिणमई ?
कम्मओण, जओ णो अकम्म ओ विभत्तिभाव परिणमई।'[2]

---

१ आचाराग सूत्र १।३।१।
२ भगवती सूत्र १२।५।

प्रत्येक जीव के सुख दुःख तथा तत्सम्बन्धी नानाविध स्थितिया क्या कर्म की विविधता-विचित्रता पर अवलम्बित है, अकर्म पर तो नही है ? गौतम ! समस्त ससारी जीवो के कर्मबीज भिन्न-भिन्न होने के कारण ही उनकी स्थिति और दशा मे अन्तर है, विभिन्नता है, अकर्म के कारण नही।

आचार्य देवेन्द्र सूरि इसे और अधिक स्पष्टता के साथ कहते हैं :—

'क्ष्माभृद्रकयोर्मनीपिजडयो' सद्रूप-निरूपयोः,
श्रीमद् - दुर्गतयोर्वलावलवतार्नीरोगरोगार्त्तयो. ।
सौभाग्याऽसुभगत्वसगमजुषोस्तुल्येऽति नृत्वेऽन्तरं,
यत्तत्कर्मनिवन्धन तदपि नो जीव विना युक्तिमत् ॥'[1]

राजा-रक, वुद्धिमान-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, सवल-निर्वल, रोगी-निरोगी, भाग्यशाली-अभागा, इन सव मे मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह सव कर्मकृत है और वह कर्म जीव (आत्मा) के विना हो नही सकता। कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे वढकर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

कई लोग, जिनमे मुख्य रूप से नास्तिक, चार्वाक आदि हैं, कहते हैं— कर्म सिद्धान्त को मानने की क्या आवश्यकता है, इसी लोक मे पाच भूतो के सयोग से अच्छा-वुरा जो कुछ मिलता है, मिल जाता है, इससे आगे कुछ नही होता, शरीर जलकर यही खाक हो जाता है, फिर कही आना है, न जाना है। परन्तु चार्वाक के इस कथन का खण्डन इस वात से हो जाता है। एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा वनाये जाने वाले घड़ो मे पचभूत समान होते हुए भी अन्तर क्यो दिखाई देता है ? इसी प्रकार एक ही माता-पिता के दो, एक साथ उत्पन्न हुए वालको मे साधन और पचभूत एक से होने पर भी उनकी वुद्धि, शक्ति आदि मे अन्तर पाया जाता है, इस अन्तर का कारण कर्म को— पूर्वकृत कर्म को माने विना कोई चारा नही। यही वात जिन भद्र गणि क्षमाश्रमण कर रहे है—

जो तुल्लसाहणाण फले विसेसो ण सो विणा हेउ ।
कज्जतणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ॥[2]

एक सरीखे साधन होने पर भी फल (परिणाम) मे जो तारतम्य या अन्तर मानव जगत मे दिखाई दे रहा है, विना कारण के नही हो सकता। जैसे

---

१ कर्मग्रथ, प्रथम टीका।
२ विशेपावश्यक भाष्य।

एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घडो मे विभिन्नता पाई जाती है, वसे ही एक सरीखे साधन होने पर भी मानवो मे जो अतर पाया जाता है, उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए, *गौतम* ! विविधता का वह कारण कम ही है ।

पचाध्यायी मे इसी सिद्धात का समथन किया गया है—

एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कमण ।[1]

कम की सिद्धि मे यही अकाट्य प्रमाण है—इस ससार मे कोई दरिद्र है तो कोई धनी *(यह कम के ही कारण है)* ।

आत्मा को मणि की उपमा देते हुए तत्त्वाथ श्लोक वार्तिक मे इसी तथ्य का उदघाटन किया गया है—

'मलावतमणेर्व्यक्तिर्यथानकविधेक्ष्यते ।
कर्मावितात्मनस्तदवत योग्यता विविधा न किम ।'[2]

जिस प्रकार मल से आवत्त मणि की अभिव्यक्ति विविध रूपो मे होती है, उसी प्रकार कम मल से आवृत्त आत्मा की विविध अवस्थाएँ या योग्यताए दष्टिगोचर हाती है ।

दूसरी बात यह है कि अगर कम को नही माना जाएगा तो जन्म जन्मान्तर एव इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घटित नही हो सकेगा । अगर ससारी आत्मा के साथ कम नाम की किसी चीज का सयोग नही है, और सभी *आत्माए समान हैं, तब तो सबका शरीरादि एक सरीखा होना चाहिए,* सबको मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा भौतिक सम्पदाए एव वातावरण आदि एक सरीखे मिलने चाहिए, परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नही होता, इसलिए कम को उसका कारण मानना अनिवाय है । इसी दृष्टि से 'आचाराग सूत्र' मे आत्मा को मानने वाले के लिए तीन बात और मानना आवश्यक बताया है—

'से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी'[3]

जो आत्मवादी (आत्मा को जानने मानने वाला) होता है वह लोकवादी (इहलोक परलोक आदि मानने वाला) अवश्य होता है । जो लोकवादी होता है उसे शुभ अशुभ कम को अवश्य मानना होता है, इसलिए वह कमवादी अवश्य

---

१ पचाध्यायी २।५० ।

२ तत्त्वाथ श्लोक वा० १६१ ।

३ आचारांग सूत्र १ सूत्र ३ ।

होता है और जो कर्मवादी होता है, उसे क्रियावादी अवश्य ही होना पडता है, क्योकि क्रिया से कर्म होते है।

आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ, गतियो और योनियो को तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी कई घटनाओ को देखते हुए यह नि.सदेह कहा जा सकता है कि कर्मत्व को माने बिना ये सब सिद्ध नही होते।

माता के गर्भ मे आने से लेकर जन्म होने तक बालक को जो दु ख भोगने पडते है, उन्हे बालक के इस जन्म के कर्मफल तो नही कह सकते, क्योकि गर्भावस्था मे तो बालक ने कोई भी अच्छा या बुरा काम नही किया है और न ही उन दु खो को माता-पिता के कर्मो का फल कह सकते है, क्योकि माता-पिता जो भी अच्छे-बुरे कार्य करे, उसका फल बालक को अकारण ही क्यों भोगना पडे ? और बालक जो भी दु ख गर्भावस्था मे भोगता है, उसे अकारण मानना तो न्यायोचित नही है, कारण के बिना कोई भी कार्य हो नही सकता, यह अकाट्य सिद्धान्त है। यदि यो कहा जाए कि गर्भावस्था मे ही माता-पिता के आचार-विचार, आहार-विहार और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओ का प्रभाव बालक पर पडने लगता है। ऐसी स्थिति मे प्रश्न उठता है कि बालक को ऐसे माता-पिता क्यो मिले ? अन्ततोगत्वा, इसका उत्तर यही होगा कि गर्भस्थ शिशु के पूर्वजन्मकृत जैसे कर्म थे, तदनुसार उसे वैसे माता-पिता, सुख-दु ख एव अनुकूल-प्रतिकूल सयोग मिले।

कई बार यह देखने मे आता है कि माता-पिता बिलकुल अनपढ है, और उनका बालक प्रतिभाशाली विद्वान् है। बालक का शरीर तो माता-पिता के रज-वीर्य से बना है, फिर उनमे अविद्यमान ज्ञानततु बालक के मस्तिष्क मे आए कहा से ? कही-कही इससे बिलकुल विपरीत देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत ही बढी-चढी है, लेकिन उनका लडका हजार प्रयत्न करने पर भी विद्वान् एव योग्य न बन सका, मूर्खराज ही रहा। कही-कही माता-पिता की सी ज्ञानशक्ति बालक मे देखी जाती है। एक छात्रावास मे एक ही कक्षा के छात्रो को एक-सी साधन-सुविधा, देखरेख, परिस्थिति और अध्यापक मडली मिलने पर तथा समय भी एक-सरीखा मिलने पर कई छात्रों की बौद्धिक क्षमता, प्रतिभा-शक्ति और स्फुरणा गजब की होती है, जबकि कई छात्र मन्द बुद्धि, पढने मे सुस्त, बौद्धिक क्षमता मे बहुत कमजोर होते है। इसके अतिरिक्त एक-एक साथ जन्मे हुए दो बालको की एक-सी परवरिश एव देखभाल होने पर भी समान नही होते। एक स्थूल बुद्धि एव साधारण-सा रहता है, दूसरा विलक्षण, कुशल और योग्य बन जाता है, एक का रोग से पीछा नही छूटता, दूसरा मस्त पहलवान-सा है। एक दीर्घायु बनता है, जबकि दूसरा असमय मे ही मौत का मेहमान बन जाता है। यह तो इतिहासविद् जानते है कि जितनी शक्ति

महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि मे थी, उतनी उनकी सन्तानो में नही थी। जो बौद्धिक शक्ति हेमचन्द्राचाय मे थी, वह उनके माता पिता मे नही थी। कम सिद्धान्त को माने बिना इन सबका यथाचित्त समाधान नही हो सकता। क्योकि इस जन्म मे दिखाई देने वाली विलक्षणताए न तो वतमान जन्म के कार्यों का फल है और न ही माता पिता की कृति का न सिफ परिस्थिति का है। इसके लिए पूवजन्म के शुभाशुभ कर्मों को मानना पडता ह, इस प्रकार एक पूवजन्म सिद्ध होते ही अनेक पूवजन्मो की शृखला सिद्ध हो जाती ह क्योकि असाधारण ज्ञानशक्ति किसी एक ही जन्म के अभ्यास का फल नही हो सकती। गीता मे भी इसका समथन किया गया ह—

'अनेक जन्म ससिद्धिस्ततो याति परा गतिम्।'

अनेक जन्मो मे जाकर अन्त करण शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त होती है, उसके पश्चात् साधक परा (मोक्ष) गति को प्राप्त कर लेता ह।

बालक जन्म लेते ही माता का स्तनपान करता ह, भूख प्यास लगने पर रोता ह डरता है, अपनी मा को पहचानने लगता ह, ये सब प्रवत्तिया बिना ही सिखाए बालक को स्वत सूझ जाती हैं, इसके पीछे पूवजन्मकृत कम ही कारण हैं।

अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ।

—आचाराग १।३।१

जो कम मे से अकम की स्थिति मे पहुँच गया है, वह तत्त्वदर्शी लोक व्यवहार की सीमा से परे हो गया ह।

सव्वे सयकम्मकप्पिया

—सूत्रकृताग १।२।६।१८

सभी प्राणी अपने कृत कर्मों के कारण नाना योनियों म भ्रमण करते हैं।

जहा कड कम्म, तहासि भारे।

—सूत्रकृताग १।५।१।२६

जसा किया हुआ कम, वैसा ही उसका भोग।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्म।

—उत्तराध्ययन १३।२३

कम सदा कत्ता के पीछे पीछे (साथ) चलते हैं।

कर्म के भेद-प्रभेद

□ श्री रमेश मुनि शास्त्री

कर्म के मुख्य भेद दो है—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को सलक्ष्य मे लेकर पुद्गल परमाणुओ के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य-कर्म कहा है और राग-द्वेष रूप प्रवृत्तियो को भाव कर्म कहा जाता है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चलती आ रही है, ठीक उसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म की परम्परा अर्थात् सिलसिला भी अनादि है। इस सन्दर्भ मे यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा से सम्बन्ध जो कार्मणवर्गणा है, पुद्गल है—वह द्रव्यकर्म है। द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की जो प्रवृत्ति है, रागद्वेपात्मक जो भाव है वह भावकर्म है।

द्रव्यकर्म की मूलभूत प्रवृत्तियाँ आठ हैं[1]—जो सासारिक-आत्मा को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—ज्ञानावरणीय	५—आयु
२—दर्शनावरणीय	६—नाम
३—वेदनीय	७—गोत्र
४—मोहनीय	८—अन्तराय

---

१ (क) नाणस्सावरणिज्ज दसणावरण तथा।
वेयणिज्ज तहा मोह आउकम्म तहेव य॥
नामकम्म च गोय च, अन्तराय तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ, अट्ठेव उ समासओ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३/२–३॥

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ८/३/५९६॥

(ग) भगवती सूत्र शतक–६ उद्देशा ९

(घ) प्रज्ञापना सूत्र २३/१॥

(ङ) प्रथम कर्म ग्रन्थ गाथा–३॥

इन आठ कर्म प्रवृत्तियों के संक्षिप्त रूप से दो अवान्तर भेद हैं—चार घाती कर्म[1] और चार अघाती[2] कर्म।

घातीकर्म	अघातीकर्म
१–ज्ञानावरणीय	१–वेदनीय
२–दर्शनावरणीय	२–आयु
३–मोहनीय	३–नाम
४–अन्तराय	४–गोत्र

जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करते हैं, उन्हे विकसित नही होने देते हैं वे कर्म घाती कर्म हैं। इन घाती कर्मों की अनुभाग शक्ति का असर आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणो पर होता है। जिससे आत्मिक गुणों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुणो का घात करता है। जिसस आत्मा अपना विकास नही कर पाती है। जो अघाती कर्म आत्मा के निज-गुणो का प्रतिघात तो नही करता है किन्तु आत्मा के जो प्रतिजीवी गुण हैं उनका घात करता है अत वह अघाती कर्म है। इन अघाती कर्मों की अनुभाग शक्ति का असर जीव के गुणो पर तो नही होता, किन्तु अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यो से सम्बन्ध जुड जाता है। जिससे आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त इव' प्रतीत होती है। यही कारण है कि अघाती कर्म के कारण आत्मा शरीर के कारागृह मे आवद्ध रहती है जिससे आत्मा के अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिकत्व और अगुरुलघु गुण प्रकट नहीं होते है।

१ ज्ञानावरणीय कर्म

जीव का लक्षण उपयोग है।[3] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन इन दोनो का संग्राहक है।[4] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग है।[5]

---

१ (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड ९॥
(ख) पंचाध्यायी २/९९८॥

२ (क) पंचाध्यायी २/९९९॥
(ख) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड-९॥

३ (क) उवओगलक्खणेण जीवे—भगवती सूत्र १३/४/४/८०॥
(ख) उवओगलक्खणे जीव —भगवती सूत्र २/१०॥
(ग) गुणओ उवओगगुणे —स्थानांग सूत्र ५/३/५३०॥
(घ) जीवो उवओगलक्खणो—उत्तराध्ययन सूत्र २८/१०॥
(ङ) द्रव्यसंग्रह गाथा–१
(च) तत्त्वार्थ सूत्र–२/८॥

४ जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होई॥
नियमसार–१०॥

५ तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य २/९॥

इस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है। आत्मा का जो ज्योतिर्मय स्वभाव है, वह इस कर्म से आवृत्त हो जाता है। प्रस्तुत कर्म की परितुलना कपड़े की पट्टी से की गई है। जिस प्रकार नेत्रो पर कपडे की पट्टी लगाने पर नेत्र-ज्योति या नेत्र ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है उसी प्रकार इस ज्ञानावरण-कर्म के कारण आत्मा की समस्त वस्तुओ को यथार्थ रूप से जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छन्न हो जाती है।[1] ज्ञानावरण कर्म की उत्तर-प्रकृत्तियाँ पाँच प्रकार की है[2]—

१—मतिज्ञानावरण
२—श्रुतज्ञानावरण
३—अवधिज्ञानावरण
४—मनः पर्याय ज्ञानावरण
५—केवल ज्ञानावरण।

इस कर्म की उत्तर प्रकृतियो का वर्गीकरण देशघाती और सर्वघाती इन दो भेदो के रूप में भी हुआ है। जो प्रकृति-स्वघात्य ज्ञानगुण का पूर्णरूपेण घात करती है वह सर्वघाती है और जो ज्ञानगुण का आंशिक रूप से घात करती है वह प्रकृति देश-घाती कहलाती है। देश-घाती प्रकृतियाँ चार है, वे ये है—मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्याय ज्ञानावरण और सर्वघाती प्रकृति केवलज्ञानावरणीय है। सर्वघाती प्रकृति का अभिप्राय यह है कि केवलज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा रूप से आच्छादित नही करता है। परन्तु यह केवल "केवलज्ञान" का ही सर्वथा निरोध करता है। निगोद-अवस्था मे भी जीवो के उत्कट-ज्ञानावरणीय कर्म-उदित रहता है। जिस प्रकार दीप्तिमान्-सूर्य घनघोर घटाओ से आच्छादित होने पर भी उसका प्रखर-प्रकाश आशिक रूप से अनावृत्त रहता है। जिसके कारण ही दिन और रात का भेद भी ज्ञात हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान का जो अनतवा भाग है वह भी

---

१ (क) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायण जमिह।
णाणावरण कम्म पडोवम होइ एव तु ॥
स्थानाग टीका—२/४/१०५ ॥
(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा—९

२ (क) नाणावरण पंचविह, सुयं आभिणिवोहिय।
ओहिनाण च तइय, मणनाण च केवल ॥
उत्तराध्ययन सूत्र—३३/४ ॥
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र—८/६–७ ॥
(ग) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२

सदा-सर्वदा अनावृत्त रहता है।[1] जैसे घनघोर घटाओं को विदीर्ण करता हुआ सूर्य प्रकाशमान हो उठता है, उसकी स्वर्णिम-प्रभा भूमण्डल पर आती है पर सभी भवनों पर उसकी दिव्य किरणें एक समान नहीं गिरती। भवनों की बनावटों के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम गिरती हैं, वैसे ही ज्ञान का दिव्य आलोक मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम हो जाता है। ज्ञान आत्मा का एक मौलिक गुण है। वह पूर्णरूपेण कभी भी तिरोहित नहीं हो सकता। यदि वह दिव्य गुण तिरोहित हो जाय तो जीव अजीव हो जाएगा। इस कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[2]

२ दर्शनावरणीय कर्म

वस्तुओं की विशेषता को ग्रहण किये बिना उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शनोपयोग है।[3] इस कर्म के कारण दर्शनोपयोग आच्छादित होता है। जब दर्शन गुण परिसीमित होता है, तब ज्ञानोपलब्धि का द्वार भी अवरुद्ध हो जाता है। प्रस्तुत कर्म की परितुलना अनुशास्ता के उस द्वारपाल के साथ की गई है जो अनुशासक से किसी व्यक्ति को मिलने में बाधा पहुँचाता है, उसी

---

१ (क) सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स
अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ हवइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवा अजीवत्तं पावेज्जा।
सुट्ठवि मेहसमुदए होइ पभा चन्दसूराणं।
नन्दीसूत्र—४३ ॥

(ख) देशं ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिभावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम् सर्वं ज्ञानं केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं केवलावरणं हि आदित्य कल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य। जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरणं। मत्याद्यावरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुट्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति।
स्थानांग सूत्र—२/४/१०५ टीका

२ (क) तत्त्वार्थ सूत्र—८/१५
(ख) पंचम कर्म ग्रन्थ गाथा—२६
उत्तराध्ययन सूत्र—३३/१९-२० ॥

३ जं सामन्नग्गहणं भावाणं नेव कट्टु आगारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिह वुच्चए समये॥

उद्बुद्ध हो सकता है कि—प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन इन दोनो आगमो में इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है और भगवती सूत्र में दो समय की कही गई है। इन दोनो कथनो मे विरोध लगता है पर ऐसा है नही कारण कि मुहूर्त के अन्तर्गत जितना भी समय आता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने मे कोई बाधा या विसगति नही है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, ऐसा कथन सर्वथा-सगत है।

४ मोहनीय कर्म :

जो कर्म आत्मा मे मूढता उत्पन्न करता है वह मोहनीय कर्म कहलाता है। अष्टविध कर्मो मे यह कर्म सबसे अधिक शक्तिशाली है। सातकर्म प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है। इसके प्रभाव से वीतराग भाव भी प्रगट नही होता है। वह आत्मा के परम-शुद्ध भाव को विकृत कर देता है। इसके कारण ही आत्मा राग-द्वेषात्मक-विकारो से ग्रसित हो जाता है।

इस कर्म की परितुलना मदिरापान से की गई है। जैसे व्यक्ति मदिरापान से परवश हो जाता है उसे किञ्चित् मात्र भी स्व तथा पर के स्वरूप का भान नही होता है।[1] वह स्व-पर के विवेक से विहीन हो जाता है। वैसे ही मोहनीय-कर्म के उदय-काल मे जीव को हिताहित का, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नही हो सकता, वह ससार के ताने-बाने मे उलझा हुआ रहता है।

मोहनीय-कर्म का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है[2]—

१—दर्शन मोहनीय २—चारित्र मोहनीय

जो व्यक्ति मदिरापान करता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती, मूर्च्छित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार दर्शन मोहनीय-कर्म के उदय पर आत्मा का विवेक भी विलुप्त हो जाता है, यही कारण है कि वह अनात्मीय-पदार्थो को आत्मीय समझने लगता है।[3]

---

१ (क) मज्ज व मोहणीय
प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा—१३

(ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड—२१

(ग) जह मज्जपाणमूढो, लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेणविमूढो, जीवो उ परव्वसो होइ॥
स्थानाग सूत्र २/४/१०५ टीका

२ (क) मोहणिज्ज पि दुविह, दसणे चरणे तहा।
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/८॥

(ख) मोहणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते त जहा-दसण मोहणिज्जे चेव चरित्तमोहणिज्जे चेव॥
स्थानाग सूत्र २/४/१०५॥

(ग) प्रज्ञापना सूत्र २३/२॥

३. पचाध्यायी २/९८—६—७॥

दशन मोहनीय के तीन प्रकार हैं—[1] १ सम्यक्त्व मोहनीय, २ मिथ्यात्व मोहनीय, ३ मिश्र मोहनीय। इन तीनो मे मिथ्यात्व मोहनीय सवघाती है, सम्यक्त्व मोहनीय देशघाती है और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सवघाती है। मोहनीय कम का दूसरा प्रकार चारित्रमोह है। इस प्रकृति के प्रभाव से आत्मा का चरित्र गुण विकसित नही होता है।[3]

चारित्र मोहनीय के दो प्रकार प्रतिपादित हैं[4]—१ कषाय मोहनीय, २ नोकषाय मोहनीय। कषायमोहनीय का वर्गीकरण सोलह प्रकार से हुआ है और नोकषाय के नौ या सात प्रकार हैं।[5] कषाय मोहनीय के सोलह प्रकार इस रूप मे वर्णित हैं—

१–अनन्तानुबन्धी क्रोध	९–प्रत्याख्यानावरण क्रोध
२–अनन्तानुबन्धी मान	१०–प्रत्याख्यानावरण मान
३–अनन्तानुबन्धी माया	११–प्रत्याख्यानावरण माया
४–अनन्तानुबन्धी लोभ	१२–प्रत्याख्यानावरण लोभ
५–अप्रत्याख्यानावरण क्रोध	१३–सज्वलन क्रोध
६–अप्रत्याख्यानावरण मान	१४–सज्वलन मान
७–अप्रत्याख्यानावरण माया	१५–सज्वलन माया
८–अप्रत्याख्यानावरण लोभ	१६–सज्वलन लोभ।

---

१ सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पवडीओ मोहणिज्जस्स दसणे॥
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/९॥

२ (क) केवलणाणावरण दसणछक्क च मोहवारसग।
ता सव्वघाइसन्ना, भवति मिच्छत्तवीसइम॥
स्थानांग सूत्र २/४/१०५ टीका

(ख) गोम्मटसार (कमकाण्ड) ३९॥

३ पचाध्यायी–२१/६॥

४ (क) प्रज्ञापना सूत्र–२३/२॥
(ख) चारित्तमोहण कम्म दुविह त वियाहिय।
कसायमोहणिज्ज तु नोकसाय तहेव य॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३१/१०॥

५ (क) सोलसविहभेएण कम्म तु कसायज।
सत्तविह नवविह वा, कम्म च नोकसायज॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/११॥
(ख) प्रज्ञापना सूत्र २३/२॥
(ग) समवायाग सूत्र–समवाय–१६

इस प्रकार कषायमोहनीय के सोलह भेद हुए। इसके उदय से सासारिक प्राणियो मे क्रोधादि कपाय उत्पन्न होते है। कषाय शब्द कप और आय इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। कष का अर्थ है—ससार और आय का अर्थ है—लाभ। तात्पर्य यह है कि जिससे ससार अर्थात् भव-भ्रमण की अभिवृद्धि होती है वह कषाय कहलाता है।[1]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय से आत्मा अनन्तकाल-पर्यन्त ससार मे परिभ्रमणशील रहता है, यह कपाय सम्यक्त्व का प्रतिघात करता है[2] अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से श्रावक धर्म अर्थात् देश-विरति की प्राप्ति नही होती है।[3] प्रत्याख्यानावरण चतुप्क के प्रभाव से श्रमण धर्म[4] की प्राप्ति नही हो सकती।[5] सज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र अर्थात् उत्कृष्ट चारित्र धर्म की प्राप्ति नही हो सकती।[6]

अनन्तानुवन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की है। अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की है, प्रत्याख्यानी कषाय की चार मास की है और सज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[7]

नोकषाय मोहनीय—जिन का उदय कपायो के साथ होता रहता है, अथवा जो कपायो को उत्तेजित करते है, वे नोकषाय कहलाते है।[8] इसका दूसरा

---

१ कम्म कसो भवो वा, कसमातो सि कसाया वो।
कसमाययति व जतो, गमयति कस कसायत्ति॥
विशेषावश्यक भाष्य गाथा–१२२७॥

२ तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य–अ० ८ सूत्र–१०॥

३ अप्रत्याख्यान कषायोदयाद्विरतिर्नभवति।
तत्त्वार्थ भाष्य–८/१०॥

४ तत्त्वार्थ सूत्र–८/१०॥ भाष्य॥

५ तत्त्वार्थ सूत्र ८/१० भाष्य

६ (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड–२८३॥
(ख) सज्वलनकपायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति
तत्त्वार्थ सूत्र ८/१० भाष्य

७ (क) जाजीववरिसचउमासपक्खगानरयतिरयनर अमरा।
सम्माणुसव्वविरई अहखायचरित्तघायकरा॥
—प्रथम कर्मग्रन्थ–गाथा १८
(ख) अतो मुहुत्तपक्ख छम्मास सरवरणत भव।
सजलरणमादियाण वासरणकालो हु वोद्धव्वो॥
गोम्मटसार कर्म काण्ड॥

८ कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकपायकपायता॥

नाम अकाषाय भी है।[1] अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नही, किन्तु ईसत् कषाय, अल्प कषाय है । इसके नव प्रकार हैं—

१—हास्य	५—शोक
२—रति	६—जुगुप्सा
३—अरति	७—स्त्रीवेद
४—भय	८—पुरुषवेद

९—नपुंसकवेद

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की इन पच्चीस प्रकृतियो में से सज्वलन कषाय चतुष्क और नोकषाय य देशघाती हैं, और अवशेष जा बारह प्रकृतियाँ हैं वे सर्वघाती कहलाती हैं।[2] इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।[3]

५ आयुष्य कर्म

आयुष्यकर्म के प्रभाव से प्राणी जीवित रहता है और इस का क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है।[4] यह जीवन अवधि का नियामक तत्त्व है। इसकी परितुलना कारागृह मे की गई है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी के अपराध का सलक्ष्य मे रखकर उसे नियतकाल तक कारागृह मे डाल देता है, जब तक अवधि पूर्ण नहीं होती है तब तक वह कारागृह से विमुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य कर्म के कारण ही सासारिक जीव रस, देह पिण्ड से मुक्त नहीं हो सकता।[5] इस कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं—[6]

१—नरकायु	३—मनुष्यायु
२—तिर्यञ्चायु	४—देवायु ।

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक—८/९—१० ॥

२ स्थानांग सूत्र-टीका—२/४/१०५ ॥

३ (क) उत्तराध्ययन सूत्र—३३/२१
(ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य ।

४ प्रज्ञापना सूत्र २३/१ ॥

५ (क) जीवस्स अवट्ठाण करेदि आऊ हडिव्व णरं ।
गोम्मटसार कर्मकाण्ड—११
(ख) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं
प्रथम कर्म ग्रन्थ—२३ ॥

६ नरइयतिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य ।
देवाउय चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं ॥
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/१२ ॥

आयुष्क कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम वर्ष की है।[1]

६ नाम कर्म .

जिस कर्म के कारण आत्मा गति, जाति, शरीर आदि पर्यायों के अनुभव करने के लिये बाध्य होती है वह नाम कर्म है।[2] इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी कमनीय कल्पना मे मानव, पशु-पक्षी आदि विविध प्रकारो के चित्र चित्रित कर देता है, उसी प्रकार नाम-कर्म भी नारक-तिर्यंच, मनुष्य और देव के शरीर आदि की संरचना करता है। तात्पर्य यह है कि यह कर्म शरीर, इन्द्रिय, आकृति, यश-अपयश आदि का निर्माण करता है।[3]

नामकर्म के प्रमुख प्रकार दो है—शुभ और अशुभ।[4] अशुभ नामकर्म पापरूप है और शुभ नामकर्म पुण्यरूप है।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की सख्या के सम्बन्ध मे अनेक विचार-धाराएँ है। मुख्य रूप से नामकर्म की प्रकृतियो का उल्लेख इस प्रकार से मिलता है—नामकर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती हैं।[5] जैन आगम-साहित्य मे व अन्य ग्रन्थो मे नामकर्म के तिरानवे भेदो का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र—३३/२२।

२ नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम।
प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका

३ जह चित्तयदो निउणो अणेगरुवाइ कुणइ रूवाइ।
सोहणमसोहणाइ चोक्खमचोक्खेहि वण्णेहि॥
तह नामपि हु कम्म अणेगरूवाइ कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइ इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स॥
स्थानाग सूत्र—२/४॥ १०५ टीका

४ नाम कम्म तु दुविह, सुहमसुह च आहिय॥
उत्तराध्ययन ३३/१३॥

५ (क) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२—२९३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र—८/१२॥
(ग) नामकम्मे वायालीसविहे पण्णत्ते।
समवायांग सूत्र—समवाय—४२

६ (क) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२/२९३॥
(ख) गोम्मटसार—कर्मकाण्ड—२२॥

कम विपाक ग्र थ मे एक सौ तीन भेदो का प्रतिपादन मिलता है।[1] अन्यत्र इकहत्तर उत्तर प्रकतियो का उल्लेख मिलता है, जिनमे शुभ नामकम की सतीस प्रकृतियाँ मानी गई हैं।[2]

बयालीस प्रकतिया इस प्रकार हैं—

१ गतिनाम	२२ स्थावरनाम
२ जातिनाम	२३ सूक्ष्मनाम
३ शरीरनाम	२४ बादरनाम
४ शरीर अगोपाङ्गनाम	२५ पर्याप्तनाम
५ शरीर ब धननाम	२६ अपर्याप्तिनाम
६ शरीर सघातननाम	२७ साधारण शरीरनाम
७ सहनननाम	२८ प्रत्येक शरीरनाम
८ सस्थाननाम	२९ स्थिरनाम
९ वणनाम	३० अस्थिरनाम
१० ग धनाम	३१ शुभनाम
११ रसनाम	३२ अशुभनाम
१२ स्पशनाम	३३ सुभगनाम
१३ अगरुलघुनाम	३४ दुभगनाम
१४ उपघातनाम	३५ सुस्वरनाम
१५ परघातनाम	३६ दु स्वरनाम
१६ आनुपूर्वीनाम	३७ आदेय नाम
१७ उच्छ्वासनाम	३८ अनादेय नाम
१८ आतपनाम	३९ यश कीर्तिनाम
१९ उद्योतनाम	४० अयश कीर्तिनाम
२० विहायोगतिनाम	४१ निर्माणनाम
२१ त्रसनाम	४२ तीर्थंकर नाम

नामकम की जघ यस्थिति आठ मुहूत की है और उत्कष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[3]

---

१ कमग्र थ प्रथम भाग गाथा–३

२ सत्तत्तीस नासस्स पयई ओ पुन्नमाह (हु) ता य इमो ॥

नवनत्वप्रकरणम्–७ भाष्य–३७ ॥

३ (क) उदहीसरिसनामाण बीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोताण उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहन्निया ॥

उत्तराध्ययन सूत्र–३३/२३

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र–८/१७–२० ॥

७. गोत्र कर्म :

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल मे जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते है।[1] गोत्र कर्म दो प्रकार का[2] है—१–उच्चगोत्र कर्म, २–नीच गोत्र कर्म।

जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल मे जन्म लेता है वह उच्च गोत्र कहलाता है। जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल मे जन्मता है, वह नीच गोत्र है। धर्म और नीति के सम्बन्ध से जिस कुल ने अतीतकाल से ख्याति अर्जित की है, वह उच्चकुल कहलाता है जैसे हरिवश, इक्ष्वाकुवंश, चन्द्रवश इत्यादि। अधर्म एव अनीति करने से जिस कुल ने अतीतकाल से अपकीर्ति प्राप्त की हो वह नीचकुल है। उदाहरण के लिये—मद्यविक्रेता, वधक इत्यादि।[3]

उच्चगोत्र की उत्तर प्रकृतियाँ आठ है[4]—

१–जाति उच्चगोत्र	५–तप उच्चगोत्र
२–कुल उच्चगोत्र	६–श्रुत उच्चगोत्र
३–वल उच्चगोत्र	७–लाभ उच्चगोत्र
४–रूप उच्चगोत्र	८–ऐश्वर्य उच्चगोत्र

नीच गोत्रकर्म के आठ प्रकार प्रतिपादित हैं।[5]

१–जाति नीचगोत्र	५–तप नीचगोत्र
२–कुल नीचगोत्र	६–श्रुत नीचगोत्र
३–वल नीचगोत्र	७–लाभ नीचगोत्र
४–रूप नीचगोत्र	८–ऐश्वर्य नीचगोत्र

जाति और कुल के सम्बन्ध मे यह वात ज्ञातव्य है कि—मातृपक्ष को जाति और पितृपक्ष को कुल कहा जाता है। गोत्रकर्म कुम्भकार के सदृश है। जैसे कुम्हार छोटे-वडे अनेक प्रकार के घडो का निर्माण करता है, उनमे से कुछ घडे ऐसे होते है जिन्हे लोग कलश बनाकर, चन्दन, अक्षत, आदि से चर्चित

---

१. प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका ॥
२ (क) गोय कम्म तु दुविह, उच्च नीय च आहिय ॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१४ ॥
(ख) प्रज्ञापना सूत्र पद–२३/उ० सू० २९३ ॥
(ग) तत्त्वार्थ सूत्र–अ० ८ सूत्र–१२ ॥
३. तत्त्वार्थ सूत्र ८/१३ ॥ भाष्य ॥
४. उच्च अट्ठविह होइ।
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१४
५ प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२९२

करते हैं, अर्थात वे घडे कलश रूप होते हैं अत वे पूजा योग्य हैं। और कितने ही घड ऐसे होते हैं, जिनमे निन्दनीय पदार्थ रखे जाते हैं और इस कारण वे निम्न माने जाते हैं। इसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होता है।[1] इस कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की बताई गई है।[2]

८ अन्तराय कर्म

जिस कर्म के प्रभाव से एक बार अथवा अनेक बार सामर्थ्य सम्प्राप्त करने और भोगने मे अवरोध उपस्थित होता है, वह अन्तराय कर्म कहलाता है।[3] इस कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ पाँच प्रकार की हैं—[4]

१–दान अन्तराय कर्म   २–लाभ अन्तरायकर्म
३–भोग अन्तराय कर्म   ४–उपभोग अन्तरायकर्म
५–वीर्य अन्तरायकर्म

यह कर्म दो प्रकार का है—१–प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तरायकर्म २–पिहित आगामिपथ अन्तरायकर्म।[5] इसकी न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की बताई गई है।

अन्तराय कर्म राजा के भण्डारी के सदृश है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश दिये जाने पर दान देने मे विघ्न डालता है, आनाकानी करता है, उसी प्रकार प्रस्तुत कर्म भी दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे विघ्न बाधाएँ उपस्थित कर देता है।[7]

इस प्रकार कर्म परमाणु कार्य भेद की विवक्षा के अनुसार आठ विभागो मे बँट जाते हैं। कर्म की प्रधान अवस्थाएँ दो हैं- बन्ध और उदय। इस तथ्य

---

१ जह कुभारो भडाइ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स ।
इय गोय कुणइ जिय, लोए पुज्जयरानत्थ ॥
स्थानाग सूत्र–२/४/१०५ टीका

२ उत्तराध्ययन सूत्र–अ० ३३/२३ ॥

३ पचाध्यायी २/१००७ ॥

४ दाणे, लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पचविहमतराय समासेण वियाहिय ॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१५

५ स्थानाग सूत्र २/४/१०५

६ उत्तराध्ययन सूत्र–अध्ययन–३३ गाथा–१६

७ स्थानाग सूत्र २/४/१०५ टीका

को यो भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि—ग्रहण और फल ! कर्म-संग्रहण मे जीव परतन्त्र नही है और उस कर्म का फल भोगने मे वह स्वतन्त्र नही है, कल्पना कीजिये—एक व्यक्ति वृक्ष पर चढ जाता है, चढ़ने मे वह अवश्य स्वतन्त्र है। वह स्वेच्छा से वृक्ष पर चढता है। प्रमाद के कारण वह वृक्ष से गिर जाय ! गिरने मे वह स्वतन्त्र नही है। इच्छा से वह गिरना नही चाहता है तथापि वह गिर पडता है। निष्कर्ष यह है कि वह गिरने मे परतन्त्र है।

वस्तुत कर्मशास्त्र के गुरु गम्भीर रहस्यो का परिज्ञान होना अतीव आवश्यक है। रहस्यो के परिबोध के बिना आध्यात्मिक-चेतना का विकास-पथ प्रशस्त नही हो सकता। इसलिये कर्मशास्त्र की जितनी भी गहराइयाँ हैं, उनमे उतरकर उनके सूक्ष्म रहस्यो को पकडने का प्रयत्न किया जाय। उद्घाटित करने की दिशा मे अग्रसर होने का उपक्रम करना होगा।

हमारी जो आध्यात्मिक चेतना है, उसका सारा का सारा विकास क्रम मोह के विलय पर आधारित है। मोह का आवेग जितना प्रबल होता जाता है, मूर्च्छा भी प्रवल और सघन हो जाती है, परिणामत· हमारा आचार व विचार पक्ष भी विकृत एव निर्बल होता चला जाता है। उसके जीवन-प्राङ्गण मे विपर्यय ही विपर्यय का चक्र घूमता है। जब मोह के आवेग की तीव्रता मे मन्दता आती है, तब स्पष्ट है कि उसकी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम भी बढता जाता है। उसको भेद-विज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं इस क्षयमाण शरीर से भिन्न हूँ, मैं स्वय शरीर रूप नही हूँ। इस स्वर्णिम समय मे अन्तर्दृष्टि उद्घाटित होती है। वह दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने आप मे विद्यमान परमात्म-तत्त्व से साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध की परिधि को सलक्ष्य मे रखकर जैन कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे शोध-प्रधान आयामो को उद्घाटित करने की दिशा मे विनम्र उपक्रम किया गया है। यह एक ध्रुव-सत्य है कि जैन-साहित्य के अगाध-अपार महासागर मे कर्म-वाद-विषयक बहुआयामी सन्दर्भो की रत्नराशि जगमगा रही है। जिससे जैन-वाङ्मय का विश्व-साहित्य मे शिरसि-शेखरायमाण स्थान है।

६ कर्म-विमर्श

□ श्री भगवती मुनि 'निमल'

कम सिद्धात भारत के आस्तिक दशना का नवनीत है। उसकी आधार-शिला है। कम की नीव पर ही उसका भव्य महल खडा हुआ है। कम के स्वरूप निणय मे विचारा की मतो की विभिन्नता होगा पर अध्यात्म सिद्धि कम मुक्ति के केन्द्र स्थान पर फलित होती है इसमे दो मत नही हो सकते। प्रत्येक दशन ने किसी न किसी रूप मे कम की मीमासा की है। चू कि जगत् की विभक्ति, विचित्रता व साधना की समानता होने पर भी फल के तारतम्य या अतर को सहेतुक माना है।

लौकिक भाषा मे कम कत्तव्य है। कारक की परिभाषा से कर्त्ता का व्याप्य कम है। वेदान्ती अविद्या, बौद्ध वासना, सास्य क्लेश और न्याय वैशेषिक अदृष्ट तथा ईसा, मोहम्मद, और मूसा शतान एव जन कम कहते हैं। कई दशन कम का सामान्य निर्देशन करते हैं तो कई उसके विभिन्न पहलुओ पर मामासा दृष्टिक्षप कर आगे बढ जाते है। न्याय दशनानुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे और बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार जिसके द्वारा पडता है वह अदृष्ट कहलाता है। सद् असद् प्रवत्ति से प्रकम्पित आत्म प्रदश द्वारा पुदगल स्कन्ध को अपनी ओर आकर्षित करने म कुछ पुद्गल स्कन्ध तो विसर्जित हो जाते हैं तो शेष चिपक जाते हैं। चिपकने वाल पुद्गल स्कन्धा का नाम ही कम है। जब तक कम का फल नही मिलता, तब तक कम आत्मा के साथ ही रहता है। उसका फल ईश्वर क माध्यम से मिलता है। यथा—

ईश्वर कारण पुरुष कर्माफलस्य दशनात

—न्यायसूत्र ४/१/

चू कि यदि ईश्वर कम फल की व्यवस्था न करे तो कम फल निष्फल हो जायेंग। सांख्य सूत्र के मतानुसार कम तो प्रकृति का विकार है। यथा—

अन्त करण धमत्व धर्मादीनाम्

—सांख्य सूत्र ५/२८

गुन्दर व अमुन्दर प्रक्रिया या प्रकृति पर सस्कार पडता है। उस प्रकृतिगत सस्कारो स ही कर्मों क फल मिलते हैं। जो दशन ने कम को स्वतन्त्र

तत्त्व माना है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध है जो समग्र लोक मे जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो के द्वारा उसके साथ आबद्ध हो जाते है। यह उनकी बध्यमान अवस्था है। बन्ध के बाद उसका परिपाक होता है। वह सत् अवस्था है। परिपाक के पश्चात् उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल प्राप्त होता है। यह उदयमान अवस्था है। अन्य दर्शनो मे भी कर्मों की क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएं निर्देशित है। वे क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक परिभाषाएँ हैं। कर्म की प्रथम अवस्था बन्ध है। अन्तिम अवस्था वेदना है। इसके मध्य में कर्म की विभिन्न अवस्थाए बनती हैं। उनमें प्रमुख अवस्थाएँ, बध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्त और निकाचन है। कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से एक नवीन अवस्था उत्पन्न होती है। यह बध है। आत्मा की बध्यमान स्थिति है। बधकालीन अवस्था के पन्नवणा सूत्रानुसार तीन भेद है। अन्य स्थानो पर चार भेद भी निर्देशित है। बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध स्पर्श स्पृष्ट और चौथा निधत्त।

कर्म प्रायोग्य पुद्‌गलो की कर्म रूप मे परिणति बद्ध अवस्था है। आत्म प्रदेशो से कर्म पुद्‌गलो का मिलन स्पृष्ट अवस्था है। आत्मा और कर्म पुद्‌गल का दूध व पानी की भाँति सम्बन्ध होता है। दोनो मे गहरा सम्बन्ध स्थापित होना निधत्त है। सुइयो को एकत्रित करना, धागे से बाधना, लोहे के तार से बाँधना और कूट पीट कर एक कर देना अनुक्रमेण बद्ध आदि अवस्थाओ के प्रतीक है।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण ही कर्म है। कर्मों की स्थिति और अनुभाग बन्ध मे वृद्धि उद्वर्तन अवस्था है। स्थिति और अनुभाग बध मे ह्रास होना अपवर्तन अवस्था है। पुद्‌गल स्कन्ध कर्म रूप मे परिणत होने के बाद जब तक आत्मा से दूर होकर कर्म अकर्म नही बन जाते, तब तक की अवस्था सत्ता के नाम से पुकारी जाती है। कर्मों का सवेदनाकाल उदयावस्था है। अनागत कर्म दलिको का स्थिति घात कर उदय प्राप्त कर्म-दलिको के साथ उन्हे भोग लेना उदीरणा है।

किसी के द्वारा उभरते हुए क्रोध को अभिव्यक्त करने के लिये भी आगमो मे उदीरणा शब्द का प्रयोग परिलक्षित है। पर दोनो उदीरणा शब्द समानार्थक नही, अलग-अलग अर्थ वाले है। उक्त उदीरणा मे निश्चित अपवर्तन होता है। अपवर्तन मे स्थितिघात और रसघात होता है। स्थिति और रसघात कदापि शुभ योग के बिना नही होता। कषाय की उदीरणा मे क्रोध स्वय अशुभ है। अशुभ योगो मे कर्मों की स्थिति अधिक वृद्धि को प्राप्त करती है, कम नहीं होती। यदि अशुभ योगो से स्थिति ह्रास होती तो अधर्म से निर्जरा धर्म भी होता, पर ऐसा होना असम्भव है। अतः कषाय की उदीरणा का अर्थ हुआ

प्रदेशो मे जो उदीयमान कपाय थी, उसका बाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कपाय म उदोरणा कहा जाता है।

आयुष्य कम की उदीरणा शुभ अशुभ दोना योगो स होती है। अनशन, सलेखना आदि शुभ योग से आत्मघात अपमृत्यु आदि के अवसरो पर अशुभ योग की उदीरणा है पर इमसे उक्त कथन पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नही होती। क्याकि आयुष्य कम की प्रक्रिया म सात कर्मों की काफी भिन्नता है। प्रयत्न विशेष से सजातीय प्रकृतियो मे परस्पर परिवर्तित होना सक्रमण है। कर्मों का अन्तमुहूर्त पयन्त तक सवथा अनुदय अवस्था का नाम उपशम है। निधत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था मे कम और आत्मा का ऐसा सम्बन्ध जुडता है जिसमे उदवत्तन अपवत्तन के अलावा और कोई प्रयत्न नही होता। निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ है। इसमे भी किसी भी प्रकार का परिवतन कदापि नही होता। सब करण अयोग्य हो जाते है। निकाचित के सम्बन्ध मे एक मान्यता है कि इसको विपाकोदय मे भोगना अनिवाय है। एक धारणा यह है कि निकाचित भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते है। चूकि सद्धान्तिक मान्यता है कि नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दा भाग २०५ सागर के करीब है। नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम है। यदि नरक का निकाचित बन्धन है तो २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय म कहाँ कसे भोगेंगे ? जबकि नरकायु अधिकतम ३३ सागर का ही है। जहा विपाकादय भोगा जा सकता है। इससे सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि निकाचित से भी हम बिना विपाकोदय मे मुक्ति प्राप्त कर सकते ह। प्रदेशोदय क भाग से निर्झरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मों मे सबस बडा अन्तर यह है कि दलिक मे उदवतन, अपवतन आदि अवस्थाए बन सकती हैं पर निकाचित मे ऐसा परिवतन नही होता।

शुभ परिणामो की तीव्रता से दलिक कम प्रवृतियो का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी।

—सव्व पगई मेव परिणाम वासाद वक्कमो होज्जापापम निकाईयाण निकाइमाणापि।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

आत्मा की आन्तरिक योग्यता मे तारतम्य का कारण कम ही है। कम सयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवत्त होती है या विकृत होती है। कम नष्ट होने पर ही उसका शुभ स्वरूप प्रकट होता है। कममुक्त आत्मा पर बाहरी वस्तु का प्रभाव कदापि नहीं पडता। कमबद्ध आत्मा पर ही बाहरी परिस्थिति

का असर पडता है और वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। ज्यों-ज्यो शुद्धता की मात्रा वृद्धिगत होती है त्यो-त्यो ही वाहरी वातावरण का प्रभाव समाप्त सा होता जाता है। यदि शुद्धि की मात्रा कम होती है तो वाहरी प्रभाव उस पर छा जाता है। विजातीय सम्बन्ध—विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म पुद्गलो का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पडता है वह दूरवर्ती का नही पडता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नही कर सकती। उसकी पहुँच कर्म सघठना पर्यन्त ही है। उससे कर्म संघठना प्रभावित होती है। फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म सस्थान को प्रभावित न कर सके उसका आत्मा पर प्रभाव किचित भी नही पडता। वाहरी परिस्थितियाँ सामूहिक होती हैं। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है।

परिस्थिति :

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सहस्थिति का नाम ही परिस्थिति है। एकान्त, काल, क्षेत्र, स्वभाव पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है। यह एकान्त असत्य मिथ्या है। काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ वनता है यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है। वर्तमान की जैन विचार धारा मे काल मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा और नियति मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त दृष्टि है, वैसा कर्म मर्यादा का नही रहा। जो कुछ होता है वह कर्म से ही होता है ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद है जो सत्य से दूर है। आत्म गुण का विकास कर्म से नही कर्म विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टिकोण यह है कि रोग देशकाल की स्थिति से ही पैदा नही होता किन्तु देश काल की स्थिति से कर्म की उदीरणा होती है। उत्तेजित कर्म पुद्गल रोग उत्पन्न करते है। इस प्रकार की जितनी भी वाहरी परिस्थितियाँ हैं वे सर्व कर्म पुद्गलो मे उत्तेजना लाती है। उत्तेजित कर्म पुद्गल आत्मा मे भिन्न-भिन्न परिवर्तन लाते है। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। जव वह सयोग-कृत होता है तब विभाव रूप होता है। दूसरो के सयोग से नही होता। उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की भौतिकता .

अन्य दर्शन जहाँ कर्म को सस्कार या वासना रूप मानते है वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्गलिक भी मानता है। जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नही होता। आत्मा का गुण उसके लिये आवरण, पारतन्त्र्य और दु खो का हेतु कैसे बन सकता है ? कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दु.खो का हेतु है। गुणो का विघातक है। अतः वह आत्मा का गुण नही हो

सकता । अत कम पुदगल है । कम भौतिक है, जड है । चूकि वह एक प्रकार का बन्धन है । जो बन्धन होता है वह भौतिक होता है । बेडी मानव को आबद्ध करती है । कूल (किनारा) नदी को घेरते हैं । बडे बडे बांध पानी को बाध देते हैं । महाद्वीप समुद्र से आबद्ध हैं । ये सब भौतिक हैं अत बन्धन हैं ।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुई भी बन्धन की भाति प्रतीत होती हैं । पर वास्तविकता यह है कि बधन नही, बध जनित अवस्थाए है । पुष्टकारक भोजन से शक्ति सचित होती है । पर दोनो मे समानता नही है । शक्ति भोजन जनित अवस्था है । एक भौतिक है, अन्य अभौतिक है ।

धम, अधम, आकाश, काल और जीव ये पांच द्रव्य अभौतिक हैं । अत किसी के बन्धन नही है । भारतीयेतर दशनो मे कम को अभौतिक माना है ।

कम सिद्धान्त यदि तात्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करन वाले दु खी क्यो देखे जाते हैं ? यह प्रश्न भी समस्या मूलक नही है । क्योकि बन्धन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है । जन दशनानुसार चार भग हैं । यथा—

पुण्यानुबधी पाप, पापानुबधी पुण्य, पुण्यानुबधी पुण्य व पापानुबधी पाप । भोगी मनुष्य पूवकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सजन करते ह । वेदनीय कम को समभाव से सहनकर्त्ता पाप का भोग करत हुए पुण्याजन करते हैं । सब सामग्री से सम्पन्न होते हुय भी धमरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य सचयन करते हैं । हिंसक प्राणी पाप भोगते हुए पाप को जन्म देते हैं ।

उपयुक्त भगो से यह स्पष्ट है कि जो कम मनुष्य आज करता है उसका प्रतिफल तत्काल नही मिलता । बीज वपन करने वाले को कही शीघ्रता से फल प्राप्त नही होता । लम्ब समय के बाद ही फल मिलता है । इस प्रकार कृत कर्मों का कितने समय पयत परिपाक होता है, फिर फल की प्रक्रिया बनती है । पाप करने वाले दु खी और पुण्य करन वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूव कृत पाप पुण्य का फल भोग रहे ह ।

अमूत पर मूत का प्रभाव

कम मूत है जबकि आत्मा अमूत है । अमूत आत्मा पर मूत का उपघात और अनुग्रह कसे हो सकता है जबकि अमूत आकाश पर चन्दन का लेप नही हो सकता । न मुष्टि का प्रहार भी । यह तक समीचीन है पर एकात नही है । चूकि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्वा के आसेवन से अमूत ज्ञान शक्ति म स्फुरणा देखते हैं । मदिरा आदि के सेवन से समूर्च्छना भी । यह मूत का अमूत पर स्पष्ट प्रभाव है । यथाथ म ससारी आत्मा कथचित मूत भी है । मल्लिषण सूरि के शब्दा म—

ससारी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुये है। अग्नि के तपने और घन से पीटने पर सुइयो का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध सश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नही किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अत आत्मा अमूर्त है यह एकान्त नही है। कर्म बध की अपेक्षा से आत्मा कथचित् मूर्त भी है।

कर्म बध के कारण :

कर्म सबध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बध का कारण है। भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! क्या जीव काक्षा मोहनीय कर्म का बन्धन करता है ?

भगवान्—गौतम ! हाँ, बन्धन करता है।

गौतम —वह किन कारणो से बधन करता है ?

भगवान्—गौतम ! उसके दो कारण है। प्रमाद व योग।

गौतम —भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—योग से।

गौतम —योग किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम —वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

गौतम —शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—जीव से।

अर्थात् जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा मोह) का बंधन करता है। 'स्थानाग' सूत्र और 'पन्नवणा' सूत्र मे कर्म बध के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कारण बताये है।

गौतम—भगवन् ! जीव कर्म बध कैसे करता है ?

भगवान् ने प्रत्युत्तर मे कहा कि गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोह का उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मो का बधन करता है।

'स्थानाग सूत्र' ४१८, समवायाग ५ एव उमा स्वाति ने तत्त्वाथ सूत्र मे कम बध के पाँच कारण निर्देशित किये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय एव योग। यथा—

मिथ्यादशनाविरति प्रमाद् कषाय योगा बध हेतव ।

—तत्त्वाथ ८/१

कषाय और याग के समवाय सबध से कर्मो का बध होता है—

"जोग ब धे कषाय ब धे"।

—समवायाग

कम ब ध के चार भेद हैं। कम की चार प्रक्रियाए हैं—१ प्रकृति ब ध, २ स्थिति ब ध, ३ अनुभाग ब ध और ४ प्रदेश ब ध। ग्रहण के समय कम पुदगल एकरूप होते हैं कि तु बध काल मे आत्मा का ज्ञान, दशन आदि भिन्न भिन्न गुणा को अवरुद्ध करने का भिन्न भिन्न स्वभाव हो जाना प्रकृति बध है। उनमे काल का निर्णय स्थिति बध है। आत्म परिणामो की तीव्रता और मदता के अनुरूप कम बध म तीव्र और मदरस का होना अनुभाग बध है। कम पुदगला की सख्या निर्णीति या आत्मा और कम का एकीभाव प्रदेशबध है।

कम बध की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से प्रदर्शित है। मोदक पित्त नाशक है या कफ वधक, यह उसके स्वभाव पर निभर है। उसकी कालावधि कितनी है। उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर अवलम्बित है। मोदक कितन दानो से बना है यह सख्या पर निभर करता है। मोदक की यह प्रक्रिया कम बध की सु दर प्रक्रिया है।

जोगा पयडिपएस ठिई अणुभाग कसाय ओ कुणइ

कषाय के अभाव म साम्परायिक कम का बध नही होता। दसवें गुण स्थान पर्यंत योग और कषाय का उदय रहता है अत वहाँ तक साम्परायिक बध हाता है। कषाय और योग से होने वाला बध साम्परायिक कहलाता है। गमनागमन आदि क्रियाआ स जो कम बध होता है, वह ईर्यापथिक कम कहलाता है। ईर्यापथिकी कम की स्थिति उत्तराध्ययन सूत्रानुसार दो समय की है।

राग मे माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश हो जाता है। राग आर द्वेष द्वारा ही अष्ट विध कर्मों का ब ध होता है। राग-द्वेष ही भाव कम है। राग व द्वेष का मूल मोह है। आचाय हरिभद्र सूरि के शब्दा म—

स्नेहासिक्त शरीरस्य रेणुनाश्लेष्यते यथा गात्रम् ।
राग द्वेषाक्लिन्नस्य कर्म बन्धो भवत्येवम् ।।

—आवश्यक टीका

जिस मानव के शरीर पर तेल का लेपन किया हुआ है, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है। उसी भाँति राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए मानव पर कर्म रज का बंध होता है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान मे विपरीतता आती है। जैन दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन ने भी कर्म बंध का कारण मिथ्या ज्ञान अथवा मोह को स्वीकार किया है।

सम्बन्ध का अनादित्व :

जैन दर्शन मे आत्मा निर्मल तत्त्व हैं। वैदिक दर्शन मे ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के साहचर्य से वह मलिन होता है। पर इन दोनो का संयोग कब हुआ? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर अनादित्व की भाषा से दिया है। चूँकि आदि मानने पर अनेक विसंगतियाँ उपस्थित हो जाती है जैसे कि सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले कौन? आत्मा या कर्म या दोनो का सम्बन्ध है? प्रथम प्रकारेण पवित्र आत्मा कर्म बंध नही करती। द्वितीय भंग मे कर्म कर्त्ता के अभाव मे बनते नही। तृतीय भंग मे युगपत् जन्म लेने वाले कोई भी पदार्थ परस्पर कर्त्ता, कर्म नही बन सकते। अत. कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध का सिद्धांत अकाट्य है।

इस सम्बन्ध मे एक सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध विद्वान् हरिभद्र सूरि का है। वर्तमान समय का अनुभव होता है। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योकि अतीत अनन्त है। और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नही बना। फिर भी वर्तमान का प्रवाह कब से चला, इस प्रश्न के प्रत्युत्तर मे अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टया सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका की भाँति अनादि सान्त है। अग्नि प्रयोग से स्वर्ण-मिट्टी को पृथक्-पृथक् किया जाता है तो शुभ अनुष्ठानो से कर्म के अनादि सम्बन्ध को खण्डित कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाणय सुहाणय।'

कर्म फल का नियता ईश्वर है। यह जैन दर्शन स्वीकार नही करता। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि कर्म परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवगति, स्थिति प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक प्रदर्शन मे समर्थ होकर आत्मा

के सस्कार को मलीन-कलुषित करता है। उससे उनका फलायोग होता है। अमत और विष पथ्य और अपथ्य मे कुछ भी ज्ञान नही होता तथापि आत्मा का सयोग पाकर वे अपनी प्रकृत्यानुसार प्रभाव डालते हैं। जिस प्रकार गणित करने वाली मशीन जड होने पर भी अक गणना मे भूल नही करती वसे ही कम जड होने पर भी फल दने मे भूल नही करते। अत ईश्वर का नियता मानने की आवश्यकता नही। कम के विपरीत वह कुछ भी देने मे समथ नही होगा।

एक तरफ ईश्वर को सव शक्तिमान मानना दूसरी तरफ अश मात्र भी परिवतन का अधिकार नही देना ईश्वर का उपहास है। इससे तो अच्छा है कि कम को ही फल प्रदाता मान लिया जाये।

कम बध और उसके भेद

माकन्दी ने अपनी जिज्ञासा के शमनाथ प्रश्न किया कि भगवन ! भाव बध के भेद कितने हैं ?

भगवान—माकन्दी पुत्र भाव बध दो प्रकार का है—

मूल प्रकृति बध और उत्तर प्रकृति बध।

ब ध आत्मा और कम के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चतुरूप है। यथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। बध का अथ है आत्मा और कम का सयोग। और कम का निर्मापण व्यवस्थाकरण—बन्धनम निर्मापणम्। (स्था० ८/५९६) ग्रहण के समय कम पुदगल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्म प्रदेशा के साथ एकीभूत हो जाते हैं। इसके पश्चात कम परमाणु काय-भेद क अनुसार आठ वर्गों मे वट जाते है—ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

कम दो प्रकार के हैं घाती कम और अघाती कम। ज्ञानावरण, दशनावरण, मोहनीय और अन्तराय य चार घनघाती, आत्म शक्ति के घातक, आवरक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। इनके दूर हो जान पर ही आत्म गुण प्रकट होकर निज स्वरूप म आत्मा आ जाती है। शेष चार अघाती कम हैं। ये मुख्यत आत्म गुणो का घात नही करते है। ये शुभ अशुभ पौद्गलिक दशा के निमित्त हैं। ये अघाती कम बाह्यार्थापेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वा की इनसे प्राप्ति होती है। जीवन का अथ है—आत्मा और शरीर का सहभाव। शुभ अशुभ शरीर निर्माणकारी कम वगणाए नाम कम। शुभ अशुभ जीवन को बनाये रखने वाली कम वगणाए आयुष्य कम। व्यक्ति को सम्माननीय असम्माननीय बनाने वाली कम वगणाए गोत्र कम और सुख दुखानुभूतिकारक कम वगणाए वेदनीय कम कहलाती हैं।

तीसरी अवस्था काल मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म प्रत्येक आत्मा के साथ निश्चित समय पर्यन्त रह सकता है। स्थिति परिपक्व होने पर वह आत्मा से अलग हो जाता है। चौथी अवस्था फल दान शक्ति की है। तदनुसार पुद्गलो मे इसकी मन्दता व तीव्रता का अनुभव होता है।

आत्मा का स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य :

सामान्यतः यह कहा जाता है कि आत्मा कर्तृत्वापेक्षा से स्वतन्त्र है पर भोगने के समय परतन्त्र। उदाहरणार्थ विष को खा लेना अपने हाथ की बात है पर मृत्यु से विमुख होना स्वय के हाथ मे नही है। चूकि विष को भी विष से निर्विष किया जा सकता है। मृत्यु टल सकती है। आत्मा का भी कर्तेपन मे व भोगतेपन मे स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनो फलित होते है।

सहजतया आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है। इच्छानुसार कर्म कर सकती है। कर्म विजेता बन पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह इच्छानुसार कुछ भी नही कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर चलना चाहती हुई भी चल नही सकती। यह है आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के पश्चात् भी आत्मा कर्माधीन हो जाती है, यह भी नही कहा सकता। उसमे भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहता है, उसमे भी अशुभ को शुभ मे परिवर्तित करने की क्षमता निहित है।

कर्म का नाना रूपों मे दिग्दर्शन :

कर्म बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ गृहीत होती है। औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तेजस् वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा और मनोवर्गणा। इनमे कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल होते है वे कर्म बनने के योग्य होते है। उनके तीन लक्षण है—

१. अनन्त प्रदेशी स्कन्धत्व।

२. चतु स्पर्शित्व।

३. सत् असत् परिणाम ग्रहण योग्यत्व।

सख्यात्-असख्यात प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप मे परिणत नही हो सकते। दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप मे परिणत नही हो सकते। आत्मा की शुभ अशुभ प्रवृत्ति (आस्रव) के बिना सहज

प्रवत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुदगल स्क’ध कम रूप मे परिणित नही हो सकते । कम योग्य पुद्गल ही आत्मा की सत् असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कम बनते हैं । कम की प्रथम अवस्था ब’ध है तो अ’तिम अवस्था वेदना है । कम की विसम्ब’धी निजरा है कि’तु वह कम की नही अकम की है । वेदना कम की और निजरा अकम की ।

कम्म वेयणा जा कम्म निज्जरा ।

—भग० ७/३

अत व्यवहार मे कम की अन्तिम दशा निजरा और निश्चय मे वह वेदना मानी गई है । ब’ध और वेदना या निजरा के मध्य में भी अनेक अवस्थाए हैं जो उपयु क्त बद्धादि हैं ।

कम-क्षय की प्रक्रिया

कम क्षय की प्रक्रिया जन दशन मे गहराई लिये हुए है । स्थिति का परिपाक होने पर कम उदय मे आते हैं और झड जाते हैं । कर्मों का विशेषरूपेण क्षय करने के लिये विशेष साधना का माग अवलम्बन करना पडता है । वह साधना स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि माग से होती है । इन मार्गों से सप्तम गुण स्थान पयन्त कम क्षय विशेष रूप से होते हैं । अष्टम गुणस्थान के आगे कम क्षय की प्रक्रिया परिवर्तित हो जाती है । १ अपूव स्थिति घात, २ अपूर्व रसघात, ३ गुण श्रेणी, ४ गुण सक्रमण, ५ अपूव स्थिति ब’ध । सव प्रथम आत्मा अपवतन करण के माध्यम से कर्मों को अन्तमु हूत्त मे स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है । स्थापना का यह क्रम उदयकालीन समय को लेकर अ’तमु हूत्त पय’त एक उदयात्मक समय का परित्याग कर शेष जितना समय है, उनमें कम दलिकों को स्थापित किया जाता है । प्रथम समय मे कम दलिक बहुत कम होते हैं । दूसरे समय मे स्थापित कम दलिक उनसे असख्यात गुण अधिक होते हैं । तृतीय समय म उससे भी असख्यात गुण अधिक होने से इसे गुण श्रेणी कहा जाता है ।

गुण सक्रमण अशुभ कर्मों की शुभ में परिणति होती जाती है । स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की भाँति ही है । अष्टम गुणस्थान स चतुदश गुणस्थान पय’त ज्यों ज्यों आत्मा आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों समय स्वल्प और कमदलिक अधिक मात्रा मे क्षय हो जाते हैं । इस समय आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति कर्मों का ब’धन करती है जसा उसने पहले कभी नही किया है । अत इस अवस्था का नाम अपूव स्थिति ब’ध कहलाता है । स्थितिघात और रसघात भी इस समय म अपूव ही होता है, अत यह अपूव शब्द के साथ सलग्न हो गया ।

होने से बुढापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दु.ख, बेचैनी और परेशानी होती है। इस प्रकार इन दु:खो के सिलसिले का आरम्भ कहां से हुआ इसका पता नही।[1]

योग दर्शन मे लिखा है—

वृत्तय: पञ्चतय्य· क्लिष्टाअक्लिष्टा: ।।१-५।।
क्लेशहेतुका· कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूता: क्लिष्टा· ।व्या० भा०।

प्रतिपत्ताऽर्थमवसाय तत्र सक्तो द्विष्ठो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तय: क्लिष्टा इति । तत्त्व वै० ।

तथा जातीयका-क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। वृत्तभि. सस्कारा. सस्कारेभ्यश्चवृत्तय इत्येव वृत्तिसस्कारचक्र निरन्तरमावर्तते ।भास्वति।

अर्थात् पाच प्रकार की वृत्तिया होती है, जो क्लिष्ट भी होती है और अक्लिष्ट भी होती हैं। जिन वृत्तियो का कारण क्लेश होता है और जो कर्माशय के सचय के लिये आधारभूत होती है उन्हे क्लिष्ट कहते हैं। अर्थात् ज्ञाता अर्थ को जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करने से कर्माशय का सचय करता है। इस प्रकार धर्म ओर अधर्म को उत्पन्न करने वाली वृत्तिया क्लिष्ट कही जाती है। क्लिष्ट जातीय अथवा अक्लिष्टजातीय सस्कार वृत्तियो के ही द्वारा होते है और वृत्तिया सस्कार से होती है। इस प्रकार वृत्ति और सस्कार का चक्र सर्वदा चलता रहता है।

साख्यकारिका' मे लिखा है—

सम्यग्ज्ञान अधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तो ।
तिष्ठति सस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीर: ।।६७।।
सस्कारो नाम धर्माधर्मो निमित्त कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति ।
·· · ···· · ·· ·· सस्कारवशात्-कर्मवशादित्यर्थ: । माठ-वृ० ।

अर्थात् धर्म और अधर्म को संस्कार कहते है। उसी के निमित्त से शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर धर्मादिक पुनर्जन्म करने मे समर्थ नही रहते। फिर भी सस्कार की वजह से पुरुष ससार मे ठहरा रहता है। जैसे, कुलाल के दण्ड का सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी सस्कार के वश से चाक घूमता रहता है। क्योकि बिना फल दिये सस्कार का क्षय नही होता।

अहिसा, सत्य, अस्तेय वगैरह को धर्म और हिंसा, असत्य, स्तेय वगैरह को अधर्म के साधन बतलाकर 'प्रशस्तपाद' मे लिखा है—

---

१. मिलिन्द प्रश्न पृष्ठ ६२।

"अविद्युषा राग द्वेषवत प्रवतकाद् धर्मात् प्रकृष्टात स्वल्पा धम-सहितात ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूपरिष्ट शरीरेन्द्रियविषयसुखादिभियागा भवति। तथा प्रकृष्टाद् धर्माद् स्वरूपधमसहितात प्रततियग्योनिस्थानेपु अरिष्ट शरीरेन्द्रियविषयदु खादिभियागो भवति। एव प्रवत्तिलक्षणाद् धर्माद् अधमसहिताद देवमनुष्यतियड नारकेषु पुन -पुन ससारबन्धो भवति।'

(पृ २८० २८१)

अर्थात् राग और द्वेष से युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधमसहित किन्तु प्रकृष्ट धममूलक कार्यों के करने से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक मे अपने आशय-कर्माशय के अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिक को प्राप्त करता है तथा कुछ धमसहित किन्तु प्रकृष्ट अधममूलक कामा के करन से प्रेतयोनि, तियग्योनि वगरह स्थाना मे, अनिष्ट शरीर, इन्द्रिय विषय और दु खादिक को प्राप्त करता है। इस प्रकार अधम सहित प्रवत्तिमूलक धम स देव, मनुष्य, तियञ्च और नारको मे जन्म लेकर बारम्बार ससारबन्ध को करता है।

याय् मजरीकार ने भी इसी मत को व्यक्त करते हुए लिखा है—"या ह्यम देवमनुष्यतियरभूमिषुशरीरसग, यश्च प्रतिविषय बुद्धिसग, यश्चात्मना मह मनस ससग, स सव प्रवत्तेरेव परिणामविभव। प्रवृत्तेश्च सत्रस्या क्रिया त्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहिता धर्माधमशब्दवाच्य आत्मसस्कार कमफलोपभोगपयन्तस्थितिरस्त्येव न च जगति तथाविध किमपि कायमस्ति वस्तु यन धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्त सम्भवम।" (प ७०)

अर्थात्—दव, मनुष्य और तियग्यानि मे जो शरीर की उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तु को जानन के लिय जो ज्ञान की उत्पत्ति हाती है, और आत्मा का मन के साथ जो सम्बन्ध होता है वह सब प्रवत्ति का ही परिणाम है। सभी प्रवत्तियां क्रियारूप हाने के कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे होने वाला आत्मसस्कार, जिसे धम या अधम शब्द से कहा जाता है, कम फल के भोगने पयन्त स्थित रहता है। ससार मे ऐसा कोई काय नही है जो धम या अधम से व्याप्त न हो।

इस प्रकार विभिन्न दाशनिकों के उक्त मन्तव्यो से यह स्पष्ट है कि कम नाम क्रिया या प्रवत्ति का है और उस प्रवत्ति के मूल में राग और द्वेष रहत हैं तथा यद्यपि प्रवत्ति, क्रिया या कम क्षणिक होता है तथापि उसका सस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। सस्कार से प्रवत्ति और प्रवत्ति से सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आती है। इसी का नाम ससार है। किन्तु जन दशन म मतानुसार कम का स्वरूप किसी अश म उक्त मता से विभिन्न है।

जैन दर्शनानुसार कर्म का स्वरूप :

जैन दर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार होते है। एक द्रव्य कर्म और दूसरा भाव कर्म। यद्यपि अन्य दर्शनो मे भी इस प्रकार का विभाग पाया जाता है और भाव कर्म की तुलना अन्य दर्शनो के संस्कार के साथ तथा द्रव्य कर्म की तुलना योग दर्शन की वृत्ति और न्याय दर्शन की प्रवृत्ति के साथ की जा सकती है तथापि जैन दर्शन के कर्म और अन्य दर्शनो के कर्म मे बहुत अन्तर है। जैन दर्शन मे कर्म केवल एक सस्कार मात्र ही नही है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी-द्वेषी जीव को क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुल-मिल जाता है, जैसे दूध मे पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ हो गया है क्योकि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया की वजह से आकृष्ट होकर वह जीव से बध जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं, और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य सस्कार को स्थायी मानते है वहाँ जैन दर्शन का मन्तव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा मे आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बध जाता है। कालान्तर मे यही द्रव्य आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैन दर्शन छ द्रव्य मानता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अपने चारो ओर जो कुछ हम चर्म चक्षुओ से देखते है सब पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य २३ तरह की वर्गणाओ में विभक्त है। उन वर्गणाओ में से एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त ससार मे व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही जीवो के कर्मो का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

"परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि।" (प्रवचनसार ९५)

अर्थात् जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामो मे लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीय आदि रूप से उसमे प्रवेश करती है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्म द्रव्य मूर्तिक। ऐसी दशा मे उन दोनो का बन्ध ही सम्भव नही है। क्योकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध ही हो सकता है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कदापि सभव नही है, ऐसी आशका की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

साथ कर्मों का बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नही है। क्योंकि इस मान्यता मे अनेक विप्रतिपत्तिया उत्पन्न होती हैं। 'पचास्तिकाय' मे जीव और कम के इस अनादि सम्बन्ध को जीव पुद्गल कम चक्र के नाम से अभिहित करते हुए लिखा है—

> 'जो खलु ससारत्थो जीवा तत्ता दु होहि परिणामा।
> परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।
> गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायते।
> तेहिं दु विसयगहण तत्तो रागो व दोसा वा ।। (२९)
> जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि।
> इदि जिणवरेहिं भणिदा अणादिणिधणो सणिधणो वा ।। (३०)

अथ —जो जीवन ससार मे स्थित है अर्थात जन्म और मरण के चक्र मे पडा हुआ है उसके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामा से नये कम बधते हैं। कर्मों से गतिया मे जन्म लेना पडता है। जन्म लेने से शरीर होता है। शरीर म इन्द्रिया होता हैं। इन्द्रियों से विषयो को ग्रहण करता है। विषयो के ज्ञान से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार ससार रूपी चक्र म पडे हुए जीव के भावा से कम और कम से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मों से बधा है तब उसके नये कम बधते हैं वे कम जीव म स्थित मूर्तिक कर्मों के साथ ही बधते हैं, क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ सयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक के साथ बध होता है। अत आत्मा मे स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही नये कम बध को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार परम्परा से कदाचित मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कम द्रव्य का सम्बन्ध जानना चाहिये।

साराश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तज्जन्य सस्कार को कम कहते ह, किन्तु जन दर्शन जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और निमित्त से होने वाले राग द्वेष रूप भावो को कम कहता है।

---

[१]

किण विध होवे छूट करम को

[राग विहाग—भेष धर योंही जनम गमायो]

किण विध होवे छूट करम को, किण विध होवे छूट ।।टे०।।

दुष्ट रुष्ट मन मुष्ट चलाकर, कियो वृक्ष ने ठूट ।।
इण भव कुष्ट, पुष्ट तन परभव, वायस रहा अंग चूट ।।१।।

वेश्या सम छल-वल-कल करने, वनगयो स्याणो सूट ।
आयो हाट मे दई टाट मे, लियो वाण्या ने लूट ।।२।।

गुणवता का गुण नहि कीना, अवगुण काढ्या झूठ ।
इधर उधर की वात बणाकर, पापी पाडी फूट ।।३।।

षट्-रस भोजन महल त्रिया सुख, राज करू चहुं खूंट ।
पाप माहे अग्रेसर वनियो, आयुवल गयो खूट ।।४।।

सतसगत को नाम न लीनो, वित्त दाव वदे मुख तूट ।
"सुजाण" कहे सतशील धरम विन, ज्यू टोला को ऊँट ।।५।।

—मुनि श्री सुजानमलजी म० सा०

[२]

प्रभु तुम सौं नाहीं परदा हो

[राग—झंझोटी]

इन करमौ तै मेरा डरदा हो ।।इन०।।

इनही के परसग तै साई,
भव-भव मे दुख भरदा हो ।।इन।।१।।

निमष न सग तजत ये मेरा,
मै वहुतेरा ही तड़फदा हो ।।इन।।२।।

ये मिलि वहौत दीन लखि मौको,
आठो ही जाम रहै लरदा हो ।।इन।।३।।

दुःख और दरद की मैंसय हीअरपदा,
प्रभु तुम सौ नाही परदा हो ।।इन।।४।।

'वखतराम' कहै अव तौ इनका,
फेरि न कीजिए आरजूदा हो ।।इन।।५।।

—वखतराम

८ कर्म और उसका व्यापार

□ डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया

समूह और समुदाय मे कम के अनेक अथ अभिप्राय प्रचलित हैं। कम कारक, क्रिया तथा जीव के साथ बधने वाले विशेष जाति के पुद्गल-स्कन्ध आदि कम के रूप कहे जा सकते हैं। कमकारक लोक प्रसिद्ध भाषा परिवार मे पयुक्त रूप प्रसिद्ध है। क्रियाए समवदान तथा अध कम आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। जीव के साथ बधन वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध रूप कम का जन सिद्धान्त ही विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

कम का मौलिक अथ तो क्रिया ही है। जीव, मन, वचन तथा काय के द्वारा कुछ न कुछ करता है, वह उसकी क्रिया या कम है और मन, वचन तथा काय ये तीन उसके द्वार हैं। सासारिक आत्मा के इन तीन द्वारो की क्रियाओ स प्रतिक्षण सभी आत्म प्रदेशो मे कम होत रहते हैं। अनादि काल से जीव का कम के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। इन दोना का पारस्परिक अस्तित्व स्वत सिद्ध है।

मूलत कम को दो भागो मे बाँटा गया है—द्रव्य कम और भाव कम। पुदगल के कमकुल को द्रव्यकम कहते हैं और द्रव्यकम के निमित्त से जो आत्मा के राग द्वेष, अज्ञान आदि भाव होते हैं, वे वस्तुत भावकम कहलाते हैं। द्रव्य और भाव भेद से जा आत्मा को परतन्त्र करता है, दु ख देता है, तथा ससार-चक्र मे चक्रमण कराता है वह समवेत रूप मे कम कहलाता है।

अनन्त काल से कम अनन्त हैं। कर्मों का एक कुल होता है। घातिया और अघातिया भेद से उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये शब्द भी अपना पारिभाषिक अथ रखते हैं। जीव के गुणो का पूणत घात करने वाले कम घातिया कम कहलाते हैं और जिनके द्वारा जीव गुणो का पूणत घात नही हो पाता, उन्हें अघातिया कम कहा जाता है। घातिया कम—ज्ञानावरण, दशनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय और अघातिया कम—आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय मिलकर आठ प्रकार की कम जातियाँ बनाते ह। अब यहाँ प्रत्येक कम की प्रकृति के विषय मे सक्षेप मे चर्चा करना आवश्यक है।

आत्मा अनन्त ज्ञान रूप है। उसके ज्ञान गुण को प्रच्छन्न करनेवाला कम ज्ञानावरण कम कहलाता है। इसी प्रकार उसके दशन गुण को प्रच्छन्न

करने वाला कर्म दर्शनावरण कर्म कहलाता है। मोहनीय कर्म के जाग्रत होने से जीव अपने स्वरूप को विस्मृत कर अन्य को अपना समझने लगता है। अन्तराय का शाब्दिक अर्थ है विघ्न। जिस कर्म के द्वारा दान, लाभ, व्यापार में विघ्न उत्पन्न होता है, उसे अन्तराय कर्म कहा जाता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव विषयक विविध योनियां-आकार मे जीव को घेरनेवाला, रोकनेवाला कर्म वस्तुतः आयु कर्म कहलाता है। नाम कर्म के द्वारा शरीर और उसके विविध मुखी अवयवो की संरचना सम्पन्न होती है। जीव ऊँच तथा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

आत्मिक गुणो मे कर्म का कोई स्थान नही है। अज्ञानता से कर्म आत्म-गुणो को प्रच्छन्न करता है। आत्म-गुणो को आकर्षित और प्रभावित करने के लिए कर्म-कुल जिस मार्ग को अपनाता है, उसे आस्रव द्वार कहा जाता है। आस्रव भी एक दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द है। इसके अर्थ होते हैं कर्मों के आने का द्वार। कर्म-सचार वस्तुतः आस्रव कहलाता है। पाप और पुण्य की दृष्टि से आस्रव को भी दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। यथा—

१–पुण्यास्रव
२–पापास्रव।

जिनेन्द्र भक्ति, जीवदया आदि शुभ रूप कर्म-क्रिया पुण्यास्रव कहलाती है जबकि जीव हिसा, झूठ बोलना आदि कर्म-क्रिया पापास्रव होती है। इससे इसे शुभ और अशुभ भी कहा जाता है। अब यहां इन आठ कर्मों के आस्रव रूप को सक्षेप मे प्रस्तुत करेंगे।

आस्रव मार्ग वस्तुतः बहुमुखी होता है। ज्ञान-केन्द्र तक पहुँचने के लिए आस्रव द्वार दशों-दिशाओ से सचार हेतु सर्वदा खुला रहता है। आस्रव मार्ग को बडी ही सावधानीपूर्वक जानना और पहिचानना आवश्यक है। ज्ञान और ज्ञानी से ईर्ष्या करना, ज्ञान-साधनो में विघ्न उत्पन्न करना, अपने ज्ञान को प्रच्छन्न करना तथा दूसरो को उससे अवगत न होने देना, गुरु का नाम छिपाना, ज्ञान का गर्व करना इत्यादिक कर्म-क्रियाएँ ज्ञानावरण कर्म का आस्रव कहलाती है।

जिनेन्द्र अथवा अर्हत् भगवान के दर्शनो मे विघ्न डालना, किसी की आँख फोडना, दिन मे सोना, मुनिजनो को देखकर मन में ग्लानि करना तथा अपनी दृष्टि का अभिमान करना इत्यादिक कर्म-क्रियाओ से दर्शनावरण कर्म का आस्रव प्रशस्त होता है।

अपने को तथा दूसरों को दुःख उत्पन्न करना, शोक करना, रोना, विलाप करना, जीव बध करना इत्यादिक कार्यों से वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

इसके साथ ही जीव दया करना, दान करना, सयम पालना, वात्सल्य भाव करना, मुनिजनो की वैय्यावृत्ति (सेवा सुश्रुषा) करना आदि से साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

मोहनीय कर्म का दो तरह से आस्रव होता है—दर्शन और चारित्र। दर्शन मोहनीय कर्म आस्रव हेतु सच्चे देव, शास्त्र गुरु तज्जन्य धर्म मे दोष लगाना होता है और कषायो—क्रोध मान, माया तथा लोभ की तीव्रता रखना, चारित्र मे दोष लगाना तथा मलिन भाव करना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

आयु कर्म का सीधा सम्बन्ध चतुर्गतियो मे आगत जीव से होता है। बहुत आरम्भ एव परिग्रह करने से नरकायु का आस्रव होता है। मायाचारी (मन से कुछ वाणी से कुछ और करनी से कुछ और) से तिर्यचगति का आयु आस्रव होता है। थोडा आरम्भ तथा परिग्रह से मनुष्यायु का आस्रव और सम्यक्त्व व्रत पालन, देश सयम, बालतप आदि से देव आयु का आस्रव होता है।

नाम कर्म शुभ और अशुभ दृष्टि से दो प्रकार से आस्रव होता है। मन, वचन, काय का सरल रखना, धर्मात्मा से विसवाद नही करना, षोडश कारण भावना आदि से शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है और कुटिल भाव, झगडा-कलह आदि से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

नीच और ऊँच भेद से गोत्र कर्म का आस्रव दो प्रकार का होता है। परनिन्दा, स्वप्रशसा करना, पर-गुणो को छिपाना और मिथ्या गुणो का बखान करना आदि से नीच गोत्र का आस्रव होता है, जबकि पर प्रशसा, अपनी निन्दा, पर-दोषो को ढकना और अपने दोषो को प्रकट करना, गुरुओ के प्रति नम्र वृत्ति रखना, विनय करना आदि से उच्च गोत्र कर्म का आस्रव होता है।

दान-दातार को रोकना, आश्रितो को धर्म साधन न करने देना, देव दर्शन, मदिर के द्रव्य को हडपना, दूसरो की भोगादि वस्तु या शक्ति मे विघ्न डालना आदि मे वस्तुत अन्तराय कर्म का आस्रव होता है।

इस प्रकार कर्म और उसके व्यापार परक स्थिति का सक्षेप मे यहाँ विश्लेषण किया गया है। इन सभी कारणो से आए हुए कर्म पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ एक रूप हो जाते हैं, उसी का नाम बध है। तीव्र मद आदि भावो से होने वाला आस्रव योग और कषाय आदि के निमित्त से १०८ भेद रूप भी माना जाता है। मन, वचन तथा काय समारम्भ अर्थात हिंसादि करने का प्रयत्न अथवा सकल्प। सारभ अर्थात हिंसादि करने के साधन जुटाना, आरम्भ अर्थात हिंसादि पाप शुरू करने देना, कृत अर्थात स्वय करना, कारित अर्थात्

दूसरो से कराना, अनुमोदना अर्थात् करते हुए दूसरो को अनुमति देना तथा कषाय अर्थात् क्रोध, मान माया तथा लोभ तथा तीव्र-मद आदि भावो से यह एक सौ आठ भेद रूप भी माना जाता है। अर्थात् मनवचनकाया-३ × समारम्भादि-३ × कृतकारित-३ × क्रोधादिकषाय-४ = १०८ ।

इन कारणो से आए हुए कर्म पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ एकमेव हो जाने से बध तत्त्व का रूप ग्रहण हो जाता है। कर्म और उसके व्यापार विषयक सक्षेप मे चर्चा करने से ज्ञात होता है कि कर्म एक महान शक्ति है। विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्म के पर्याय है। कर्म:बध ससार का भ्रमण का कारण है। कर्म क्षय कर अर्थात् कर्म-मुक्ति होना वस्तुतः मोक्ष को प्राप्त करना है।

कर्म के दोहे

ढाई अक्षर नाम के, अतर तू पहचान ।
एक देत है नर्क गति, दूजा शिव सुखधाम ।।

को सुख को दु:ख देत है, देत कर्म झकझोर ।
उलझे-सुलझे आपही, ध्वजा पवन के जोर ।।

कर्म कमण्डलु कर लिये, तुलसी जहँ तहँ जात ।
सागर सरिता कूप जल, अधिक न बूँद लगात ।।

राम किसी को मारे नही, मारे सो नही राम ।
आपो आप मर जायेगा, कर-कर खोटा काम ।।

आड़ी न आवे मायड़ी, आड़ो न आवे बाप ।
क्रिया कर्म जो भोगवे, भुगते आपो आप ।।

प्लेटफार्म पर है खडे, सरखे लोग हजार ।
किन्तु मिलेगी क्लास तो, टिकटो के अनुसार ।।

९ कर्म-विचार

☐ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

मिथ्यात्व आदि हेतुओ से निष्पन्न क्रिया कम है।[1] कम आत्मा को मलिन करते हैं। उनकी गति गहन है।[2] वह दुख परम्परा का मूल है।[3] कम मोह से उत्पन्न होता है और वह जम मरण का मूल कारण भी है।[4] ससारी जीव के रागद्वेष रूप परिणाम होते है। परिणामो से कमवध के कारण जीव ससार चक्र मे परिभ्रमण करता है।[5] वस्तुत कमवध मे आत्मपरिणाम (भाव) ही कारण है पर वस्तु बिलकुल नही।[6] कम वध वस्तु से नही, राग और द्वेष के अध्यवसाय (सकल्प) से होता है।[7] जा अन्दर मे रागद्वेष रूप भाव कम नही करता, उसे नए कम का वध नही होता।[8] जिस समय जीव जसे भाव करता है वह उस समय वसे ही शुभ अशुभ कर्मों का बध करता है।[9]

कम कर्ता का अनुगमन करता है।[10] जीव कर्मों का वध करन मे स्वतन्त्र है परन्तु उस कम का उदय होने पर भोगने मे उसके अधीन हो जाता है। जसे काई पुरुप स्वच्छा से वक्ष पर तो चढ जाता है किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है।[11] कही जीव कम के अधीन होत हैं तो कही कम जीव के अधीन हात है।[12] जसे कही ऋण दते समय धनी बलवान होता है तो कही ऋण लौटाते समय कजदार बलवान होता है।[13] सामान्य की अपेक्षा कम एक है और द्रव्य तथा भाव की अपक्षा दो प्रकार का है। कम पुदगलो का पिण्ड द्रव्यकम है और उसम रहने वाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव मे होने वाल रागद्वेष रूप विकार भावकम है।[14] जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदशनमय) आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से नही बधता। अत पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकत हैं? अर्थात उसे नया जन्म धारण नही करना पडता है।[15]

ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय माहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये सक्षप मे आठ कम हैं।[16] इन कर्मों का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव सदृश है।[17] जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे उसे ज्ञानावरण कहते हैं। जो दशनगुण को

आवृत्त करे उसे दर्शनावरण कहते हैं। जो सुख-दुःख का कारण हो उसे वेदनीय कहते है। जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों में अहंकार तथा ममकार करे उसे मोहनीय कहते है। जिसके उदय से जीव नरकादि योनियो मे परतन्त्र हो उसे आयुकर्म कहते हैं। जिसके उदय से शरीरादि की रचना हो वह नाम कर्म है। जिसके उदय से उच्च-नीच कुल मे जन्म हो उसे गोत्रकर्म कहते है और जिसके द्वारा दान, लाभ आदि मे बाधा प्राप्त हो उसे अन्तराय कर्म कहते है।[१८] ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरणी की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतिया है।[१९] शुभोपयोग रूप निमित्त मे जो कर्म बंधते है वे पुण्य कर्म तथा अशुभोपयोग रूप निमित्त से जो कर्म बधते हैं वे पाप कर्म कहलाते है। इस प्रकार निमित्त की अपेक्षा कर्मों के दो भेद हैं।[२०]

कर्म आत्मा का गुण नहीं है क्योकि आत्मा का गुण होने से वह अमूर्तिक होता और अमूर्तिक का बध नही हो पाता। अमूर्तिक कर्म, अमूर्तिक आत्मा का अनुग्रह और निग्रह उपकार और अपकार करने मे समर्थ नही होता।[२१] यद्यपि कर्म सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नही होता तथापि वह मूर्तिक है क्योकि उसका कार्य जो औदारिक आदि शरीर है वह मूर्तिक है। मूर्तिक की रचना मूर्ति से ही हो सकती है इसलिए दृश्यमान औदारिकादि शरीरो से अदृश्यमान कर्म मे मूर्तिपना सिद्ध होता है।[२२]

निश्चय नय से आत्मा और कर्म दोनो द्रव्य स्वतन्त्र, स्वतन्त्र द्रव्य हैं इसलिए इनमें बध नही है परन्तु व्यवहार नय से कर्म के अस्तित्वकाल में आत्मा स्वतन्त्र नही है इसलिए दोनो मे बध माना जाता है। व्यवहार नय से आत्मा और कर्मो मे एकता का अनुभव होता है इसलिए आत्मा को मूर्तिक माना जाता है। मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मो के साथ बंध होने मे आपत्ति नही है।[२३]

इस प्रकार ससार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है। यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है। पराधीनता का कारण कर्म है जगत मे अनेक प्रकार की विषमताए है। आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त जो प्राकृतिक विषमताए हैं उनका हेतु मनुष्यकृत नही हो सकता। विषमताओं का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है। कारण के बिना कोई कार्य नही हो सकता। जैसे आग मे तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक् हो जाता है वैसे ही तपस्या से कर्म दूर हो जाता है।

सदर्भ सकेत—

१—क्रियन्त मिथ्यात्वादिहेतुभिर्जीवेनति कर्माणि ।

—उमाटी प. ४१

२—गहना कर्मणो गति ।

—ब्रह्मानद गीता ४४

३—(क) कम्मेहिं लुप्पति पाणिणो ।

—सूत्र कृताग २।१।४

(ख) कम्मुणा उवाहि जायइ ।

—आचारांग ३।१

४—कम्म च मोहप्पभव वयति,
कम्म च जाइ मरणस्स मूल ।

—उत्तराध्ययन ३२।७

५—अज्झत्थहेउ नियअस्स बधो,
ससार हेउ च वयति बध ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १४।१६

६—अणुमित्तो वि न बधा,
परवत्थुपच्चओ भणिओ ।

—ओघनिर्युक्ति गाथा ५३

७—ण य वत्थुदो दु बधो
अज्झवसाणेण बधोत्थि ।

—समयसार २६५

८—अकुव्वओ णव णत्थि ।

—सूयकृतांग १।१५।७

९—ज ज समय जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तमि तमि समए सुहासुह बधए कम्म ॥

समणसुत्त, ज्योतिमुख, ब्र० जिनेन्द्रवर्णी
सव सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी १,
प्रथम सस्करण २४ अप्रल १९८५ श्लोकाक ५७,
पृष्ठाक २० २१

१०—(क) कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ।

—उत्तराध्ययन १३।२३

(ख) शेत सह शयानेन गच्छन्तमनु गच्छति ।
नराणा प्राक्तन कर्म, तिष्ठत्यथ सहात्मन ॥

—पचतत्र २।१३०

(ग) यथाधेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथैवेह कृत कर्म, कर्तार मनुगच्छति ॥
—चाणक्यनीति १३।१५

११—कम्म चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ।
रुक्ख दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥
—समणसुत्तं, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६०
पृष्ठांक २०-२१

१२—कर्मायत्तं फलं पुंसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
—चाणक्यनीति १३।१०

१३—कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइ कहिंचि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं ॥
—समणसुत्त, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६१,
पृष्ठांक २०-२१

१४—(क) कम्मत्तणेण एक्क, दव्व भावोत्ति होदि दुविह तु ।
पोग्गल पिंडो दव्व, तस्सत्ती भावकम्म तु ॥
—समणसुत्त, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६२,
पृष्ठांक २०-२१

(ख) अर्हत्प्रवचन, सम्पादक—चैनसुखदास न्यायतीर्थ, आत्मोदय ग्रथमाला जयपुर, सितम्बर १९६२, श्लोकांक ७, पृष्ठांक १८

१५—(क) जो इदियादि विजई, भवीय उवओग मप्पग आदि ।
कम्मेहि सो ण रजदि, किह त पाणा अगुचरति ॥
—समणसुत्त, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६३,
पृष्ठांक २०-२१

(ख) कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायति भवकुरा ।
—दशाश्रुत स्कध ५।१५

(ग) अकम्मस्स ववहारो न विज्जई ।
—आचारांग ३।१

१६—(क) नाणस्सावरणिज्ज दसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोह, आउकम्म तहेव य ॥
नाम कम्म च गोय च, अतराय तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥
—समणसुत्त, ज्योतिर्मुख, वही, श्लोकांक ६४-६५
पृष्ठांक २२-२३

२१—न कर्मात्म गुणोऽमूर्ते स्तस्य वन्धाप्रसिद्धित.।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तु मर्हति ॥

—तत्त्वार्थसार, पचमाधिकार, श्लोकाक १४,
पृष्ठाक १४३

२२—औदारिकादि कार्याणा कारण कर्ममूर्तिमत।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भ क्वापि दृश्यते ॥

—तत्त्वार्थसार, पचाधिकार, श्लोकाक १५,
पृष्ठाक १४३

२३—तत्त्वार्थसार, पंचमाधिकार, वही, श्लोकाक १६-२०, पृष्ठ १४४-१४५

□ □ □

कर्म-सूक्तियाँ

सकम्मुणा किच्चइं पावकारी,
कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।

—उत्तराध्ययन ४।३

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होता है, क्योकि कृतकर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नही है।

पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फलं वज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥

—समयसार १६८

जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृन्त से नही लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से विमुक्त होने के बाद पुन, आत्मा (वीतराग) को नहीं लग सकते।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्म च मोहप्पभवं वयति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयति ॥

—उत्तराध्ययन ३२।७

राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुत. दु ख है।

१०

करण सिद्धान्त
भाग्य-निर्माण की प्रक्रिया

☐ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

जैन-दर्शन की दृष्टि म कम भाग्य विधाता है, कम के नियम या सिद्धान्त विधान है। दूसरे शब्दो मे कहे तो कम ही भाग्य है। जन कम ग्रथा मे कम बध और कम फल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वणन है। उनमे जहाँ एक ओर यह विधान है कि बधा हुआ कम फल दिये बिना कदापि नही छूटता है, वही दूसरी ओर उन नियमो का भी विधान है, जिनसे बधे हुए कम मे अनेक प्रकार से परिवतन भी किया जा सकता है। कम बध से लेकर फल भोग तक की इन्ही अवस्थाओ व उनके परिवतन की प्रक्रिया को शास्त्र म करण कहा गया है। कम् बध व उदय से मिलने वाले फल ही भाग्य कहा जाता है। कम मे परिवतन होने स उसके फल मे भाग्य म भी परिवतन हो जाता है। अत करण को भाग्य परिवतन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। महापुराण मे कहा है—

विधि, स्रष्टा, विधाता, दव कम पुराकृतम्।
ईश्वरेश्चेती, पर्यायकर्मवेधस ।।४३७।।

विधि, स्रष्टा, विधाता, दव, पुराकृतम्, ईश्वर ये कम रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात कर्म ही वास्तव मे ब्रह्म या विधाता है।

करण आठ हैं

व्याकरण की दृष्टि से करण उसे कहा जाता है जिसकी सहायता से क्रिया या काय हो। दूसरे शब्दा मे जा क्रिया या काय मे सहायक कारण हो। उक्त आठ प्रकार की क्रिया स कम पर प्रभाव पडता है और उनकी अवस्था व फलदान की शक्ति म परिवतन होता है। अत इन्हें करण कहा गया है। कम-शास्त्रा मे आगत इन करणो का विवेचन वनस्पति विज्ञान एव चिकित्सा शास्त्र के नियमा व दृष्टान्ता द्वारा मनोविज्ञान एव व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ बधन करण

कम परमाणुओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को बध कहा जाता है। यहाँ कम का बधना या सस्कार रूप बीज का पडना बधन करण है। इस मनोविज्ञान की भाषा मे ग्रथि निर्माण भी कहा जा सकता है। इसी कम-बीज मे

उदय या फलस्वरूप प्राणी सुख-दुःख रूप फल भोगता है। जिस प्रकार शरीर में भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया भला पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है। इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ-कर्म परमाणु आत्मा के लिए सुफल सौभाग्यदायी एवं ग्रहण किए गए अशुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए कुफल दुर्भाग्यदायी होते हैं। अतः जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहते है उन्हे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ आदि पाप प्रवृत्तियो—अशुभ कर्मो से वचना चाहिये। क्योकि इनके फल-स्वरूप दुःख मिलता ही है और जो सौभाग्य चाहते हैं उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य भाव आदि पुण्य प्रवृत्तियों, शुभ कर्मों को अपनाना चाहिये। कारण कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। यह प्राकृतिक विधान है, इसे कोई नही टाल सकता। किसी की हिंसा या बुरा करने वाले को फलस्वरूप हिंसा ही मिलने वाली है, बुरा ही होने वाला है। भला या सेवा करने वाले का उसके फलस्वरूप भला ही होता है।

किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता मे राग रूप प्रवृत्ति करने से और प्रतिकूलता मे द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से उसके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता हैं। यह सम्बन्ध ही बन्ध है, बन्धन है। इस प्रकार राग-द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणो पर तथा उन गुणो की अभि-व्यक्ति से सम्बन्धित माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि पर पड़ता है। अत. राग-द्वेष रूप जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते है तथा जितनी-जितनी राग-द्वेष की अधिकता-न्यूनता होती है उतनी-उतनी बधन के टिकने की सवलता-निर्बलता तथा उसके फल की अधिकता-न्यूनता होती है। इसलिए जो व्यक्ति जितना राग-द्वेष कम करता है उतना ही कम कर्म बांधता है। जो समभाव रखता है, समदृष्टि रहता है, वह पाप कर्म का बंध नही करता है। अत. बंध से वचना है तो राग-द्वेष से वचना चाहिये।

नियम :

(१) कर्म बन्ध का कारण राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति है।

(२) जो जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख रूप फल भोगता है।

(३) बन्धे हुए कर्म का फल अवश्यमेव स्वय को ही भोगना पड़ता है। कोई भी अन्य व्यक्ति व शक्ति उससे छुटकारा नही दिला सकती।

२. निधत्त करण :

कर्म बन्ध की वह दशा जिसमे कर्म इतना दृढतर बंध जाय कि उसमें स्थिति और रस मे फेरफार तथा घट-बढ हो सके परन्तु उसका आमूल-चूल परिवर्तन, सक्रमण और उदीरणा न हो सके, उसे निधत्त करण कहते है।

कम की यह स्थिति किसी प्रकृति या क्रिया मे अधिक रस लेने, प्रवृत्ति की पुनरावत्ति करने से होती है। जिस प्रकार किसी पौधे को बार बार उखाडा जाय या हानि पहुँचाई जाये तो वह सूख सा जाता है और उसम विशेष फल देने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अथवा जिस प्रकार बार-बार अफीम खाने से या शराब पीने से अफीम खाने या शराब पीने की आदत इतनी दृढतर हो जाती है कि उसका छूटना कठिन होता है भले ही मात्रा मे कुछ घट बढ हो जाय। अथवा इन्द्रिय सुख के आधीन हो कोई बार बार मिथ्या आहार विहार करे, जिससे उसके जलदर, भगदर, क्षय जसी दुसाध्य बीमारी हो जाय जो जन्म भर मिटे ही नही केवल उसमे कुछ उतार चढाव आ जाय। इसी प्रकार जिस क्रिया म योग अर्थात मन-वचन-काया की प्रवत्ति की पुनरावत्ति की अधिकता हो एव रस की अर्थात् राग-द्वेष आदि कषाय की अधिकता हो तो कम की ऐसी स्थिति का बध हो जाता है कि जिसमे कुछ घट बढ तो हो सके पर तु उसका रूपातरण व दूसरी प्रकृति रूप परिवतन न हो सके, उसके फल को भोगना ही पड।

अत हमे किसी विषय सुख का बार-बार भोग करने एव अधिक रस लेने स बचना चाहिये ताकि कम का दृढतर बध न हो।

नियम निधत्त कम मे सक्रमण व उदीरणा नही होती है।

३ निकाचित करण

कम-बध की वह दशा जिसमे कम इतने दृढतर हो जाय कि उनम कुछ भी फेर फार न हो सके, जिसे भोगना ही पडे, निकाचना कहलाती है। कम की यह दशा निधत्तकरण से अधिक बलवान होती है। कम की यह स्थिति अत्यधिक गृद्धता से होती है। जिस प्रकार पौध को खाद रस आदि पूण अनुकूलता मिलने म उसके फल म स्थित बीज का ऐसा पोषण होता है कि उसके उगने की शक्ति पूण विकसित हो जाती है। अथवा किसी रोगी द्वारा बार बार गलती दोहरायी जाय व परहेज इतना बिगाड दिया जाय कि रोग ऐसी स्थिति मे पहुँच जाय कि उसमे कमी आवे ही नही। या कसर जसे असाध्य राग का हो जाने स उसके भोगे बिना छुटकारा नही होता है वसे ही जिस कम को भोगे बिना छुटकारा न हो, वह निकाचित कम है। जिस प्रकार कसर आदि असाध्य राग से बचने, दूर रहने मे ही अपना हित है कारण कि उसका एक बार हो जाने पर फिर मिटना असम्भव है, इसी प्रकार कर्म बध की ऐसी दशा से बचने या दूर रहन मे ही अपना हित है--जिसे बिना भोग छुटकारा असम्भव है। इस घातक दशा से बचना तब ही सम्भव है जब किसी प्रवृत्ति मे अत्यन्त गृद्ध न हो। अत्यधिक आसक्त न हो।

निधत्त और निकाचित कर्म-बध की ये दोनो दशाएँ असाध्य रोग क समान है परन्तु निधत्त से निकाचित कम अधिक प्रबल व दु ग्वद है। अत इनम बचने मे ही निज हित है।

नियम :

निकाचित कर्म मे सक्रमण व उदीरणा, उद्वर्तन, अपवर्तन करण नही होते है। कोई-कोई आचार्य सामान्य सा उद्वर्तन-अपवर्तन होना मानते है।

४. उद्वर्तना करण :

जिस क्रिया या प्रवृत्ति से बन्धे हुए कर्म की स्थिति और रस बढता है, उसे उद्वर्तना करण कहते हैं। ऐसा ही पहले बाधे हुए कर्म-प्रकृति के अनुरूप पहले से अधिक प्रवृत्ति करने तथा उसमे अधिक रस लेने से होता है। जैसे पहले किसी ने डरते-डरते किसी की छोटी सी वस्तु चुरा कर लोभ की पूर्ति की फिर वह डाकुओ के गिरोह मे मिल गया तो उसकी लोभ की प्रवृत्ति का पोषण हो गया, वह बहुत बढ गई तथा अधिककाल तक टिकाऊ भी हो गई, वह निधड़क डाका डालने व हत्याएँ करने लगा। इस प्रकार उसकी पूर्व की लोभ की वृत्ति का पोषण होना, उसकी स्थिति व रस का बढना उद्वर्तना कहा जाता है। जिस प्रकार खेत मे उगे हुए पौधे को अनुकूल खाद व जल मिलने से वह हृष्ट-पुष्ट होता है, उसकी आयु व फलदान शक्ति बढ जाती है इसी प्रकार पूर्व मे बन्धे हुए कर्मो को उससे अधिक तीव्ररस, राग-द्वेष, कषाय का निमित्त मिलने से उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति बढ जाती है। अथवा जिस प्रकार किसी ने पहले साधारण सी शराब पी, इसके पश्चात् उसने उससे अधिक तेज नशे वाली शराब पी तो उसके नशे की शक्ति पहले से अधिक बढ जाती है या किसी मधुमेह के रोगी ने शक्कर या कुछ मीठा पदार्थ खा लिया फिर वह अधिक शक्कर वाली मिठाई खा लेता है तो उस रोग की पहले से अधिक वृद्धि होने की स्थिति हो जाती है। इसी प्रकार विषय सुख मे राग की वृद्धि होने से तथा दु.ख मे द्वेष बढने से तत्सबधी कर्म की स्थिति व रस अधिक बढ जाता है। अत हित इसी मे है कि कषाय (रस) की वृद्धि कर पाप कर्मो की स्थिति व रस को न बढाया जाय और पुण्य कर्म को न घटाया जाय।

नियम :

(१) सत्ता मे स्थित कर्म की स्थिति व रस से वर्तमान मे बध्यमान कर्म की स्थिति व रस का अधिक बन्ध होता है, तब ही उद्वर्तन करण सम्भव है।

(२) सक्लेश (कषाय) की वृद्धि से आयु कर्म को छोडकर शेष कर्मों की सब प्रकृतियो की स्थिति का एव सब पाप प्रकृतियो के अनुभाग (रस) मे उद्वर्तन होता है। विशुद्धि (शुभ भावो) से पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग (रस) मे उद्वर्तन होता है।

५. अपवर्तना करण :

पूर्व मे बन्धे हुए कर्मो की स्थिति और रस मे कमी आ जाना अपवर्तना-करण है। पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् जीव यदि फिर

अच्छे कम (काम) करता है तो उसके पहले बांधे हुए कर्मों की स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है जसे श्रेणिक ने पहले, क्रूर कम करके सातवी नरक की आयु का बध कर लिया था परन्तु फिर भगवान् महावीर की शरण व समवशरण मे आया, उसे सम्यक्त्व हुआ जिससे अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप हुआ तो शुभ भावो के प्रभाव से उसकी बाधी हुई सातवी नरक की आयु घटकर पहले नरक की ही रह गई। इसी प्रकार कोई अच्छे काम करे और उच्च स्तरीय देव गति का बन्ध करे फिर शुभ भावो मे गिरावट आ जाय तो वह उच्च स्तरीय देवगति के बन्ध मे गिरावट आकर निम्न स्तरीय देवगति का हो जाता है। अथवा जिस प्रकार खेत मे स्थित पौधे को प्रतिकूल खाद, ताप व जलवायु मिले तो उसकी आयु व फलदान की शक्ति घट जाती है। इसी प्रकार सत्ता मे स्थित कर्मों का बन्ध कोई प्रतिकूल काम करे तो उसकी स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है। अथवा जिस प्रकार पित्त का रोग नींबू व आलूबुखारा खाने से, तीव्र क्रोध का वेग जल पीने से ज्वर का अधिक तापमान बर्फ रखने से घट जाता है इसी प्रकार पूव म किए गए दुष्कर्मों के प्रति सवर तथा प्रायश्चित आदि करने से उनकी फलदान शक्ति व स्थिति घट जाती है।

अत विषय कषाय की अनुकूलता मे हष व रति तथा प्रतिकूलता में खेद (शोक) व अरति न करने से अथात विरति (सयम) को अपनाने में ही आत्म हित है।

नियम

सक्लेप (कषाय) की कमी एव विशुद्धि (शुभ भावो) की वृद्धि से पहले बन्धे हुए कर्मों मे आयु कम को छोड कर शेष सब कर्मों की स्थिति एव पाप प्रकृतियो के रस मे अपवतन (कमी) होता है। सक्लेश की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियो के रस मे अपवतन होता है।

६ सक्रमण करण

पूव मे बन्धे कम की प्रकृति का अपनी जातीय अन्य प्रकृति में रूपातरित हो जाना सक्रमण करण कहा जाता है। वतमान मे वनस्पति विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप मे परिवर्तित कर देते हैं। निम्न जाति के बीजो को उच्च जाति के बीजो मे बदल देते हैं। इसी प्रक्रिया से गुलाब की सैकडो जातियाँ पदा की हैं। वतमान वनस्पति विज्ञान मे इस सक्रमण प्रक्रिया को सकर प्रक्रिया कहा जाता है जिसका अथ सक्रमण करना ही है। इसी सक्रमण करण की प्रक्रिया से सकर मक्का, सकर बाजरा, सकर गेहूँ के बीज पैदा किए गए हैं। इसी प्रकार पूर्व में बधी हुई कम प्रकृतियाँ वतमान म बधने वाली कम प्रकृतियो म परिवर्तित हो जाती हैं सक्रमित हो जाती हैं। अथवा जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकार

ग्रस्त अग हृदय, नेत्र ग्रादि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर अधे व्यक्ति को सूझता कर देते है, रुग्ण हृदय को स्वस्थ हृदय बना देते है तथा अपच या मदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर निर्वलता, कब्ज या अतिसार मे बदल जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है—(१) रोग के कष्ट से बचना एव (२) स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व की बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति मे बदला जाता है और उनके दु खद फल से बचा जा सकता है।

यह संक्रमण या रूपान्तरण कर्म के मूल भेदों मे परस्पर मे नही होता है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप मे नही होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, ज्ञानावरण, वेदनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप मे नही होता है। यही बात अन्य सभी कर्मो के विषय मे भी जाननी चाहिये। सक्रमण किसी एक ही कर्म के अवान्तर मे उत्तर प्रकृतियों मे अपनी सजातीय अन्य उत्तर प्रकृतियो मे होता है। जैसे वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनका परस्पर मे सक्रमण हो सकता है अर्थात् सातावेदनीय असातावेदनीय रूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीय रूप हो सकता है परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद है। जैसे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दोनो मोहनीय कर्म की ही अवान्तर या उप-प्रकृतिया है—परन्तु इनमे भी परस्पर मे सक्रमण नही होता है। इसी प्रकार आयु कर्म की चार अवान्तर प्रकृतियाँ है उनमे भी परस्पर मे सक्रमण नही हो सकता है अर्थात् नरकायु का वध कर लेने पर जीव को नरक मे ही जाना पडता है। वह तिर्यंच, मनुष्य, देव गति मे नही जा सकता है।

कर्म-सिद्धान्त मे निरूपित सक्रमण-प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा मे मार्गान्तरीकरण (Sublimation of mental energy) कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण दो प्रकार का है—१ अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति मे और २ शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति मे। शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति मे रूपान्तरण अनिष्टकारी है और अशुभ (कुत्सित) प्रकृति का शुभ (उदात्त) प्रकृति मे रूपान्तरण हितकारी है। वर्तमान मनोविज्ञान मे कुत्सित प्रकृति के उदात्त प्रकृति मे रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहा जाता है। यह उदात्तीकरण सक्रमण करण का ही एक अग है, एक अवस्था है।

आधुनिक मनोविज्ञान मे उदात्तीकरण पर विशेष अनुसंधान हुआ है तथा प्रचुर प्रकाश डाला गया है। राग या कुत्सित काम भावना का सक्रमण या उदात्तीकरण, मन की प्रवृत्ति को मोड़कर श्रेष्ठ कला, सुन्दर चित्र या महाकाव्य, ाव भक्ति मे लगाकर किया जा सकता है। वर्तमान मे उदात्तीकरण प्रक्रिया

का उपयोग व प्रयोग कर उद्दण्ड, अनुशासनहीन, तोड फोड करने वाले अपराधी मनोवृत्ति के छात्रो एव व्यक्तियो को उनकी रुचि के किसी रचनात्मक काय मे लगा दिया जाता है। फलस्वरूप वे अपनी हानिकारक व अपराधी प्रवत्ति का त्याग कर समाजोपयोगी काय मे लग जाते हैं, अनुशासनप्रिय नागरिक बन जाते हैं।

कुत्सित प्रकृतिया को सद् प्रवृत्तियो मे सक्रमण या रूपान्तरण करने के लिए *आवश्यक है कि पहले व्यक्ति को इन्द्रिय-भोगो की वास्तविकता को* उसके वतमान जीवन की दनिक घटनाओ के आधार पर समझाया जाये। भोग का सुख क्षणिक है, नश्वर है व पराधीनता मे आबद्ध करने वाला है, परिणाम मे नीरसता या अभाव ही शेष रहता है। भोग जडता व विकार पदा करने वाला है। नवीन कामनाओं को पदा कर चित्त को अशात बनाने वाला है। सघप, द्वन्द्व, अन्तद्व न्द्व पदा करने वाला है। सुख के भोगी को दु ख भोगना ही पडता है। सुख मे दु ख अन्तर्गभित रहता ही है। भोगो के सुख के त्याग से तत्काल शान्ति, स्वाधीनता प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भोगो के सुख क्षणिक-अस्थायी सुख के स्थान पर हृदय मे स्थायी सुख प्राप्ति का भाव जागृत किया जाय। भावी दु ख से छुटकारा पाने के लिय वतमान के क्षणिक सुख के भोग का त्याग करने की प्रेरणा दी जाय। इससे आत्म-सयम की योग्यता पदा होती है फिर दूसरो को सुख देने के लिए भी अपने सुख व सुख सामग्री को दूसरो की सेवा मे लगाने की प्रवत्ति होती है। दूसरा की नि स्वाथ सेवा से जो प्रेम का रस आता है उसका आन द सुखभोगजनित सुख से निराला होता है। उस सुख मे वे दोष या कमियाँ नही होतीं जो भोगजनित सुख मे होती हैं। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता मे पल्लवित पुष्पित तथा फलित होता है और अन्त म सव हितकारी प्रवत्ति का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार कम सिद्धान्त मे सक्रमण केवल सजातीय प्रवृत्तिया मे सम्भव है, इसी प्रकार मनोविज्ञान मे भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रवृत्तियो म ही सम्भव *माना है। दोनों ही विजातीय प्रवृत्तिया के साथ सक्रमण या रूपान्तरण* नही मानते हैं। सक्रमणकरण और रूपान्तरकरण दोनों ही मे यह सद्धान्तिक समानता आश्चयजनक है।

कम सिद्धान्त के अनुसार पाप प्रवत्तियो से होने वाले दु ख, वेदना, अशान्ति आदि से छुटकारा, परोपकार रूप पुण्य प्रवत्तिया से किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण वतमान मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। उनका कथन है कि उदात्तीकरण शारीरिक एव मानसिक रोगा के उपचार म बडा कारगर उपाय है। मनोवज्ञानिक चिकित्सालया मे असाध्य प्रतीत होने वाले महारोग उदात्तीकरण से ठीक होते देखे जा सकते हैं।

जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्तियो का शुभ प्रवृत्तियो मे रूपान्तरण होना जीवन के लिए उपयोगी व सुखद होता है, इसी प्रकार शुभ प्रवृत्तियो का अशुभ प्रवृत्तियो में रूपान्तरण व सक्रमण होना जीवन के लिए अनिष्टकारी व दु:खद होता है। सज्जन भद्र व्यक्ति जब कुसगति, कुत्सित वातावरण मे पड़ जाते हैं और उसमे प्रभावित हो जाते है तो उनकी शुभ प्रवृत्तियाँ अशुभ प्रवृत्तियो में परिवर्तित हो जाती है जिससे उनका मानसिक एव नैतिक पतन हो जाता है। परिणामस्वरूप उनको कष्ट, रोग, अशान्ति, रिक्तता, हीन भावना, निराशा, अनिद्रा आदि अनेक प्रकार के दुःख भोगना पडता है।

कर्म-शास्त्र के अनुसार सक्रमण पहले वधी हुई प्रकृतियों (आदतों) का वर्तमान मे बध्यमान (वधने वाली) प्रकृतियों में होता है अर्थात् पहले प्रवृत्ति करने से जो प्रकृति (आदत) पड गई—वध गई है वह प्रकृति (आदत) वर्तमान मे जो प्रवृत्ति की जा रही है उससे अभी जो आदत (प्रकृति) वन रही है, उस आदत का अनुसरण-अनुगमन करती है। तथा इस नवीन वनने-वाली आदतो के अनुरूप पुरानी आदतो मे परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ—पहले किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति-प्रकृति ईमानदारी की है परन्तु वर्तमान मे वह वेईमानी की प्रवृत्ति कर रहा है तो उसकी प्रकृति (आदत) वेईमानी की प्रकृति (आदत) मे वदल जाती है। इसके विपरीत किसी व्यक्ति मे पहले वेईमानी की आदत पडी हुई है और वर्तमान में ईमानदारी की प्रवृत्ति कर रहा है, इससे ईमानदारी की आदत का निर्माण हो रहा है तो पहले की बेईमानी की आदत ईमानदारी मे वदल जाती है, यह सर्वविदित है। शरीर और इन्द्रिय भीतर से अशुचि के भडार है एव नाशवान है। इस सत्य का ज्ञान किसी को है। परन्तु अब वह शरीर व इन्द्रिय सुख के भोग मे प्रवृत्त हो, मोहित हो जाता है तो उसे शरीर व इन्द्रिय सुन्दर व स्थायी प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार उसका पूर्व का सच्चा ज्ञान आच्छादित हो जाता है, दूसरे शब्दो मे कहे तो अज्ञानरूप हो जाता है अर्थात् ज्ञान अज्ञान मे रूपान्तरित, सक्रमित हो जाता है। आगे भी उसका मोह जैसे-जैसे घटता-वढता जायेगा उसकी इस अज्ञान की प्रकृति मे भी घट-वढ होती जायेगी, अपवर्तन-उद्वर्तन होता जावेगा और मिथ्यात्व रूप मोह का नाश हो जायेगा तो अज्ञान का नाश हो जायेगा और ज्ञान प्रकट हो जायेगा। वही अज्ञान, ज्ञान मे वदल जायेगा। इसी प्रकार क्षोभ (क्रोध) और क्षमा, मान और विनय, माया और सरलता, लोभ और निर्लोभता, हिसा और दया, हर्ष और शोक, शोषण और पोषण, करुणा और क्रूरता, प्रेम और मोह, जडता और चिन्मयता, परस्पर मे वर्तमान प्रकृतियो के अनुरूप सक्रमित-रूपान्तरित हो जाते है। किसी प्रकृति की स्थिति व अनुभाग का घटना (अपवर्तन) बढना (उद्वर्तन) भी स्थिति, सक्रमण व अनुभाग सक्रमण के ही रूप है।

सक्रमण करण का उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्टत: इस सत्य को उद्घाटित

करता है कि किसी ने पहले कितने ही अच्छे कम बाधे हो यदि वह वतमान मे दुष्प्रवत्तिया कर बुरे (पाप) कम बाध रहा है तो पहले के अच्छ (पुण्य) कम बुरे (पाप) कम मे वदल जावेंगे फिर उनका कोई अच्छा सुखद फल नही मिलने वाला है। इसके विपरीत किसी ने पहले दुष्कम (पाप) किए हैं, बाधे हैं परन्तु वतमान मे वह सत्कम कर रहा है तो वह अपने बुरे कर्मों के दु खद फल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दो मे कह तो हम हमारे वतमान जीवन काल का सदुपयोग दुरुपयोग कर अपने भाग्य को सौभाग्य या दुर्भाग्य म वदल सकते हैं। इसकी हमें पूण स्वाधीनता है तथा हमारे मे सामथ्य भी है। इसे उदाहरण से समझें—

'क' एक व्यापारी ह। 'ख' उसका प्रमुख ग्राहक है। 'क' को उससे विशेष लाभ होता है। 'क' के लोभ की पूर्ति होती है तथा 'ख' 'क' के व्यवहार की वहुत प्रशसा करता है जिसमे क' के मान की पुष्टि होती है। अत क' का 'ख' के साथ लोभ और मान रूप घनिष्ठ सम्बन्ध या बन्ध है परन्तु क' ने 'ख' का लोभ वश असली माल के बजाय नकली माल दे दिया। इस धोखे का जब 'ख' को पता चला तो वह रुष्ट हो गया और उस पर 'क' की जो रकम उधार थी उसने उसे देने से मना कर दिया। गाली गलोच कर 'क' का अपमान कर दिया। इससे 'क' को क्रोध आया। अब 'क' का 'ख' के प्रति लोभ व मान रूप जो राग का सम्बन्ध था वह क्रोध व द्वेष मे रूपान्तरित सक्रमित हो गया।

नियम

(१) प्रकृति सक्रमण बध्यमान प्रकृति मे ही होता है।

(२) सक्रमण सजातीय प्रकृतियो मे ही होता है।

नोट १ उदवलना सक्रमण २ विध्यात सक्रमण, ३ अध स्तन सक्रमण, ४ गुण सक्रमण, ५ सव सक्रमण आदि सक्रमण के अनेक भेद प्रभेद कम शास्त्रो मे कहे गये हैं, विस्तार भय से यहाँ उसका वणन नही किया गया है।

७ उदीरणा करण

बधे हुए कम का नियत काल म फल देने को उदय कहा जाता है और नियत काल के पहल कम के फल दने को उदीरणा कहते हैं। जैसे आम बेचने वाला आमो को जल्दी पकाने के लिए पेड से तोडकर भूसे आदि म दवा दता है जिसमे आम समय से पूर्व जल्दी पक जात हैं। इसी प्रकार जो कम समय पाकर उदय म आने वाल है अर्थात् अपना फल देने वाले हैं उनका प्रयत्न विशेष से किसी निमित्त से समय से पूव ही फल देकर नष्ट हो जाना उदीरणा है।

जिस प्रकार शरीर मे स्थित कोई विकार कालान्तर मे रोग के रूप मे फल देने वाला है। टीका लगवाकर या दवा आदि के प्रयत्न द्वारा पहले ही उस विकार को उभार कर फल भोग लेने से उस विकार से मुक्ति मिल जाती है। उदाहरणार्थ—चेचक का टीका लगाने से चेचक का विकार समय से पहले ही अपना फल दे देता है। भविष्य मे उससे छुटकारा मिल जाता है। वमन-रेचन (उल्टी या दस्त) द्वारा किए गए उपचार मे शरीर का विकार निकाल कर रोग से समय से पूर्व ही मुक्ति पाई जा सकती है।

इसी प्रकार अन्तस्तल मे स्थित कर्म की ग्रंथियों (बंधनो) को भी प्रयत्न से समय के पूर्व उदय मे लाकर फल भोगा जा सकता है। वैसे तो कर्मो की उदीरणा प्राणी के द्वारा किए गए प्रयत्नो से अपनाए गए निमित्तों से सहज रूप मे होती रहती है परन्तु अन्तरतम मे अज्ञात-अगाध गहराई मे छिपे व स्थित कर्मों की उदीरणा के लिए विशेष पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है, जिसे तप के द्वारा कर्मो की निर्जरा करना कहा जाता है।

वर्तमान मनोविज्ञान भी उदीरणा के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान मे इस प्रक्रिया से अवचेतन मन मे स्थित मनोग्रथियो का रेचन या वमन कराया जाता है। इसे मनोविश्लेपण पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति से अज्ञात मन मे छिपी हुई ग्रथियाँ, कुंठाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ ज्ञात मन मे प्रकट होती है, उदय होती हैं और उनका फल भोग लिया जाता है तो वे नष्ट हो जाती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कथन है कि मानव की अधिकतर शारीरिक एव मानसिक बीमारियो का कारण ये अज्ञात मन मे छिपी हुई ग्रथियाँ ही हैं। जिनका सचय हमारे पहले के जीवन मे हुआ है। जब ये ग्रन्थियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती है तो इनसे सम्बन्धित बीमारियाँ भी मिट जाती हैं। मानसिक चिकित्सा मे इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अपने द्वारा पूर्व मे हुए पापो या दोषो को स्मृति पटल पर लाकर गुरु के समक्ष प्रकट करना, उनकी आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, उदीरणा या मनोविश्लेषण पद्धति का ही रूप है। इससे साधारण दोप-दुष्कृत मिथ्या हो जाते है, नष्ट हो जाते हैं, फल देने की शक्ति खो देते हैं। यदि दोष प्रगाढ हो, भारी हो तो उनके नाश के लिए प्रायश्चित लिया जाता है। प्रतिक्रमण कर्मो की उदीरणा मे वडा सहायक है। हम प्रतिक्रमण के उपयोग से अपने दुष्कर्मो की उदीरणा करते रहे तो कर्मो का सचय घटता जायेगा जिससे आरोग्य मे वृद्धि होगी। जो शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य, समता, शान्ति एव प्रसन्नता के रूप मे प्रकट होगी।

उदीरणा की प्रक्रिया

उदीरणा के लिए पहले शुभ भावो से अपवर्तना करण द्वारा पूर्व मे सचित कर्मों की स्थिति को घटा दिया जाता है। स्थिति घट जाने पर कर्म नियत समय से पूर्व उदय मे आ जाते हैं। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना मे अपनी पूरी आयु भोग बिना ही मर जाता है तो उसे अकाल मृत्यु कहा जाता है। इसका कारण आयु कर्म की स्थिति अपवर्तना करण द्वारा घटकर उदीरणा हो जाना ही है।

नियम

(१) बिना अपवर्तन के उदीरणा नही होती है।

(२) उदीरणा किये कर्म उदय मे आकर फल देते हैं।

(३) उदीरणा के उदय मे आकर जितने कर्म कटते हैं (निर्जरित होते हैं) उदय मे कषाय भाव की अधिकता होने से उनसे अनेक गुणे कर्म अधिक भी बध सकते हैं।

८ उपशमना करण

कर्म का उदय में आने के अयोग्य हो जाना उपशमना करण है। जिस प्रकार भूमि मे स्थित पौध वर्षा के जल से भूमि पर पपडी आ जाने से दब जाते हैं, बढना रुक जाता है, प्रकट नही होते हैं। इसी प्रकार कर्मों को ज्ञान बल या सयम मे दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है। इसे उपशमना करण कहते हैं। इससे तत्काल शान्ति मिलती है। जो आत्मशक्ति को प्रकट करने मे सहायक होती है। अथवा जिस प्रकार शरीर मे घाव हो जाने से या आपरेशन करने से पीडा या कष्ट होता है। उस कष्ट का अनुभव न हो इसके लिए इजेक्शन या दवाई दी जाती है जिससे पीडा या दर्द का शमन हो जाता है। घाव के विद्यमान रहने पर भी रोगी उसके परिणामस्वरूप उदय होने वाली वेदना से उस समय बचा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया विशेष से कर्म प्रकृतियो के कुफल का शमन किया जाता है। यही उपशमना करण है। परन्तु जिस प्रकार इन्जेक्शन या दवा से दर्द का शमन रहने पर भी घाव भरता रहता है और घाव भरने का जो समय है वह घटता रहता है। इसी प्रकार कर्म प्रकृतियो के फल भोग का शमन होने पर भी उनकी स्थिति, अनुभाग व प्रदेश घटता रह सकता है।

नियम उपशमना करण मोहनीय कर्म की प्रकृतियों मे ही होता है।

करण ज्ञान मे महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वर्तमान मे जिन कर्म प्रकृतियो का बध हो रहा है। पुरानी बधी हुई प्रकृतियो पर उनका प्रभाव

पड़ता है और वे वर्तमान मे वध्यमान प्रकृतियो के अनुरूप परिवर्तित हो जाती है। सीधे शब्दो मे कहे तो वर्तमान में हमारी जो आदत वन रही है, पुरानी आदते वदल कर उसी के अनुरूप हो जाती हैं। यह सबका अनुभव है। उदाहरणार्थ—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ले सकते है।

प्रसन्नचन्द्र राजा थे। वे संसार को असार समझ कर राजपाट और गृहस्थाश्रम का त्याग कर साधु वन गये थे। वे एक दिन साधुवेश मे ध्यान की मुद्रा मे खडे थे। उस समय श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए उधर से निकला। उसने राजर्षि को ध्यान मुद्रा मे देखा। श्रेणिक ने भगवान् के दर्शन कर भगवान् से पूछा कि ध्यानस्थ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस समय काल करें तो कहाँ जाये। भगवान् ने फरमाया कि सातवी नरक मे जावें। कुछ देर वाद फिर पूछा तो भगवान् ने फरमाया छठी नर्क मे जावे। इस प्रकार श्रेणिक राजा द्वारा वार-वार पूछने पर भगवान् ने उसी क्रम से फरमाया कि छठी नर्क से पाचवी नर्क मे, चौथी नर्क मे, तीसरी नर्क मे, दूसरी नर्क मे, पहली नर्क मे जायें। फिर फरमाया प्रथम देवलोक मे, दूसरे देवलोक मे, क्रमश: वारहवे देवलोक मे, नव ग्रेवयक मे, अनुत्तर विमान मे जावे। इतने मे ही राजर्षि को केवलज्ञान हो गया।

हुआ यह था कि जहाँ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खड़े थे। उधर से कुछ पथिक निकले। उन्होने राजर्षि की ओर सकेत करके कहा कि अपने पुत्र को राज्य का भार सम्भला कर यह राजा तो साधु वन गया और यहाँ ध्यान मे खडा है। परन्तु इसके शत्रु ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वहाँ भयकर सग्राम हो रहा है, प्रजा पीडित हो रही है। पुत्र परेशान हो रहा है। इसे कुछ विचार ही नही है। यह सुनते ही राजर्षि को रोप व जोश आया। होश-हवाश खो गया। उसके मन मे उद्वेग उठा। मैं अभी युद्ध मे जाऊँगा और शत्रु सेना का सहार कर विजय पाऊँगा। उसका धर्म-ध्यान रौद्र-ध्यान मे सक्रमित हो गया। अपनी इस रौद्र, घोर हिसात्मक मानसिक स्थिति की कालिमा से वह सातवी नर्क की गति का बध करने लगा। ज्योही वह युद्ध करने के लिए चरण उठाने लगा त्योही उसने अपनी वेश-भूषा को देखा तो उसे होश आया कि मैंने तो राजपाट त्याग कर सयम धारण किया है। मेरा राजपाट से अब कोई सबध नही। इस प्रकार उसने अपने आपको सम्भाला। उसका जोश-रोष मन्द होने लगा। रोष या रौद्र ध्यान जैसे-जैसे मद होता गया, घटता गया, वैसे-वैसे नारकीय बन्धन भी घटता गया और सातवी नर्क से घटकर क्रमश: पहली नर्क तक पहुच गया। इसके साथ ही पूर्व मे बन्धे सातवी आदि नर्को की बध की स्थिति व अनुभाग घटकर पहली नर्क मे अपवर्तित हो गये। फिर भावो मे और विशुद्धि आई। रोष-जोश शात होकर सतोष मे परिवर्तित हो गया तो राजर्षि देव गति का बन्ध करने लगा। इससे पूर्व ही मे बन्धा नर्क गति का बन्ध

देव गति मे रूपान्तरित हो गया, संक्रमित हो गया। फिर श्रेणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगी तो भावो मे अत्यन्त विशुद्धि आई। कषायो का उपशमन हुआ तो अनुत्तर विमान देवगति का बन्ध होने लगा। फिर भावो की विशेष विशुद्धि से पाप कर्मों का स्थितिघात और रसघात हुआ। कर्मों की तीव्र उदीरणा हुई। फिर क्षीण कषाय होने पर पूर्ण वीतरागता आ गई और केवल ज्ञान हो गया। इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपनी वर्तमान भावना की विशुद्धि व साधना के बल से पूर्व बन्ध कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि करण (क्रियाएँ) कर कृतकृत्य हुआ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म मे दुष्प्रवृत्तियो से अशुभ व दुखद पाप कर्मों को बाँधे हुए उसकी स्थिति व अनुभाग को वर्तमान म अपनी शुभ प्रवृत्तियों स शुभ कर्म बाधकर घटा सकता है तथा शुभ व सुखद पुण्य कर्मों मे संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्तमान मे अपनी दुष्प्रवृत्तियो से अशुभ पाप कर्मों का बन्धन कर व पूर्व से बान्धे शुभ व सुखद कर्मों को अशुभ व दुखद कर्मों के रूप मे भी संक्रमित कर सकता है। अत यह आवश्यक नही है कि पूर्व मे बन्धे हुए कर्म उसी प्रकार भोगने पड़ें। व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों (प्रवृत्तियों) के द्वारा पूर्व मे बन्धे कर्मों को बदलने, स्थिति, अनुभाग घटाने बढाने एव क्षय करने मे पूर्ण समर्थ व स्वाधीन है। साधक पराक्रम करे तो प्रथम गुणस्थान स ऊँचा उठकर कर्मो का क्षय करता हुआ अन्तर्मुहूर्त म केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। □

कर्म के सवैये

तारा की ज्योति मे चन्द्र छिपे नही, सूर्य छिपे नही बादल छाये।
इन्द्र की घोर से मोर छुपे नही, सर्प छिपे नही पूगी बजाये।
जग जुड़े रजपूत छुपे नही, दातार छुपे नही मागन आये।
जोगी का वेष अनेक करो पर, कर्म छूपे न भभूति रमाए॥

---

११ कार्मरण शरीर और कर्म

□ श्री चन्दनराज मेहता

कर्म-जगत् का सम्वन्ध स्थूल शरीर से नही होकर उस सूक्ष्म शरीर से है जो इस दृश्य शरीर के भीतर है। शरीर पाँच प्रकार के हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस व कार्मरण। इनमे तैजस और कार्मरण शरीर अतीव सूक्ष्म हैं। आत्मा जव तक पूर्णतया कर्मो से मुक्त नही होती तव तक ये दोनों सूक्ष्म शरीर सदा आत्मा के साथ रहते है। आत्मा के कोई कर्म पुद्गल नही चिपकते परन्तु आत्मा के साथ जो कर्म शरीर है उससे चिपकते हैं। तैजस शरीर-कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है। जो शरीर आहार आदि को पचाने मे समर्थ है और जो तेजोमय है वह तैजस शरीर है। यह शरीर विद्युत् परमाणुओ व कर्म शरीर, वासना, संस्कार व सवेदन के सूक्ष्मतम परमाणुओ से निर्मित होता है।

कार्मण शरीर अतीव सूक्ष्म है और ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल समूह से इसका निर्माण होता है। यह शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को नही रोक सकती। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है जैसे अति कठोर लोह पिण्ड मे अग्नि।

कर्म शरीर के अतीव सूक्ष्म पुद्गल यानी अनन्त प्रदेशी स्कन्ध जो सिद्धों से अनन्त गुणा ज्यादा और अभवी से अनन्त भाग कम हैं, हमारी आत्मा से चिपके हुए है। शरीर विज्ञान के अनुसार हमारे भौतिक शरीर मे एक वर्ग इच स्थान मे ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएँ होती है किन्तु यदि सूक्ष्म कर्म-शरीर मे स्थित कर्म जगत् की कोशिकाओ का लेखा जोखा किया जाय तो मालूम होगा कि एक वर्ग इच जगह मे अरबो-खरबो कोशिकाओ का अस्तित्व है। ये कर्म पुद्गल चार स्पर्श वाले एवं अनन्त प्रदेशी होते है। इन सूक्ष्म पुद्गलो का स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि वे केवल अतीद्रिय शक्तियो के द्वारा ही देखे जा सकते है, एव मात्र बाह्य उपकरणो से नही देखे जा सकते।

शीत-उष्ण और स्निग्ध-रुक्ष ये चार मूल स्पर्श हैं और प्रत्येक पुद्गल में प्राप्त है। ये विरोधी है पर उनका सह-अवस्थान है। वे चारो है तभी पुद्गल स्कन्ध हमारे लिए उपयोगी होता है। दुनिया मे सब कुछ युगल है, जिसके बिना

सृष्टि ही नही हो सकती। प्रत्येक परमाणु 'कर्म' नही बन सकते। सूक्ष्म एव चतु स्पर्शी परमाणु ही 'कर्म' बन सकते हैं। इन चतु स्पर्शी परमाणु-स्कन्धो मे भार नही होता, वे लघु व गुरु नही होते। उनमें विद्युत् आवेग नही होता। वे बाहर जा सकते है यानी दीवार के बीच म भी निकल सकते हैं। उनकी गति अप्रत्याहत और अस्खलित होती है। अन्य चार स्पर्श लघु गुरु (हल्का भारी) और ककश मृदु (कठोर मीठा) य वस्तु के मूलभूत धम नही हैं परन्तु वे सयोग शक्ति के द्वारा बनते हैं। इन अष्टस्पर्शी परमाणु स्कन्धो मे भार होता है, विद्युत, आवेग व प्रस्फुटन होता है और उनका स्थूल अवगाहन भी होता है। इन अष्टस्पर्शी पुद्गलो म कम बनने की और अमूत आत्मा की शक्तियो को आवृत्त करने की क्षमता नही होती।

थियोसोफिस्ट्स (Theosophists) ने इन शरीरो की भिन्न सज्ञाएँ दी हैं। उन्होंने स्थूल शरीर को Physical Body, सूक्ष्म शरीर को Etheric Body और अति सूक्ष्म शरीर को Astral Body कहा है। वेदान्त के महर्षि अरविन्द ने बताया है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त हमारे अनेक सूक्ष्म शरीर भी हैं और हम निरे स्थूल शरीर ही नही, अपितु अनेक शरीरो के निर्माता भी हैं तथा उन्हें इच्छानुसार प्रभावित करने की शक्ति रखने वाले समथ आत्म पुरुष भी हैं। उन्होंने आगे बताया कि इस शरीर के अतिरिक्त हमारे चार अदृश्य शरीर उन चार लोकों जो वायव्य लोक, दिव्य लोक, मानसिक लोक तथा आध्यात्मिक लोक के नाम से जाने जाते हैं, से सान्निध्य प्राप्त करते हैं। हमारा प्राणमय शरीर आकार प्रकार में स्थूल शरीर जसा ही होता है पर स्थूल शरीर के रहते यह जितना प्रभावशाली था, इससे अलग होने पर उससे हजार गुना अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली हो जाता है।

कम शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है। यह अन्य सभी शरीरो का मूलभूत हेतु है। इसके होने पर अन्य शरीर होते हैं और न होने पर कोई शरीर नही होता। स्थूल शरीर का सीधा सम्पर्क तैजस शरीर से है और तैजस शरीर का सीधा सम्पर्क कम शरीर से है। कम शरीर से सीधा सम्पर्क चेतना का है और यह कम शरीर ही चैतन्य पर आवरण डालता है। कम शरीर स्थूल शरीर के द्वारा प्रापित बाह्य जगत के प्रभावो को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावो को बाह्य जगत् तक पहुँचाता है। सुख-दुःख का अनुभव कम युक्त शरीर से होता है। घटना स्थूल शरीर मे घटित होती है और उसका सवेदन कम शरीर म होता है। मादक वस्तुओ का प्रयोग करने पर स्थूल शरीर और कम शरीर का सम्बन्ध ऊपरी स्तर पर विच्छिन्न हो जाता है। इसमे उस दशा म स्थूल शरीर का सर्दी, गर्मी या पीडा का कोई सवेदन नहीं होता। राग भी कम-शरीर मे उत्पन्न होता है और स्थूल शरीर मे व्यक्त होता है। वासना कम शरीर मे उत्पन्न होती ह और व्यक्त होती ह स्थूल शरीर द्वारा। कम शरीर और स्थूल-

शरीर दोनों का सम्बन्ध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओं का निर्माण करते है। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल-शरीर मे खोजते हैं जबकि दोनो का मूल कर्म-शरीर मे होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल मे वह नये परमाणुओ को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व गृहीत परमाणुओ का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियो की शक्ति का तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श आदि अनुभवो के नियत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर है। दूसरो को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरो मे चोट न खाने की हममें जो क्षमता है उसका नियत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल मे उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते है एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। उन दोनो शरीरो के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँचती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव ससार मे होगा तब ही कर्म-शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। स्थूल शरीर का निर्माण शुरू हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यो-ज्यों विकास होता है, त्यो-त्यो नाडियाँ बनती है, हड्डियाँ बनती है, चक्र बनते है, और भी अनेक प्रकार के अवयव बनते रहते हैं व इन्द्रियो का विकास होता रहता है। इस तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म-शरीर। कर्म-शरीर मे जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति-विकास के केन्द्र है, उन सबका संवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म-शरीर मे एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की सरचना मे केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानी केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। यदि कर्म-शरीर मे एक से अधिक इन्द्रियों का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे उतनी ही इन्द्रियो के सघटन विकसित होगे। यदि कर्म-शरीर मे मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवो के कर्म-शरीर मे मन का विकास नही है उनके न तो मेरु रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते है। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म-शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका सवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मो से बन्धी

है। कम वद्ध आत्मा से ही कम पुदगल सम्बन्ध जोडते हैं और कम शरीर से चिपके हुए कम-पुदगल, अच्छे या बुरे, चाहे इस जन्म के हो या पिछले जन्मो के हो, जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय मे आते हैं। जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोइ भी पुदगल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस स्राव शरीर की ग्रन्थियो के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवत्तियो को सचालित करता है और प्रभावित भी करता है। यदि हम इस तथ्य को उचित रूप मे जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर पर ही न रुक कर उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुँच जाएँ। हमे उन रसायनो तक पहुँचना है जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे हैं। वहाँ भी हम न रुकें, आगे बढें और आत्मा के उन परिणामो तक पहुँचे, जो उन स्रावो को निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल हैं आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ कर आत्म परिणाम तक पहुँचे। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामो को भी। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरन्तर चलते रहते है। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रा की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होगे और वे ही आत्म परिणाम वासना की वत्तियो को उत्तेजना देने वाले चैतन्य केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होगे। जो चैतन्य केन्द्र क्रोध, मद, माया और लोभ की वृत्तियो को उत्तेजित करते हैं जो चैतन्य केन्द्र आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा को उत्तेजना देते हैं यदि उन चैतन्य केन्द्रो की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करें कि शरीर के किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग म मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते हैं। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम अपनी सारी वृत्तियो पर नियन्त्रण पा सकते हैं और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओ मे प्रवेश कर सकते है और अशुभ लेश्याओ से छुटकारा पा सकते हैं।

इस विषय मे गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ मे कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य लिखे हैं जो पता नही लेखक के निजी अनुभवो पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रन्थो के आधार पर, लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्त्वपूर्ण हैं। उसमे लिखा है—नाभि कमल की अनेक पखुडियाँ हैं। जब आत्म-परिणाम अमुक पखुडी पर जाता है तब क्रोध की वत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब मान की वत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुडी पर जाता है तब लोभ

की वृत्ति उभरती है। जब आत्म-परिणाम नाभि कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तियाँ उभरती है। जब आत्म-परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता जागृत होती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता किन्तु इस प्रतिपादन में एक बहुत बड़ी सच्चाई का उद्घाटन होता है कि मानव शरीर मे अनेक संवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रो पर मन को एकाग्र कर, मन से उसकी प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारों का उद्घाटन कर सकते है, ऐसी खिड़कियाँ खोल सकते हैं, जिनके द्वारा चेतना की रश्मियाँ बाहर निकल सकें और अघटित घटित कर सकें।

यह बहुत ही कठिन साधना है और निरन्तर लम्बे समय तक इसका अभ्यास करने पर ही व्यक्ति को कुछ उपलब्धि हो सकती है या अच्छे परिणाम निकल सकते है। अभ्यास किये बिना पुस्तकीय अध्ययन से कोरा ज्ञान होगा। आगमवाणी के अनुसार—

"अहिंसु विज्जा चरण पमोक्खं।"

दु ख मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करें। पहले जानो, फिर अभ्यास करो।

निष्कर्ष यह है कि कर्म आत्मा से नही चिपकते परन्तु कर्म-शरीर जो आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर रहता है, उससे चिपकते है।

सदर्भ : १—हरिमोहन गुप्ता "अरविद का सूक्ष्म शरीर", धर्म युग २० से २८–२–८०।

२—युवाचार्य महाप्रज्ञ—"शक्ति के जागरण सूत्र", प्रेक्षा ध्यान, मार्च, १९८०।

सवैया

कर्म प्रताप तुरंग नचावत, कर्म से छत्रपति सम होई।
कर्म से पूत कपूत कहावत, कर्म से और बड़ो नहीं कोई।।
कर्म फिर्यो जद रावण को, तब सोने की लंक पलक में खोई।
आप बढ़ाई कहा करे मूरख, कर्म करे सो करे नहीं कोई।।

१२ कर्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त

□ डॉ शिव मुनि

ज्ञान एक महान् निधि है। वह है भी हमारे भीतर ही। आश्चय तो इस बात का है कि जो हमारे भीतर है उसका हमे पता तो है किन्तु अनुभव नही है। इसके बीच मे कोई रुकावट अवश्य है। जन दशन मे उसी रुकावट को, आवरणो को कम कहा है।

कम एक निर्जीव तत्त्व है। आवरण जितने भी होते है सभी निर्जीव होते हैं। इन आवरणों को दूर करने के लिए अनेक सन्तो, ऋषियो, महर्षियों ने प्रयत्न किए हैं। कुछ उन प्रयत्नो मे सफल भी हुए हैं और कुछ सफलता की ओर अभी तक आगे बढ़ते चले आ रहे हैं। सभी का एक ही लक्ष्य है येन-केन-प्रकारेण। इन आवरणो से छुटकारा हो जाए। बन्धन से छुटकारा सब चाहते हैं किन्तु अपनी इस वास्तविक चाह के अनुरूप जब तक साधना नही होती छुटकारा सम्भव नही हो सकता। कर्मों से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले अपने ज्ञान को सही रूप मे जागृत किया जाए। जब तक ज्ञान का जागरण नही होगा, कौन छूटेगा, किससे छूटेगा, यह सब प्रश्न उलझे ही रह जाएँगे। इसीलिए भगवान् महावीर ने "पढम नाण" का सूत्र दिया है। प्रथम ज्ञान। कम क्या है, यह समझ लेना बहुत जरूरी है। इसी समझ को भगवान् महावीर ज्ञान कहते हैं। जिनमे यह समझ नही है वे अपनी ही नासमझी के कारण अज्ञानी कहे जाते हैं। जिसका ज्ञान आवृत्त है, ढका हुआ है, वह अज्ञानी है। आवरण के परमाणु जब तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं, तब तक वह परवश रहती है। हमारे चारो ओर जो परमाणु का जाल है, वही कम जाल है। इस जाल से वही निकल सकता है जो इसके मूल कारण को जानता है। आवरण के कारण को समझ लेना कर्मों से मुक्ति होने का प्रथम सूत्र है।

कम परमाणुओं की भी अपनी एक शक्ति होती है। जसे जसे कम हम करते हैं, वे परमाणु कम क्रिया के आरम्भ से ही अपने स्वभाव के अनुसार चलने लगते हैं। अपने स्वभाव के अनुसार काय ही कम का फल है। कुछ लोग कम फल के विषय में ईश्वर का नाम लेते हैं। पर यह सिद्धान्त सही प्रतीत नही होता। जब भगवान् इनसे रहित है, फिर वह किसी के कम फल के झमेले म क्यो पडेगा ? गीता मे इस विषय पर बडा ही सुन्दर विवेचन मिलता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्म फल सयोग, स्वभावास्तु प्रवर्तते ।।

हे अर्जुन ! न मैं कर्म करता हू, न ही ससार को बनाता हूँ । जीवों को उनके कर्म का फल भी नही देता हूँ । इस ससार मे जो भी कुछ हो रहा है, वह स्वभाव से ही हो रहा है । इससे स्पष्ट है कि न तो भगवान् संसार का निर्माण करते है और न ही कर्मो का फल ही देते हैं । कर्म एक प्रकार की शक्ति है । आत्मा भी अपने प्रकार की एक शक्ति है । कर्म आत्मा करता है । जो कर्म उसने किए है । वे अपने-अपने स्वभावानुसार उसे फल देते हैं । यहां किसी भी न्यायाधीण की आवश्यकता नही । हमारे आत्मप्रदेशो मे मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कपाय और योग इन पाच निमित्तो से हलचल होती है । जिस क्षेत्र मे आत्म-प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र मे कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बंध जाते । हैं कर्म का यह मेल दूध और पानी जैसा होता है । 'कर्म ग्रथ' मे कर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है —**कीरइ जोएण हे ऊहिं, जोण तो भणणए कम्म'** अर्थात् कपाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म होता है । कर्म दो प्रकार के होते है । एक भाव कर्म और दूसरा द्रव्य कर्म । आत्मा में राग, द्वेप आदि जो विभाव है, वे भाव कर्म हैं । कर्म वर्गणा के पुद्गलो का सूक्ष्म विकार द्रव्य कर्म कहलाता है । भाव कर्म का कर्त्ता उपादान रूप से जीव है और द्रव्य कर्म से जीव निमित्त कारण होता है । निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है । भाव कर्म मे द्रव्य कर्म निमित्त होता है और द्रव्य कर्म मे भाव कर्म निमित्त होता है । इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म दोनो का परस्पर बीज और अकुर की भाति कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है ।

ससार मे जितने भी जीव है, आत्मस्वरूप की दृष्टि से सब एक समान हैं फिर भी वे भिन्न-भिन्न अनेक योनियो मे, अनेक स्थितियो में शरीर धारण किए हुए है । एक अमीर है, दूसरा गरीब है । एक पडित है, दूसरा अनपढ है । एक सबल है दूसरा निर्बल है । एक मा के उदर से जन्म लेने वाले दो बालकों मे भी अन्तर देखा जाता है । अन्तर की इस विचित्रता मे कोई न कोई कारण तो अवश्य ही है । वह कारण है कर्म । हमे सुख-दु.ख का अनुभव होता है, वह तो प्रत्यक्ष दिखता है, किन्तु कर्म नही दिखते । जैन दर्शन मे कर्म को पुद्गल रूप माना है । इसलिए वह साकार है, मूर्त्त है । कर्म के जो कार्य है वे भी मूर्त्त हैं । जहा कारण मूर्त्त होता है, वहा उसका कार्य भी मूर्त्त ही होगा । जैसे घड़ा है, वह मिट्टी से बनता है । इससे मिट्टी कारण है और घडा कार्य है । दोनों मूर्त्त है । जिस प्रकार मूर्त्त कारण की बात कही गई है, अमूर्त्त कार्य-कारण के लिए भी यही नियम है । जहा कारण अमूर्त्त होगा, वहा उसका कार्य भी अमूर्त्त होगा । ज्ञान का कारण आत्मा है, यहा ज्ञान और आत्मा दोनो अमूर्त्त हैं । आप पूछ सकते है कि जब अमूर्त्त से अमूर्त्त की ही उत्पत्ति होती है तो फिर मूर्त्त कर्मो से सुख-

दु ख आदि अमूर्त तत्त्वो की उत्पत्ति कसे होती ह ? सुख आदि हमारी आत्मा के धम हैं और आत्मा ही उनका उत्पादन कारण है। कम तो केवल सुख दु ख मे निमित्त कारण रूप हैं। अत जो कुछ ऊपर कम के विषय मे कहा गया है वह इन पक्तियो से स्पष्ट हो जाता ह।

यहा यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब कम तो मूत्त हैं और आत्मा अमूत्त हैं फिर दोनो का मेल कसे खायेगा ? अमूत्त आत्मा पर कम कसे प्रभावी हो सकते हैं ? आपने कभी मदिरा तो देखी होगी। मदिरा मूत्त होती है। जब मनुष्य मदिरा को पी लेता है तो जिस प्रकार आत्मा के अमूत्त ज्ञान आदि गुणो पर उसका प्रभाव होता ह, ठीक उसी प्रकार मूत्त कर्मों का अमूत्त आत्मा पर प्रभाव होता है।

भारतीय दशन म यह कमवाद सिद्धा त अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता ह। चार्वाकों का छोडकर समस्त दाशनिक किसी न किसी रूप मे कमवाद को अवश्य स्वीकार करत हैं। भारतीय दशन, धम, साहित्य, कला और विज्ञान आदि सब पर कमवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पडता ह। जीव अनादि काल से कर्मों के वशीभूत होकर अनेक भवो मे भ्रमण करता चला आ रहा है। जीवन और मरण दोनो की जड कम ह। इस ससार मे ज म और मरण ही सबसे बडा दु ख है। जो जसा करता है, वैसा ही फल भोगना पडता ह। एक प्राणी पर दूसरे प्राणी के कमफल का प्रभाव नही होता। कम स्व सम्बद्ध होता ह, पर सम्बद्ध नही। यद्यपि सभी विचारको ने कमवाद को माना ह फिर भी जन शास्त्रा म इसका जितना विशद विवेचन मिलता है, उसकी तुलना अ यत्र दुलभ ही हैं। यही कारण है कि कमवाद जन दशन का एक आत्मीय अग बन गया ह। कमवाद के कुछ आधारभूत सिद्धा त होते हैं जि हे हम इस प्रकार समझ सकत हैं —

१ प्रत्येक क्रिया फलवती होती ह। कोई भी क्रिया निष्फल नही होती।
२ यदि किसी क्रिया का फल इस ज म म नही प्राप्त होता तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवाय है।
३ कर्मों का कत्ता और उनके फलो का भोक्ता यह जीव, कर्मों के प्रभाव से एक भव से दूसर भव म गमन करता रहता ह। अपने किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित काल-मर्यादा मे रहता हुआ अपने पूव कृत कर्मों का फलभोग तथा नए कर्मों का ब धन करता ह। यहा यह बात उल्लेखनीय है कि कम ब धन की इस परम्परा को तोडना भी उसकी शक्ति के अ तगत ही है।
४ ज मजात व्यक्ति भेद और असमानता कर्मों के कारण ही होती ह।

आत्मा की अन त शक्ति पर कर्मों का आवरण आया हुआ है जिसके कारण हम अपने आपसे परिचित नहीं हो पा रहे हैं। इन कर्मों से हम तभी मुक्त हो पाएँगे, जब हमे अपनी शक्ति का पूरा परिचय और भरोसा होगा। •

१३

कर्म और पुरुषार्थ

□ युवाचार्य महाप्रज्ञ

हम चर्चा करते है स्वतत्रता और परतत्रता की। कौन स्वतंत्र है और कौन परतत्र, कौन उत्तरदायी है, इन प्रश्नो का उत्तर एकान्त की भाषा मे नही दिया जा सकता। हम नही कह सकते कि हम पूर्ण स्वतत्र है। हम यह भी नही कह सकते कि हम पूर्ण परतत्र है। दोनो सापेक्ष है। हम स्वतत्र भी है और परतत्र भी। जहाँ-जहाँ निरपेक्ष प्रतिपादन होता है वहाँ समस्या का समाधान नही होता, सत्य उपलब्ध नही होता, सत्य के नाम पर असत्य उपलब्ध होता है।

महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया और उसका आधार माना प्रकाश की गति को। उन्होने प्रकाश की गति को स्टेण्डर्ड मानकर अनेक प्रयोग किए। प्रकाश की गति है एक सैकेण्ड मे एक लाख छियासी हजार मील की। इस आधार पर जो निर्णय लिए गए वे सारे सापेक्ष निर्णय है, निरपेक्ष नही। प्रकाश की गति सापेक्ष निर्णय है। प्रकाश की गति और तीव्र होती तो सारे निर्णय बदल जाते। काल छोटा भी हो जाता है और बड़ा भी हो जाता है। काल सिकुड जाता है सापेक्षता से। काल पीछे सरकता है और छलाग भी भरता है। काल का प्रतिक्रमण भी होता है और अतिक्रमण भी होता है। यह सारा सापेक्षता के आधार पर होता है। इसलिए सारे निर्णय सापेक्ष होते है। जहाँ सापेक्षता की विस्मृति होती है वहाँ तनाव पैदा होता है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म—ये सारे तत्त्व स्वतत्रता को सीमित करते है, परतत्रता को बढाते है। आदमी काल से, स्वभाव से, नियति से और कर्म से बधा हुआ है। बधन के कारण वह पूर्ण स्वतंत्र नही है। वह परतत्र है पर पूरा परतत्र भी नही है। यदि वह पूरा परतत्र होता तो उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता। उसका मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता और चेतना का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। चेतना रहती ही नही। उसका अपना कुछ रहता ही नही। वह कठपुतली बन जाता। कठपुतली पूर्णत परतत्र होती है। उसे जैसे नचाया जाता है वैसे नाचती है। कठपुतली नचाने वाले के इशारे पर चलती है। उसका अपना कोई अस्तित्व या कर्तृत्व नही है, [चेतना नही है।] जिसकी अपनी

चेतना नही होती वह परतन्त्र हो सकता है, पर शतप्रतिशत परतन्त्र तो वह भी नही होता ।

प्राणी चेतनावान् है । उसकी चेतना है । जहाँ चेतना का अस्तित्व है वहाँ पूरी परतन्त्रता की बात नही आती । दूसरी बात है—काल, कम आदि जितने भी तत्त्व है वे भी सीमित शक्ति वाले ह । दुनिया में असीम शक्ति सपन्न कोई नही है । सब मे शक्ति है और उस शक्ति की अपनी मर्यादा है । काल, स्वभाव, नियति और कम—ये शक्ति सपन्न है, पर इनकी शक्ति अमर्यादित नही है । लोगो ने मान रखा है कि कम सवशक्ति सपन्न है । सब कुछ उससे ही होता है । यह भ्रान्ति है । यह टूटनी चाहिए । सब कुछ कम से नहीं होता । यदि सब कुछ कम से ही होता तो मोक्ष होता ही नहीं । आदमी कभी मुक्त नही हो पाता । चेतना का अस्तित्व ही नही होता । कम की अपनी एक सीमा है । वह उसी सीमा मे अपना फल देता है, विपाक देता है । वह शक्ति की मर्यादा मे ही काम करता है ।

व्यक्ति अच्छा या बुरा कम अर्जित करता है । वह फल देता है, पर कब देता है, उस पर भी बधन है । उसकी मर्यादा है, सीमा है । मुक्त भाव से वह फल नही देता । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये उसकी सीमाएँ ह । प्रत्येक कम का विपाक होता है । माना जाता है कि दर्शनावरणीय कम का विपाक होता है तब नीद आती है । मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, अभी आपको नींद नही आ रही है । आप दत्तचित्त होकर प्रवचन सुन रहे ह । तो क्या दर्शनावरणीय कम का उदय या विपाक समाप्त हो गया ? दिन मे नीद नही आती तो क्या दिन में दर्शनावरणीय कम का उदय समाप्त हो गया ? रात को सोने का समय है । उस समय नीद आने लगती है, पहले नहीं आती । तो क्या दर्शनावरणीय कम का उदय समाप्त हो गया ? कम विद्यमान् है चालू है, पर वह विपाक देता है द्रव्य के साथ, काल और क्षेत्र के साथ । एक क्षेत्र मे नीद बहुत आती है और दूसरे क्षेत्र में नीद नही आती । एक काल म नीद बहुत सताती है और दूसरे काल म नीद गायब हो जाती है । क्षेत्र और काल—दोनो निमित्त बनते हैं कम के विपाक मे । बेचारे नारकीय जीवो को नीद कभी आती ही नही । कहाँ से आएगी ? वे इतनी सघन पीडा भोगते ह कि नीद हराम हो जाती है । तो क्या यह मान लें कि नारकीय जीवो में दर्शनावरणीय कम समाप्त हो गया ? नही, उनमे दर्शनावरणीय कम का अस्तित्व है, पर क्षेत्र या वेदना का ऐसा प्रभाव है कि नीद आती ही नही । प्रत्येक कम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, जन्म आदि आदि परिस्थितियो के साथ अपना विपाक देता है । ये सारी कम की सीमाएँ ह । कम सब कुछ नहीं करता । जब व्यक्ति जागरूक होता है तब किया हुआ कम भी टूटता सा लगता है ।

कम मे कितना परिवतन होता है, इसको समझना चाहिए । भगवान

महावीर ने कर्म का जो दर्शन दिया, उसे सही नही समझा गया। अन्यथा कर्मवाद के विषय मे इतनी गलत मान्यताएँ नहीं होती। आज भारतीय मानस मे कर्मवाद और भाग्यवाद की इतनी भ्रान्तपूर्ण मान्यताएँ घर कर गई हैं कि आदमी उन मान्यताओ के कारण बीमारी भी भुगतता है, कठिनाइयाँ भी भुगतता है और गरीबी भी भुगतता है। गरीब आदमी यही सोचता है कि भाग्य मे ऐसा ही लिखा है, अतः ऐसे ही जीना है। बीमार आदमी भी यही सोचता है कि भाग्य मे बीमारी का लेख लिखा हुआ है, अतः रुग्णावस्था में ही जीना है। वह हर कार्य मे कर्म का बहाना लेता है और दुःख भोगता जाता है। आज उसकी आदत ही बन गई है कि वह प्रत्येक कार्य मे बहाना ढूँढ़ता है।

एक न्यायाधीश के सामने एक मामला आया। लडने वाले थे पति और पत्नी/पत्नी ने शिकायत की कि मेरे पति ने मेरा हाथ तोड़ डाला। जज ने पति से पूछा—"क्या तुमने हाथ तोडा है?" उसने कहा—"हाँ! मैं शराब पीता हूँ। गुस्सा आ गया और मैंने पत्नी का हाथ तोड़ डाला।" जज ने सोचा—घरेलू मामला है। पति को समझाया, मारपीट न करने की बात कही और केस समाप्त कर दिया।

कुछ दिन बीते। उसी जज के समक्ष वे दोनो—पति-पत्नी पुनः उपस्थित हुए। पत्नी ने शिकायत के स्वर मे कहा—"इन्होने मेरा दूसरा हाथ भी तोड़ डाला है।" जज ने पति से पूछा। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा—"जज महोदय! मुझे शराब पीने की आदत है। एक दिन मैं शराब पीकर घर आया। मुझे देखते ही पत्नी बोली—शराबी आ गया। शराब की भाँति मैं उस गाली को भी पी गया। इतने मे ही पत्नी फिर बोली—न्यायाधीश भी निरा मूर्ख है, आज ये कारावास मे होते तो मेरा दूसरा हाथ नही टूटता। जब पत्नी ने यह कहा तब मैं अपने आपे से बाहर हो गया। मैंने स्वय का अपमान तो धैर्यपूर्वक सह लिया पर न्यायाधीश का अपमान नही सह सका और मैंने इसका दूसरा हाथ भी तोड डाला। यह मैंने न्यायाधीश के सम्मान की रक्षा के लिए किया। मैं अपराधी नही हूँ।"

आदमी को बहाना चाहिए। बहाने के आधार पर वह अपनी कमजोरियाँ छिपाता है। और इस प्रक्रिया से अनेक समस्याएँ खडी होती हैं। यदि आदमी साफ होता, बहानेबाजी से मुक्त होता तो समस्याएँ इतनी नही होती।

कर्म और भाग्य का बहाना भी बड़ा बहाना बन गया है। इसके सहारे अनेक समस्याएँ उभर रही हैं। इन समस्याओ का परिणाम आदमी को स्वय भुगतना पड़ रहा है। वह परिणामों को भोगता जा रहा है। जब दृष्टिकोण,

मान्यताएँ और धारणाएँ गलत होती हैं तब उनके परिणामों से उबारने वाला कोई नहीं होता।

"सब कुछ कर्म ही करता है"—यह अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। आदमी ने सापेक्षता को विस्मृत कर दिया। सब कुछ कर्म से नहीं होता।

काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत [हमारा किया हुआ] और पुरुषार्थ—ये पांच तत्त्व हैं। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये पांचों सापेक्ष हैं। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है। व्यक्ति स्वयं कुछ करता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कूए में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रति-ध्वनि होती है। बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धान्त है दुनिया का। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्त्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है, यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। इसलिए इसे कहा जाता है—पुराकृत। इसका अर्थ है—पहले किया हुआ। पांचवां तत्त्व है—पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ—दो नहीं, एक ही हैं। एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। इनमें अन्तर इतना सा है कि वर्तमान का पुरुषार्थ "पुरुषार्थ" कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ "कर्म" कहलाता है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है।

ये पांच तत्त्व हैं। पांचों सापेक्ष हैं। सर्व शक्तिमान एक भी नहीं है। सब की शक्तियाँ सीमित हैं, सापेक्ष हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतन्त्र भी हैं और परतन्त्र भी हैं।

दूसरा प्रश्न है—उत्तरदायी कौन? काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये सब हमें प्रभावित करते हैं, पर चारों उत्तरदायी नहीं हैं। उत्तरदायी है व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ, अपना कर्तृत्व। आदमी किसी भी व्यवहार या आचरण के दायित्व से छूट नहीं सकता। यह बहाना नहीं बनाया जा सकता कि "योग ऐसा ही था, कर्म था, नियति और स्वभाव था, इसलिए ऐसा घटित हो गया।" ऐसा

सोचना या बहाना करना गलत होगा । अपने उत्तरदायित्व को हमे स्वीकारना होगा । हमे यह कहना होगा कि अपने आचरण और व्यवहार का सारा उत्तरदायित्व हम पर है । "उत्तरदायी कौन" की मीमासा में मैंने पहले कहा था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्र के व्यक्ति भिन्न-भिन्न तत्त्वो को उत्तरदायी बताते है । मनोवैज्ञानिक, रासायनिक, शरीरशास्त्री और कर्मवादी—अपने-अपने दर्शन के अनुसार पृथक्-पृथक् तत्त्वो को उत्तरदायी कहते है । पर ये सब उत्तर सापेक्ष है । शरीर मे उत्पन्न होने वाले रसायन हमे प्रभावित करते हैं, नाडी-सस्थान हमे प्रभावित करता है, वातावरण और परिस्थिति हमे प्रभावित करती है । ये सब प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं, पर उत्तरदायित्व किसी एक का नही है । किसका होगा ? ये सब अचेतन है । काल अचेतन है, पदार्थ का स्वभाव अचेतन है, नियति और कर्म अचेतन है । हमारा ग्रन्थितत्र और नाडीतत्र भी अचेतन है । परिस्थिति और वातावरण भी अचेतन है । पूरा का पूरा तंत्र अचेतन है, फिर उत्तरदायित्व कौन स्वीकारेगा ? अचेतन कभी उत्तरादायी नही हो सकता । उसमे उत्तरदायित्व का बोध नही होता । वह दायित्व का निर्वाह भी नही करता । दायित्व का प्रश्न चेतना से जुड़ा हुआ है । चेतना के सदर्भ मे ही उस पर मीमासा की जा सकती है । जहाँ ज्ञान होता है वहाँ उत्तरदायित्व का प्रश्न आता है । जब सब अधे ही अधे है वहाँ दायित्व किसका होगा । अंधो के साम्राज्य मे दायित्व किसका ? सब पागल ही पागल हो तो दायित्व कौन लेगा ? पागलो के साम्राज्य मे जो पागल नही होता, उसे भी पागल बन जाना पडता है । यदि वह पागल नही बनता है तो सुख से जी नही सकता । दायित्व की बात केवल चेतना जगत् मे आती है जहाँ चेतना का विवेक और बोध होता है और दायित्व-निर्वाह की क्षमता है । हमारा पुरुषार्थ चेतना से जुडा हुआ है । पुरुषार्थ चेतना से निकलने वाली वे रश्मियाँ है जिनके साथ दायित्व का बोध और दायित्व का निर्वाह जुडा हुआ है ।

हमारा पुरुषार्थ उत्तरदायी होता है । इसको हम अस्वीकार नही कर सकते । हमे अत्यन्त ऋजुता के साथ अपने व्यवहार और आचरण का दायित्व ओढ लेना चाहिए । उसमे कोई झिझक नही होनी चाहिए । जब तक हम अपने आचरण और व्यवहार के उत्तरदायित्व का अनुभव नही करेगे तब तक उनमे परिष्कार भी नही करेगे ।

हमारे समक्ष दो स्थितियाँ है—एक है अपरिष्कृत आचरण और व्यवहार और दूसरी है परिष्कृत आचरण और व्यवहार । जब तक उत्तरदायित्व का अनुभव नही करेगे तब तक आचरण और व्यवहार अपरिष्कृत ही रहेगा, अपरिमार्जित और पाशविक ही रहेगा । वह कभी ऊँचा या पवित्र नही बनेगा । वह कभी स्वार्थ की मर्यादा से मुक्त नही बनेगा ।

भगवान् महावीर ने कर्मवाद के क्षेत्र मे जो सूत्र दिए, मैं दार्शनिक दृष्टि

से उन्हें बहुत मूल्यवान मानता हूँ। सामान्य आदमी इतना ही जानता है कि आदमी कर्म से बंधा हुआ है। अतीत से बंधा हुआ है। महावीर ने कहा—'किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा।" यह सामान्य सिद्धान्त है। इसके कुछ अपवाद-सूत्र भी हैं। कर्मवाद के प्रसंग मे भगवान् महावीर ने उदीरणा, सक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के सूत्र भी दिए। उन्होंने कहा—कर्म को बदला जा सकता है, [कर्म को तोड़ा जा सकता है], कर्म को पहले भी किया जा सकता है, कर्म को बाद में भी किया जा सकता है। यदि पुरुषार्थ सक्रिय हो, जागृत हो तो हम जैसा चाहें वैसे कर्म को उसी रूप मे बदल सकते हैं। सक्रमण का सिद्धान्त कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है। मैंने इस पर जैसे-जैसे चिन्तन किया, मुझे प्रतीत हुआ कि आधुनिक "जीव विज्ञान" की जो नई वैज्ञानिक धारणाएँ और मान्यताएँ आ रही हैं, वे इसी सक्रमण सिद्धान्त की उपजीवी हैं। आज के वैज्ञानिक इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि "जीन" को यदि बदला जा सके तो पूरी पीढ़ी का कायाकल्प हो सकता है। यदि ऐसी कोई टेक्निक प्राप्त हो जाए, कोई सूत्र हस्तगत हो जाए, जिससे "जीन" मे परिवर्तन लाया जा सके तो अकल्पित क्रान्ति घटित हो सकती है। यह "जीन" व्यक्तित्व निर्माण का घटक तत्त्व है।

सक्रमण का सिद्धान्त जीन को बदलने का सिद्धान्त है। सक्रमण से जीन को बदला जा सकता है। कर्म परमाणुओं को बदला जा सकता है। बड़ा आश्चर्य हुआ जब एक दिन हमने इस सूत्र को समझा। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ मुनि भी इस सिद्धान्त को आश्चर्य से देखने लगे। एक घटना याद आती है। मैं अपनी पहली पुस्तक "जीव अजीव" लिख रहा था। उस समय हमारे संघ के आगमज्ञ मुनि रंगलालजी [बाद मे वे संघ से पृथक् हो गए] उनके सामने मेरी पुस्तक का एक अंश आया। उसमे चर्चा थी कि पाप को पुण्य में बदला जा सकता है और पुण्य को पाप मे बदला जा सकता है। मुनि रंगलालजी ने कहा—यह नहीं हो सकता। इस पर पुनश्चिन्तन करना चाहिए। मैंने सोचा—आगम के विशेष अध्येता मुनि ऐसा कह रहे हैं, मुझे पुनः सोचना चाहिए। मैंने सोचा, पर मेरे चिन्तन में वही बात आ रही थी। मैंने सक्रमण पर और गहराई से चिन्तन किया। पर निष्कर्ष वही आ रहा था, जो मैंने लिखा था। मैंने उन मुनि से कहा—क्या यह सम्भव नहीं है कि किसी ने पाप कर्म का बंध किया, किन्तु बाद में वही व्यक्ति अच्छा पुरुषार्थ करता है तो क्या पाप, जो कुफल देने वाला है, वह पुण्य के रूप में नहीं बदल जाएगा? इसी प्रकार एक व्यक्ति ने पुण्य कर्म का बंध किया, किन्तु बाद में इतने बुरे कर्म किए, बुरा आचरण और व्यवहार किया, तो क्या वे पुण्य के परमाणु पाप के रूप में नहीं बदल जाएँगे? उन्होंने कहा—ऐसा तो हो सकता है। मैंने कहा—यही तो मैंने लिखा है। यही तो सक्रमण का सिद्धान्त है। एक कथा के माध्यम से यह बात और स्पष्टता से समझ में आ जाती है—

दो भाई थे। एक बार दोनो एक ज्योतिषी के पास गए। बड़े भाई ने अपने भविष्य के बारे मे पूछा। ज्योतिषी ने कहा—"तुम्हें कुछ ही दिनो के पश्चात् सूली पर लटकना पडेगा। तुम्हे सूली की सजा मिलेगी।" छोटे भाई ने भी अपना भविष्य जानना चाहा। ज्योतिषी बोला—तुम भाग्यवान् हो। तुम्हे कुछ ही समय पश्चात् राज्य मिलेगा, तुम राजा बनोगे। दोनो आश्चर्य-चकित रह गए। कहाँ राज्य का लाभ और कहाँ सूली की सजा ? असम्भव-सा था। दोनो घर आ गए। बड़े भाई ने सोचा—ज्योतिषी ने जो कहा है, सम्भव है वह बात मिल जाए। अब मुझे सम्भल कर कार्य करना चाहिए। वह जागरूक और अप्रमत्त बन गया। उसका व्यवहार और आचरण सुधर गया। उसे मौत सामने दीख रही थी। जब मौत सामने दीखने लगती है तब हर आदमी बदल जाता है। बड़े-से-बड़ा नास्तिक भी मरते-मरते आस्तिक बन जाता है। ऐसे नास्तिक देखे हैं जो जीवन भर नास्तिकता की दुहाई देते रहे, पर जीवन के अतिम क्षणो मे पूर्ण आस्तिक बन गए। बड़े भाई का दृष्टिकोण बदल गया, आचरण और व्यवहार बदल गया और उसके व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो गया।

छोटे भाई ने सोचा—राज्य मिलने वाला है, अब चिन्ता ही क्या है ? वह प्रमादी बन गया। उसका अहं उभर गया। अब वह आदमी को कुछ भी नही समझने लगा। एक-एक कर अनेक बुराइयाँ उसमे आ गईं। भविष्य में प्राप्त होने वाली राज्य सत्ता के लोभ ने उसे अंधा बना डाला। सत्ता की मदिरा का मादकपन अनूठा होता है। उसकी स्मृति मात्र आदमी को पागल बना देती है। वह सत्ता के मद मे मदोन्मत्त हो गया। वह इतना बुरा व्यवहार और आचरण करने लगा कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती।

कुछ दिन बीते। बडा भाई कही जा रहा था। उसके पैर मे सूल चुभी और वह उसके दर्द को कुछ दिनो तक भोगता रहा। छोटा भाई एक अटवी से गुजर रहा था। उसकी दृष्टि एक स्थान पर टिकी। उसने उस स्थान को खोदा और वहाँ गड़ी मोहरो की थैली निकाल ली।

चार महीने बीत गए। दोनो पुनः ज्योतिषी के पास गए। दोनो ने कहा—ज्योतिषीजी ! आपकी दोनो बाते नही मिली। न सूली की सजा ही मिली और न राज्य ही मिला। ज्योतिषी पहुँचा हुआ था। बडा निमित्तज्ञ था। उसने बड़े भाई की ओर मुडकर कहा—"मेरी बात असत्य हो नही सकती। तुमने अच्छा आचरण किया अन्यथा तुम पकड़े जाते और तुम्हे सूली की सजा मिलती। पर वह सूली की सजा शूल से टल गई। बताओ, तुम्हारे पैर मे शूल चुभी या नही ?" छोटे भाई से कहा—"तुम्हे राज्य प्राप्त होने वाला था। पर

तुम प्रमत्त बने, बुरा आचरण करने लगे। तुम्हारा राज्य लाभ मोहरों में टल गया।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि सचित पुण्य बुरे पुरुषार्थ से पाप मे बदल जाते हैं और सचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य मे बदल जाते हैं। यह सक्रमण होता है, किया जाता है।

मुनिजी को फिर मैंने कहा—यह जन दर्शन का मान्य सिद्धान्त है और मैंने इसी का "जीव अजीव" पुस्तक मे विमर्श किया है। 'स्थानांग' सूत्र मे चतुर्भंगी मिलती है—

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, त जहा—

सुभे नाम मेगे सुभविवागे,
सुभे नाम मेगे असुभविवागे,
असुभे नाम मेगे सुभविवागे,
असुभे नाम मेगे असुभविवागे। (ठाण ४/६०३)

एक होता है शुभ, पर उसका विपाक होता है अशुभ। दूसरे शब्दो मे बधा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप। बधा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य। कितनी विचित्र बात है। यह सारा सक्रमण का सिद्धान्त है। शेष दो विकल्प सामान्य हैं। जो अशुभ रूप मे बधा है, उसका विपाक अशुभ होता है और जो शुभरूप मे बधा है, उसका विपाक शुभ होता है। इन दो विकल्पो म कोई विमर्शणीय तत्त्व नही है, किन्तु दूसरा और तीसरा—ये दोनो विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और सक्रमण सिद्धान्त के प्ररूपक हैं। सक्रमण का सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ-शुभ मे और शुभ अशुभ मे बदल जाता है।

इस सदर्भ म हम पुरुषार्थ का मूल्याकन करें और सोचें कि दायित्व और कर्तृत्व किसका है? हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सारा दायित्व और कर्तृत्व है पुरुषार्थ का। अच्छा पुरुषार्थ कर आदमी अपने भाग्य को बदल सकता है। अनेक बार निमित्त बताते हैं—भाई! तुम्हारा भाग्य अच्छा है, पर अच्छा कुछ भी नहीं होता। क्योंकि वे अपने भाग्य का ठीक निर्माण नही करते, पुरुषार्थ का ठीक उपयोग नही करते। पुरुषार्थ का उचित उपयोग न कर सकने के कारण कुछ भी नहीं हुआ और बेचारा ज्योतिषी झूठा हो गया। उसकी भविष्यवाणी असत्य हो गई।

ज्योतिषी ने किसी को कहा कि तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है। उस व्यक्ति

ने उसी दिन से अच्छा पुरुषार्थ करना प्रारम्भ कर दिया और उसका भविष्य अच्छा हो गया।

सुकरात के सामने एक व्यक्ति आकर बोला—"मैं तुम्हारी जन्म-कुंडली देखना चाहता हूँ।" सुकरात बोला—"अरे! जन्मा तब जो जन्म-कुंडली बनी थी, उसे मैं गलत कर चुका हूँ। मैं उसे बदल चुका हूँ। अब तुम उसे क्या देखोगे ?"

पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपनी जन्म-कुंडली को भी बदल देता है। ग्रहों के फल-परिणामो को भी बदल देता है, भाग्य को बदल देता है। इस दृष्टि से मनुष्य का ही कर्तृत्व है, उत्तरदायित्व है। दूसरे शब्दो मे पुरुषार्थ का ही कर्तृत्व है और उत्तरदायित्व है। महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त पर बल दिया, पर एकागी दृष्टिकोण की स्थापना नही की। उन्होंने सभी तत्त्वों के समवेत कर्तृत्व को स्वीकार किया, पर उत्तरदायित्व किसी एक तत्त्व का नही माना।

भगवान् महावीर के समय की घटना है। शकडाल नियतिवादी था। भगवान् महावीर उसके घर ठहरे। उसने कहा—"भगवन्! सब कुछ नियति से होता है। नियति ही परम तत्त्व है।" भगवान् महावीर बोले—"शकडाल! तुम घड़े बनाते हो। बहुत बड़ा व्यवसाय है तुम्हारा। तुम कल्पना करो, तुम्हारे आवे से अभी-अभी पककर पाँच सौ घड़े बाहर निकाले गए हैं। वे पड़े हैं। एक आदमी लाठी लेकर आता है और सभी घड़ो को फोड़ देता है। इस स्थिति में तुम क्या करोगे ?"

शकडाल बोला—"मैं उस आदमी को पकड़ कर मारूँगा, पीटूँगा।"

महावीर बोले—"क्यो।"

शकडाल ने कहा—"उसने मेरे घड़े फोडे है, इसलिए वह अपराधी है।"

महावीर बोले—"बडे आश्चर्य की बात है। सब कुछ नियति करवाती है। वह आदमी नियति से बंधा हुआ था। नियति ने ही घड़े फुड़वाए है। उस आदमी का इसमे दोष ही क्या है ?"

यह चर्चा आगे बढती है और अन्त मे शकडाल अपने नियति के सिद्धान्त को आगे नही खीच पाता, वह निरुत्तर हो जाता है।

पुरुषार्थ का अपना दायित्व है। कोई भी आदमी यह कहकर नही बच सकता कि मेरी ऐसी ही नियति थी। हमे सचाई का, यथार्थता का अनुभव करना होगा।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अप्रमाद बढ़े और प्रमाद घटे, जागरूकता बढ़े और मूर्छा घटे। पुरुषार्थ का उपयोग सही दिशा मे बढ़े और गलत दिशा मे जाने वाला पुरुषार्थ टूटे। हम अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करे। □

१४ कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय

□ श्री राजीव प्रचडिया

सूक्ष्म पुद्गल परमाणुग्रा का बना हुआ सूक्ष्म/ग्रदृश्य शरीर वस्तुत कार्माण शरीर कहलाता है। यह कार्माण शरीर ग्रात्मा मे व्याप्त रहता है। आत्मा का जो स्वभाव (ग्रनन्त ज्ञान दर्शन, ग्रनन्त ग्रानन्द शक्ति ग्रादि) है, उस स्वभाव को जब यह सूक्ष्म शरीर विकृत/आच्छादित करता है तब यह आत्मा सासारिक/बद्ध हो जाता है ग्रर्थात् राग द्वेपादिक कापायिक भावनाग्रो के प्रभाव मे ग्रा जाता है ग्रर्थात कर्मबन्धन मे बँध जाता है जिसके फलस्वरूप यह जीवात्मा ग्रनादिकाल से एक भव/योनि से दूसरे भव/योनि मे ग्रर्थात ग्रनन्त-भवो/ग्रनन्त योनियो मे इस ससार चक्र मे परिभ्रमण करता रहता है।

कर्म जसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का सूक्ष्म तथा वज्ञानिक विश्लेपण जितना जन दर्शन करता है उतना विज्ञान सम्मत ग्रन्य दर्शन नही। जैन दर्शन के समस्त सिद्धान्त/मान्यताएँ वास्तविकता से ग्रनुप्राणित, प्रकृति ग्रनुरूप तथा पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। फलस्वरूप जैन धर्म एक व्यावहारिक तथा जीवनोप योगी धर्म है।

'कर्मबन्धन' की प्रणाली को समझने के लिए जनदर्शन मे निम्न पाँच महत्त्वपूर्ण बातो का उल्लेख निरूपित है, यथा—

(१) ग्रास्रव,
(२) बन्ध,
(३) सवर,
(४) निर्जरा, तथा
(५) मोक्ष।

मनुष्य जब कोई कार्य करता है, तो उसके आस-पास के वातावरण मे क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारो ओर उपस्थित कर्म शक्ति युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणु/कार्माण वर्गणा/कर्म आत्मा की ओर ग्राकर्षित होते हैं। इनका आत्मा की ग्रोर ग्राकर्षित होना आस्रव तथा आत्मा के साथ क्षेत्रावगाह/एक ही स्थान मे रहने वाला सम्बन्ध बन्ध कहलाता है। इन परमाणुग्रो को ग्रात्मा की ग्रोर ग्राकृष्ट न होने देने की प्रक्रिया वस्तुत सवर है। 'निर्जरा'

आत्मा से इन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं के छूटने का विधि-विधान है तथा आत्मा का सर्वप्रकार के कर्म-परमाणुओ से मुक्त होना मोक्ष कहलाता है। वास्तव मे कर्मो के आने का द्वार आस्रव है जिसके माध्यम से कर्म आते है। संवर के माध्यम से यह द्वार बन्द होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है तथा जो कर्म आस्रव-द्वार द्वारा पूर्व ही बद्ध/सचित किए जा चुके है, उन्हे निर्जरा अर्थात् तप/साधना द्वारा ही दूर/क्षय किया जा सकता है। इस प्रकार सवर और निर्जरा मुक्ति के कारण है, तथा आस्रव और बन्ध संसार-परिभ्रमण के हेतु हैं। इन उपर्युक्त पाँच वातो को जैन दर्शन मे तत्त्व कहा गया है। यह निश्चित है कि तत्त्व को जाने/समझे विना कर्म-रहस्य को समझ पाना नितान्त असम्भव है। मोक्ष मार्ग मे तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते है।

'तस्यभावस्तत्त्वम्' अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानना तत्त्व कहलाता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु के प्रति वही भाव रखना, तत्त्व है, किन्तु वस्तु स्वरूप के विपरीत जानना/मानना मिथ्यात्व/उल्टी मान्यता/यथार्थ ज्ञान का अभाव है। यह मिथ्यात्व काषायिक भावनाओ (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा अविरति (हिंसा, झूठ, प्रमाद) आदि मनोविकारो को जन्म देता है, जिससे कर्मो का आस्रव-बन्ध होता है। उपरोक्त तत्त्वो को सही-सही रूप मे जान लेने/सम्यग्दर्शन के पश्चात् पर-स्व भेद वुद्धि को समझकर/सम्यग्ज्ञान के तदनन्तर इन तत्त्वो के प्रति श्रद्धान तथा भेद-विज्ञान पूर्वक इन्हे स्व मे लय करने/सम्यग् चारित्र से कर्मो का सवर निर्जरा होता/होती है। निर्जरा हो जाने पर तथा समस्त कर्मो से मुक्ति मिलने पर ही जीव ससार के आवागमन से छूट जाता है। निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन मे कार्माण वर्गणा/कर्म-शक्ति युक्त परमाणु/कर्म, को मूलतः दो भागो मे विभक्त किया गया है। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करते है, घाति कर्म कहलाते है जिनके अन्तर्गत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म आते है तथा दूसरे वे कर्म जिनके द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप के आघात की अपेक्षा जीव की विभिन्न योनियाँ, अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती है, अघाति कर्म कहलाते है, इनमे नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म समाविष्ट है।

ज्ञानावरणीय कर्म :

कार्माण वर्गणा/कर्म परमाणुओ का वह समूह जिससे आत्मा का ज्ञान गुण प्रच्छन्न रहता है, ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के प्रभाव मे आत्मा के अन्दर व्याप्त ज्ञान-शक्ति शीर्ण होती जाती है। फलस्वरूप जीव रुढि-क्रिया काण्डो मे ही अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट करता है। इस कर्म के क्षय के लिए सतत स्वाध्याय करना जैनागम मे वताया गया है।

दशनावरणीय कम

कर्म शक्ति युक्त परमाणुश्रा का वह समूह जिसके द्वारा आत्मा का अनन्त दशन स्वरूप अप्रकट रहता है, दर्शनावरणीय कम कहलाता है। इस कम के कारण आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानने में सवथा असमथ रहता है। फलस्वरूप वह मिथ्यात्व का आश्रय लेता है।

मोहनीय कम

इस कम के अन्तर्गत वे कामण वर्गणाएँ आती हैं जिनके द्वारा जीव म मोह उत्पन्न होता है। यह कम आत्मा के शान्ति-सुख आनन्द स्वभाव को विकृत करता है। मोह के वशीभूत जीव स्व-पर का भेद विज्ञान भूल जाता है। समाज मे व्याप्त सघष इसी के कारण हैं।

अन्तराय कर्म

आत्मा में व्याप्त ज्ञान दशन आनन्द के अतिरिक्त अन्य सामथ्य शक्ति को प्रकट करने में जो कम परमाणु बाधा उत्पन्न करते हैं, वे सभी अन्तराय कर्म के अन्तगत आते हैं। इस कम क कारण ही आत्मा मे व्याप्त अनन्त शक्ति का ह्रास होने लगता है। आत्म विश्वास की भावनाएँ, सकल्प शक्ति तथा साहस-वीरता आदि मानवीय गुण प्राय लुप्त हो जाते हैं।

नाम कम

इस कम के द्वारा जीव एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है तथा उसके शरीरादि का निर्माण भी इन्ही कम वगणाओं के द्वारा हुआ करता है।

गोत्र कम

कम परमाणुश्रा का वह समूह जिनके द्वारा यह निर्धारित होता है कि जीव किस गोत्र, कुटुम्ब, वश, कुल-जाति तथा देश आदि मे जन्म ले, गोत्र कम कहलाता है। य कम परमाणु जीव म अपने जन्म की स्थिति के प्रतिमान-स्वाभिमान तथा ऊँच नीच-हीन भाव आदि का बोध कराते है।

आयु कम

इस कर्म के माध्यम से जीव की आयु निश्चित हुआ करती है। स्वग-मनुष्य तियञ्च-नरक गति म कौनसी गति जीव का प्राप्त हो, यह इसी कम पर नि ार करता है।

वेदनीय कम

इस कम के द्वारा जीव को सुख-दुःख की वेदना का अनुभव हुआ करता है।

इन अष्ट कर्मों की एक सौ अडतालीस उत्तर-प्रकृतियाँ जैनागम में उल्लिखित है जिनमे ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तेरानवे, गोत्र की दो तथा अन्तराय की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है।

उपरोक्त कर्म-परमाणुओ के भेद-प्रभेदो का सम्यक् ज्ञान होने के उपरान्त यह सहज मे कहा जा सकता है कि घाति-अघाति कर्म आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव मे ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्य शक्ति को शीर्ण करते है तथा ये कर्म जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते है जिसके फलस्वरूप ससारी जीव सुख-दुःख के घेरे मे घिरे रहते है।

इन अष्ट कर्मों के अतिरिक्त 'नोकर्म' का भी उल्लेख आगम मे मिलता है। कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीरादि रूप पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दु ख मे सहायक होता है, वस्तुतः 'नोकर्म' कहलाता है। ये 'नोकर्म' भी जीव पर अन्य कर्मो की भाँति अपना प्रभाव डाला करते हैं।

जैन दर्शन की मान्यता है कि 'सकम्मुणा विप्परिया सुवेड' अर्थात् प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मो से कष्ट पाता है। आत्मा स्वय अपने द्वारा ही कर्मों की उदीर्णा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा-आलोचना करता है और अपने कर्मो के द्वारा कर्मो का सवर-आस्रव का निरोध भी करता है। यह निश्चित है कि जैसा व्यक्ति कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। ऐसा कदापि नही होता कि कर्म कोई करे और उसका फल कोई अन्य भोगे। इस दर्शन के अनुसार 'अप्पो वि य परमप्पो, कम्म विमुक्को यहोइ पुडं' अर्थात् प्रत्येक आत्मा कृत कर्मो का नाश करके परमात्मा बन सकता है। यह एक ऐसा दर्शन है जो आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है तथा परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है किन्तु यहाँ परमात्मा के पुनः भवातरण की मान्यता नही है। वास्तव मे सब आत्माएँ समान तथा अपने आप मे स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण हैं। वे किसी अखड सत्ता का अश रूप नही है। किसी कार्य का कर्त्ता यहाँ परकीय शक्ति को नही माना गया है। अत· जैन-दर्शन कर्मफल देने वाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति अथवा ईश्वर को नही मानता। फलस्वरूप प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार स्वय कर्त्ता और उसका भोक्ता है।

जैन दर्शन मे कर्मबन्ध के पाँच मुख्य हेतु—मिथ्यात्व असयम, प्रमाद, कषाय तथा योग (काय-मन-वचन की क्रिया)—उल्लिखित है। इनमे लिप्त रहकर जीव कर्म जाल मे बुरी तरह से जकड़ा रहता है। इनसे मुक्त्यिर्थ जीव को अपने भावो को सदैव शुद्ध रखने के लिए कहा गया है क्योकि कोई भी कार्य

करते समय यदि जीव की भावना शुद्ध तथा राग-द्वेष, क्रोध-मान माया लोभ-कषायों से निर्लिप्त, वीतरागी है, तो उस समय शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी भी प्रकार का कर्मबन्ध जीव में नहीं होता। मूलत जीव के मनोविकार ही कर्मबन्ध की स्थिति को स्थिर किया करते हैं। कार्य करते समय जिस प्रकार का भाव जीव के मन में उत्पन्न होता है, उसी भाव के तद्रूप ही जीव में कर्म बन्ध स्थिर हुआ करता है। प्राय यह देखा/सुना जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही प्रकार के कार्य करने पर भी उनमें भिन्न भिन्न प्रकार का कर्मबन्ध होता है। इसका मूल कारण है कि एक ही प्रकार के कार्य करते समय इन व्यक्तियों के भाव सर्वथा भिन्न प्रकार के होते हैं, फलस्वरूप इनमें भिन्न भिन्न प्रकार का कर्मबन्ध होता है। जैन दर्शन में 'कर्मबन्ध' को चार भागों में विभाजित किया गया है, यथा—

(१) प्रकृति बन्ध,
(२) स्थिति बन्ध,
(३) अनुभव/अनुभाग बन्ध,
(४) प्रदेश बन्ध।

प्रकृति बन्ध

जो बन्ध कर्मों की प्रकृति/स्वभाव स्थिर किया करता है, प्रकृति बन्ध कहलाता है।

स्थिति बन्ध

यह बन्ध कर्म फल की अवधि/काल को निश्चित करता है।

अनुभाग बन्ध

कर्मफल की तीव्र या मन्द शक्ति की निश्चितता अनुभाग बन्ध कहलाती है।

प्रदेश बन्ध

कर्मबन्ध के समय आत्मा के साथ कार्माण वर्गणा/कर्म का सम्बन्ध जितनी संख्या या शक्ति के साथ होता है, प्रदेश बन्ध कहलाता है।

इन चार प्रकार के कर्मबन्धों में प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से तथा कषाय मिथ्यात्व-अविरति प्रमाद के निमित्त से स्थिति और अनुभाग बन्ध हुआ करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के गुणों का तारतम्य गुणस्थान/जीवस्थान कहलाता है। अर्थात जीव के आध्यात्मिक विकास का क्रम गुणस्थान/जीवस्थान है। ये गुणस्थान/जीवस्थान मिथ्या दृष्टि आदि के भेद से चौदह होते हैं जिनमें प्रारम्भ के बारह

गुणस्थान मोह से सम्बन्धित है तथा अन्तिम दो गुणस्थान योग से। इन गुणस्थानो में कर्मबन्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए जैनाचार्यो ने बताया कि प्रथम दश गुणस्थान तक चारों प्रकार के बन्ध उपस्थित रहते हैं किन्तु ग्यारहवे गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही शेष रहते है तथा चौदहवें गुणस्थान मे ये दोनो भी समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर चारो प्रकार के बन्ध से मुक्त होकर यह जीवात्मा सिद्ध/परमात्मा हो जाता है।

यह निश्चित है कि आत्मा कर्म और नोकर्म जो पौद्‌गलिक है, से सर्वथा भिन्न है। इस पर पौद्‌गलिक वस्तुओ का कोई प्रभाव नही पड़ा करता, यह अनुभूति भेद-विज्ञान कहलाती है, जो जीव को तप/साधना की ओर प्रेरित करती है। आगम मे तप की परिभाषा मे कहा गया है कि 'परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्' अर्थात् कर्मो का क्षय करने के लिए जो तपा जाय वह तप है। जैन दर्शन मे तप के मुख्यतया दो भेद किए गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप के अन्तर्गत अनशन/उपवास, अवमौदर्य/ऊनोदर, रस-परित्याग, भिक्षाचरी/वृत्तिपरिसख्यान, परिसलीनता/विविक्तशय्यासन और कायाक्लेश तथा आभ्यन्तर तप में—विनय, वैयावृत्य/सेवा-सुश्रूषा, प्रायश्चित, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग/व्युत्सर्ग नामक तप आते है। आभ्यन्तर तप की अपेक्षा बाह्य तप व्यवहार मे प्रत्यक्ष परिलक्षित है किन्तु कर्म क्षय और आत्म-शुद्धि के लिए तो दोनो ही प्रकार के तप का विशेष महत्त्व है। वास्तव मे तप के माध्यम से ही जीव अपने कर्मो का परिणमन कर निर्जरा कर सकता है। इसके द्वारा कर्म-आस्रव समाप्त हो जाता है और अन्ततः सर्वप्रकार के कर्म-जाल से जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है। कर्म मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त्यर्थ जैन-दर्शन का लक्ष्य रहा है—वीतराग-विज्ञानिता की प्राप्ति। यह वीतरागता सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। वस्तुतः श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से कर्मों का निरोध होता है। जब जीव सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होता है तब आस्रव से रहित होता है जिसके कारण सर्वप्रथम नवीन कर्म कटते/छँटते हैं, फिर पूर्वबद्ध/सचित कर्म क्षय/दूर होने लगते है। कालान्तर मे मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये तीन कर्म भी एक साथ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते है। इसके उपरान्त शेष बचे चार अघाति कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मो का क्षय/दूर कर जीव निर्वाण/मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आगम मे कहा गया है कि 'कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्षः।' उपर्यकित कथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-मल से दूर हटने के लिए जीवन मे रत्नत्रय की समन्वित साधना नितान्त उपयोगी एव सार्थक है।

१५ कर्म एव लेश्या

□ श्री चांदमल कर्णावट

ससार के प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य बधनो से मुक्त होना और दु खो से छुटकारा पाना है। किसी भी प्राणी को दु ख अभीष्ट नही होता, सभी प्राणी सुख चाहते हैं, ऐसा सुख जो कभी दु ख रूप मे परिणत न हो। इस स्थिति को दूसरे शब्दों में मोक्ष या मुक्ति कहा गया है।

जैन-दर्शन म तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति ने मोक्ष की परिभाषा दी है—'कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष' अर्थात समस्त कर्मों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है। इन कर्मों के क्षय से ही शाश्वत सुख की स्थिति प्राप्त होती है। अब यह समझना आवश्यक है कि यह कर्म क्या है जो आत्मा को बधनो मे जकड देता है? उसके क्षय से किस प्रकार आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनती है तथा इस कर्म का और लेश्या का क्या सम्बन्ध है?

कर्म क्या है?

जैन दर्शन मे कर्म का अर्थ क्रिया करना नही है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है राग-द्वेषादि परिणामों से एकत्रित कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ बध जाना। आत्मा कर्म करते हुए शुभ और अशुभ पुद्गलो का बध करती है और उसके फलस्वरूप उसके शुभाशुभ फलों को भोगते हुए ससार मे चक्कर लगाती रहती है अथवा जन्म मरण करती रहती है। वह मुक्त दशा को प्राप्त नही होती।

कर्म के एक अपेक्षा से दो भेद किये गए हैं—(१) द्रव्य कर्म एव भाव कर्म। द्रव्य कर्म पुद्गल रूप हैं। भाव कर्म इन पुद्गलों को एकत्र करने में कारणभूत शुभाशुभ विचार हैं। द्रव्य कर्म, भाव कर्म के लिये एव भाव कर्म द्रव्य कर्म के लिय कारणभूत हैं। दोनो ही परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैन-दर्शन की एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि' अर्थात् कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। निकाचित कर्मों की अपेक्षा यह उक्ति सही है क्योंकि निकाचित कर्म का विपाक या फल आत्मा को भोगना ही होता है। परन्तु निमत्त प्रकार के कर्मों में पुरुषार्थ के द्वारा

आत्मा परिवर्तन ला सकती है। और केवल प्रदेशोदय द्वारा ये कर्म क्षय हो सकते हैं।

'जैन-दर्शन : स्वरूप और विश्लेपण' में श्री देवेन्द्र मुनि का कथन कितना सार्थक है। उन्होंने लिखा है—'संसार को घटाने-बढाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायो पर विशेष आधारित है।' यही कर्म के साथ लेश्याओ का सम्बन्ध जुड जाता है। इसी प्रकार भावकर्म के रूप में लेश्याएं कर्म-बन्ध मे आधारभूत भूमिका निभाती हैं।

लेश्या क्या है ?

जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है, जो योगों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है तथा मन के शुभाशुभ भावो को लेश्या कहा गया है। दूसरे शब्दो मे योग और कषाय के निमित्त से होने वाले आत्मा के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहा गया है, जिससे आत्मा कर्मो से लिप्त हो। अपर शब्दो में लेश्या एक ऐसी शक्ति है जो आने वाले कर्मो को आत्मा के साथ चिपका देती है। यह शक्ति कषाय और योग से उत्पन्न होती है। इन परिभाषाओ का सार यही है कि लेश्या हमारे शुभाशुभ परिणाम या भाव हैं जिनमे कषाय और योग के कारण ही स्निग्धता उत्पन्न होती है जो हमारे चारो ओर फैले हुए कर्म पुद्गलो को आत्मा के चिपका देती है। जैन-दर्शन मे इसीलिये कहा भी गया है—'**परिणामे बन्ध**' अर्थात् शुभाशुभ कर्मो का बन्ध आत्मा के परिणामो पर निर्भर है। लेश्या आत्मा के ऐसे शुभ-अशुभ परिणाम है जो कर्मबन्ध का कारण बनते हैं। '**पन्नवणासूत्र**' के १७वें पद मे लेश्याओं का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने कर्मबन्ध में उनको सहकारी कारण बतलाया है। और इस दृष्टि से हमारी आत्मा के शुभाशुभ विचारो में तीव्रता और मन्दता अथवा आसक्ति और अनासक्ति होने पर कर्मबन्ध भी उसी प्रकार का भारी या हल्का होता है।

लेश्या और कर्म का सम्बन्ध :

कर्म और लेश्या की परिभाषा जानने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि लेश्या और कर्म मे कारण और कार्य का सम्बन्ध है। लेश्याएं या आत्मा के विभिन्न परिणाम स्निग्ध और रूक्ष दशा मे तद्तद् रूप में कर्मबन्ध का कारण बनते है। यदि कोई कार्य करते हुए हमारी उसमे आसक्ति हुयी तो कर्मबन्ध जटिल होगा और अनासक्त भाव से कार्य करते हुए आत्मा के साथ कर्मो का बन्ध मन्द, मन्दतर और मन्दतम होगा।

कर्मबन्ध के भिन्न-भिन्न विवक्षाओं से अलग-अलग कारण बतलाए हैं। परन्तु मुख्यत. राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही कर्म का बीज मानी गयी हैं। कहा भी

गया है—'रागोयदोसो वियकम्मवियम्' ये राग और द्वेष की वृत्तियाँ योग का ही रूप हैं। और कषाया को समन्वित किये हुए हैं।

लेश्याओ के प्रकार और कमबन्ध

लेश्याएँ छ हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एव शुक्ल लेश्या। इनमे प्रथम तीन अशुभ और अंतिम तीन शुभ मानी गयी हैं।

(१) कृष्ण लेश्या—काजल के समान काले वर्ण के इस लेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर आत्मा मे ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं जिनसे आत्मा मिथ्यात्व आदि पाँच आस्रवा मे प्रवृत्ति करती, तीन गुप्ति से अगुप्त रहती, छ काय की हिंसा करती है। वह क्षुद्र तथा कठोर स्वभावी होकर गुण-दोष का विचार किये बिना क्रूर कम करती रहती है।

(२) नील लेश्या—नीले रग के इस लेश्या के पुद्गलो का सम्बन्ध होने पर आत्मा म एसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, माया, कपट, निलज्जता, लोभ द्वेष तथा क्रोध आदि के भाव जग जाते हैं। ऐसी आत्मा तप और सम्यग्ज्ञान से शून्य होती है।

(३) कापोत लेश्या—कबूतर के समवर्णी पुद्गलों के सयोग से आत्मा मे बोलने, विचारने व काय करने म वक्रता उत्पन्न होती है। नास्तिक बनकर आत्मा अनाय प्रवृत्ति करते हुए अपने दोषा को ढकती है, दूसरो की उन्नति नही सह सकती। चोरी आदि के कम करती है।

उक्त तीना लेश्याएँ अशुभ होने से आत्मा की दुर्गति का कारण बनती हैं। ऐसे जीव नरक और तियच गति में जाते हैं यदि जीवन के अन्तिम काल में उनके परिणाम इतने अशुभ हों।

(४) तेजो लेश्या—इस लेश्या के सम्बन्ध से आत्मा मे ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं कि आत्मा अभिमान का त्याग कर मन, वचन और कम से नम्र बन जाती है। गुरुजनों का विनय करती, इन्द्रियो पर विजय पाती हुई पापों से भयभीत होती है और तप-सयम मे लगी रहती है।

(५) पद्म लेश्या—इस लेश्या में स्थित आत्मा क्रोधादि कषायो को मन्द कर देती है। मितभाषी, सौम्य और जितेन्द्रिय बनकर अशुभ प्रवृत्तिया को रोक देती है।

(६) शुक्ल लेश्या—इस लेश्या के प्रभाव स्वरूप आत्मा आत्त, रौद्र,

ध्यान त्याग कर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करती है। अल्पराग या वीतराग होकर प्रशान्त चित्त वाली होती है।

उक्त अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ, शुभतर, शुभतम और शुद्ध होने से आत्मा की सुगति का कारण बनती है। इन परिणामो मे रमण करते हुए आत्मा उत्थान करती है। उपर्युक्त परिणामो मे विचरने वाला आत्मा तदनुरूप कर्मो का बन्ध करता और उन्हे भोगता है।

लेश्याओ के दो प्रकार हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। पदार्थो के शुभाशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द आदि से आत्मा मे शुभाशुभ विचार उत्पन्न होते हैं। शुभ शब्द, वर्ण, रूप आदि को देखकर-सुनकर और गन्ध, स्पर्श को अनुभव करके आत्मा मे राग दशा उत्पन्न होती है। यह वर्णादि आत्मा को अनुकूल लगते है और आत्मा उनमे आसक्त बनकर कर्मो मे बन्ध जाती है। इसके विपरीत अशुभ वर्ण, गन्ध आदि वाले पदार्थो को देखकर और अनुभव करके उनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है, द्वेष भाव जाग्रत होता है जिससे आत्मा अशुभ कर्मो से जकड़ जाती है। इस प्रकार ये भाव लेश्याएँ अर्थात् आत्मा के शुभाशुभ परिणाम कर्म-बन्ध के मूल कारण बनते हैं।

लेश्याओ का वैज्ञानिक विश्लेषण :

मुनि नथमलजी ने अपनी पुस्तक 'समाधि की खोज' प्रथम भाग के पृ. १५७ मे लेश्या व कर्म सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह लेश्या और कर्म-बन्ध का वैज्ञानिक विश्लेषण है। उन्होने लिखा है, "जब लेश्या बदलती है तब परिवर्तन घटित होता है। जब मन मे तेजो लेश्या और पद्म लेश्या के भाव आते है तब तैजस शरीर से स्राव होता है और वह हमारी ग्रन्थिओ मे आता है। वह सीधा रक्त के साथ मिल जाता है और अपना प्रभाव डालता है। इन अन्त.स्रावी ग्रन्थियो के रस हमारे समूचे स्वभाव को प्रभावित करते है। व्यक्ति का चिड़-चिडा होना या प्रसन्न होना, क्रोधी होना या शान्त होना, ईर्ष्यालु या उदार होना इन ग्रन्थियो के विभिन्न स्रावो पर निर्भर है। इस प्रकार एक जैविक एवं रासायनिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हमारे शुभाशुभ परिणामो से किस प्रकार रासायनिक क्रियाएँ घटित होती है और किस प्रकार वे हमारे सवेगो को प्रभावित करती है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ एवं लेश्याओं के प्रभाव :

'ठाणाग' सूत्र मे एक चतुर्भंगी है—(१) एक कर्म शुभ और उसका विपाक भी शुभ, (२) कर्म शुभ किन्तु विपाक अशुभ, (३) कर्म अशुभ परन्तु विपाक शुभ, (४) कर्म अशुभ और विपाक भी अशुभ। इस चतुर्भंगी को देखकर

कम सिद्धान्त की मान्यता वाले आश्चय करेंगे कि कम शुभ होते हुए विपाक अशुभ कसे ? और कम अशुभ होते हुए विपाक शुभ कसे ?

यहाँ कम की विभिन्न अवस्थाओं की जानकारी करा देना आवश्यक है जो लेश्याओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। कम की मुख्य अवस्थाएँ ग्यारह ह—(१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वतन या उत्कष, (४) अपवतन या अपकष (५) सक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचित व (११) अबाधाकाल। इनमे उद्वतन, अपवतन एव सक्रमण की महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ लेश्याओं का ही परिणाम है। जिस परिणाम विशेष से जीव कर्म प्रकृति को बाँधता है उनकी तीव्रता के कारण वह पूव बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को वतमान मे बँधने वाली प्रकृति के दलिको मे सक्रान्त कर देता है। बध्यमान कम मे कर्मान्तर का प्रवेश इसी सक्रमण का कारण है जो कम के बन्ध और उदय मे अन्तर उपस्थित कर देता है, उसे बदल देता है।

उद्वतन या उत्कष

आत्मा के साथ आवद्ध कम की स्थिति और अनुभाग या रस आत्मा के तत्कालीन परिणामो के अनुरूप होता है। परन्तु इसके पश्चात् की स्थिति विशेष अथवा भाव विशेष के कारण पूव बद्ध कम स्थिति और कम की तीव्रता मे वद्धि हो जाना उद्वतन है। लेश्या या आत्मा के परिणाम से पूवबद्ध स्थिति और रस अधिक तीव्र बना दिया जाता है।

अपवतन या अपकर्ष

पूवबद्ध कम की स्थिति एव अनुभाग को कालान्तर मे नवीन कमबन्ध करते समय न्यून कर देना अपवतन है। यह आत्मा के नवीन बध्यमान कर्मों के समय के परिणामों मे शुद्धता आने से घटित होता है। इस प्रकार कम अशुभ होते हुए विपाक शुभ हो जाता है। और कम शुभ होते हुए विपाक अशुभ हो जाता है। यह आत्मा का पुरुषाथ ही है और उसकी प्रबल शुद्ध विचारधारा है जिससे आश्चयकारी परिवतन घटित होते ह।

हमारा लक्ष्य अलेशी बनना

जब तक लेश्याएँ ह तब तक परिणामो की विविधता रहेगी, अत साधक का लक्ष्य होता है कि वह अलेशी बन सके। यह स्थिति साधना और वराग्य भाव से उत्पन्न हो सकती है। लेश्याओं का परिणमन शुभतर लेश्याओं मे करने के लिये स्वाध्याय और ध्यान आवश्यक अग ह। समभाव मे रमण करना, अनासक्त भावो मे जीवन व्यवहार करना तथा इन पर नियन्त्रण का अभ्यास करते रहना भव्यात्माओं के लिये अलेशी बनने का माग प्रशस्त कर सकता है और कम-बन्ध की परम्परा को सदा-सदा के लिये खत्म कर सकता है। और यही शाश्वत सुख का राजमाग है। □

१६ कर्म-विपाक

□ श्री लालचन्द्र जैन

कर्मों के शुभाशुभ फल को सामान्यत. विपाक कहा जाता है। मिथ्यात्व आदि के सेवन से प्राणी जो कुछ कार्य करता है, उसे कर्म कहते हैं। वे कर्म जब उदय में आते है, तब प्राणी को जो सुख-दु.ख आदि भोगने पडते हैं, उसे कर्म विपाक कहा जाता है। शुभ कर्म का विपाक शुभ और अशुभ कर्म का विपाक अशुभ होता है।

कर्मों को बांधने मे जीव स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छानुसार शुभ या अशुभ कर्मों का वध कर सकता है। जीव की विना इच्छा के कोई कर्म कभी अपने आप नही वधता। जब भी जीव राग-द्वेष की आसक्ति से कोई कार्य करता है, तब उस आसक्ति के तारतम्य के अनुसार नये कर्म वधते है। वे ही कर्म जब उदय मे आते है, तब जीव को उन कर्मों के फल को भोगना ही पड़ता है। उमसे वह किसी प्रकार छूट नही सकता। इसीलिये कहा गया है कि जीव कर्मों को वाधने मे स्वतत्र है, पर उनके फल को भोगने मे परतत्र है। वंधे हुए कर्म यदि निकाचित हो तो करोड़ो सागरोपम समय के व्यतीत हो जाने पर भी वह कर्म नष्ट नही होता। ससार की सभी वस्तुए नाशवान हैं, पर मात्र कर्म की जड ही ऐसी है जो कभी सड़ती-गलती नही। उग्र तप-सयम के वल से ही इस जड को उखाडा जा सकता है।

हिसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि प्रत्येक पाप कर्म के विपाक का शास्त्रो मे वर्णन है। पागलपन, कोढ, अल्पायुष्य आदि हिंसा के भयानक विपाक हैं। यदि इस विपाक से बचना हो तो विना प्रयोजन त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा से वचना चाहिये।

खधक मुनि के जीव ने अपने पूर्व भव मे स्थावर जीव की विराधना मे इतना रस लिया कि खधक मुनि के भव में उनके जीवित शरीर की चमडी उतारी गई। वे तो आत्मध्यान की उच्चतम भूमि पर पहुँचे हुए थे, अतः उन्होने उदय मे आये हुए कर्मफल को समभाव से भोग लिया और मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। किन्तु उदयकाल मे समताभाव को रखना आसान नही है। जिनको यह स्पष्ट ज्ञान हो गया है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, वे ही ऐसे कठिन समय मे समभाव को कायम रख सकते है।

पाप कर्म कितना भी मामूली क्यों न हो पर उसमें रस की तीव्रता से उसका विपाक कितना दारुण होता है, यह खंधक मुनि के उदाहरण से ज्ञात होता है। पाप कर्म तो करना ही नहीं चाहिये पर यदि प्रमादवश वैसा आचरण हो भी जाय तो उसमें रसासक्ति कतई नहीं होनी चाहिये।

गू गापन, मुखरोग, समझ में न आने वाली भाषा बोलना आदि असत्य भाषण के विपाक हैं। वसुराजा असत्य भाषण के पाप से नरक में गये। बात बात में झूठ बोलने वाले, झूठी गवाही देने वाले, झूठे दस्तावेज बनाने वाले, झूठी बहियें लिखने वाले नरक निगोद के दुःख को प्राप्त करते हैं। असत्य भाषण महान पाप का कारण है, इससे जीव सुकृत के फल को भी हार जाता है।

दुर्भाग्य, दरिद्रता, गुलामी आदि चौर्य कर्म के फल हैं। चोरी करने वाले इस जन्म में तो लाठी, घूंस आदि खाते ही हैं राज्य दंड स्वरूप जेल भी भुगतते ही हैं, किन्तु परभव में नरक आदि की घोर वेदना को प्राप्त करते हैं। व्यापार में अनीति का आचरण, स्मगलिंग द्वारा एक देश से दूसरे देश में माल लाना ले जाना ऐसे माल का क्रय विक्रय, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु की मिलावट करना, अत्यधिक भाव बताना, माप तोल में कम देना, ज्यादा लेना आदि सभी प्रकार के कार्य चोरी हैं। नीति और न्याय द्वारा किया गया विक्रय ही व्यापार है, अन्य सब तो दिन दहाड़े लूटना है। बहुत से लोग यह दलील करते हैं कि न्याय नीति से चलेंगे तो पेट ही नहीं भरेगा, परन्तु उनकी यह दलील थोथी है। नीति से पेट तो अवश्य भर जाता है, हाँ पेटी नहीं भरी जा सकती। पाप का मूल पेट नहीं है, लोभ ही पाप का मूल है। पेट की भूख से धन की भूख बहुत भयंकर है। लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति हो जाने पर भी धन की भूख नहीं मिटती। शास्त्रों में इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है। इच्छाओं का अन्त हो जाय तो दुःख का भी अन्त हो सकता है। सन्तोष से इच्छाओं का निरोध हो सकता है। लोभ पाप का मूल है तो सन्तोष धर्म का फल है।

नपुंसकता, दुर्भाग्य, तिर्यंच गति (पशु पक्षी योनि) आदि अब्रह्मचर्य के फल हैं। असंतोष, अविश्वास, महारंभ आदि मूर्छारूपी परिग्रह के कटु फल हैं। परिग्रह परिमाण से अनेकों पाप रुक जाते हैं और जीवन में अनुपम शांति का अनुभव होता है। स्व पत्नी संतोष और परिग्रह परिमाण ये दोनों नीतियुक्त जीवन की आधारशिला हैं। इनके पालन के बिना जब मनुष्य नैतिक जीवन भी नहीं जी सकता तब धर्म सिद्धि की तो बात करना ही व्यर्थ है। जैसे कुपथ्य का सेवन करने वाले पर औषधि का कोई प्रभाव नहीं होता उसी तरह अधिक

बनती है। शुभ के उदयकाल मे स्वत: ही शुभ संयोग प्राप्त हो जाते है और अशुभ के उदयकाल मे अशुभ सयोग खडे हो जाते हैं। इस सम्बन्ध मे यदि ज्ञान दृष्टि से गहन विचार किया जाय तो हर्ष और शोक अपने आप लुप्त हो जाते है। उदयकाल को समभाव से भोगने मे ही जीव का वीरत्व है। बांधने मे बहादुरी दिखाना और भोगने मे कमजोरी दिखाना ही जीव की कायरता है। उदयकाल मे ही वीरत्व की आवश्यकता है, बंधकाल मे तो मात्र इतनी सावधानी की आवश्यकता है कि नये कर्म न बंध जायें।

> दु खं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः ।
> मुनिः कर्मविपाकस्य, जानन् परवश जगत् ।।

सम्पूर्ण जगत् कर्म विपाक के अधीन है, यह जानकर मुनि दु ख मे न दीन बनते हैं और न सुख में विस्मित होते हैं। सुख-दु.ख मे समभाव पूर्वक रहना ही सच्ची जीवन साधना है। सुख मे उन्मत्त होना और दु.ख मे निराश होना ही अज्ञान है। स्वय द्वारा किये गये कर्म के फल को भोगने के समय दीनता क्यो ? ज्ञानी तो यही सोचता है कि कर्म बाधते समय जब मैंने विचार नही किया, तब उसके फल को भोगने के समय दीनता क्यो दिखाऊँ ? ऐसे ज्ञानी कर्म विपाक के अधीन नही रहते, किन्तु ऐसे ज्ञानी विरले ही होते हैं, इसीलिये सारे जगत् को कर्म विपाक के अधीन कहा गया है।

ज्ञानी तो शुभ के उदय में भी विस्मित नही होता। वह तो जानता है कि तत्त्व दृष्टि से शुभ और अशुभ दोनो आत्मा को ढँकने वाले है। सूर्य काले बादलो मे छिपे या सफेद बादलो मे, उसके प्रकाश की मन्दता के तारतम्य मे अवश्य अन्तर आता है, पर आखिर वह बादलो के पीछे छिपता तो है ही। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनो आत्मा के गुणो को ढँकने वाले होने से अन्ततः त्याज्य ही है। साधक दशा मे भले ही शुभ आदरणीय रहे, पर मोक्ष तो दोनो के क्षय से ही होगा। इसीलिये ज्ञानी शुभ या अशुभ किसी भी कर्म विपाक के अधीन नही रहते। वे तो मात्र तत्त्वचिंतन का पुरुषार्थ करते है और ऐसे ज्ञानी निश्चय ही परमार्थ को सिद्ध करते है।

कर्म विपाक कितना भी शक्ति सम्पन्न क्यो न हो, यदि जीव अपने पुरुषार्थ को जागृत करे तो वह अवश्य कर्म क्षय कर सकता है। कर्म बलवान है तो क्या हुआ ? आखिर तो वह जड पुद्गल होने से अंधा ही है, जबकि जीव चेतना युक्त होने से दृष्टि वाला है। अंधे से दृष्टिवाला कैसे हार सकता है ? यदि जीव सच्चे मार्ग से पुरुषार्थ करे तो वह अवश्य कर्म सत्ता पर विजय प्राप्त कर सकता है। जीव वास्तव मे अपने स्वरूप को नही जानता इसीलिये कर्म

सत्ता उस पर अपना वर्चस्व जमा लेती है और जीव ऐसा समझने लगता है मानो उसने अपना वर्चस्व खो दिया हो।

उपशम और क्षपक श्रेणी

आरुढा प्रशमश्रेणिं, श्रुतकेवलिनोऽपि च ।
भ्राम्यन्तेऽनन्तससारमहो ! दुष्टेन कर्मणा ।।

ग्यारहवें गुणस्थान उपशम श्रेणी पर चढे हुए श्रुतकेवली जसे महापुरुष को भी यह दुष्ट कर्मसत्ता अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करवाती है। प्रमादवश चौदह पूर्वधारी महापुरुष भी अनतकाल तक भव भ्रमण करते हैं। इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि कम का विपाक बडे से बडे व्यक्ति को भी भोगना पडता है। 'कम को शम नही' यह कहावत यहा चरितार्थ होती है।

श्रेणी दो प्रकार की है, क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी। आत्मा की उन्नति के क्रमश चढते हुए सोपानों को दर्शन की भाषा मे चौदह गुणस्थान कहा गया है। आत्मा के अध्यवसायो की उत्तरोत्तर होने वाली विशुद्धि को श्रेणी कहा जाता है। आठवें गुणस्थान से जीव श्रेणी पर चढना प्रारम्भ करता है। उपशम श्रेणी पर चढने वाली आत्मा मोहनीय कर्म की प्रकृतियो को उपशान्त करती जाती है, जबकि क्षपक श्रेणी पर चढने वाली आत्मा उनका क्षय करती जाती है। आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय ही उसे श्रेणी पर चढाते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से आत्मा मे ऐसे शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणी अधिक विशुद्ध होती है।

क्षपक श्रेणी पर चढी हुई आत्मा आठवें गुणस्थान से नौवें और नौवें से दशवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान पर आती है। दसवें से वह लोभ के अशो को क्षय कर सीधे बारहवें गुणस्थान पर चली जाती है। क्षपक श्रेणी वाला ग्यारहवें गुणस्थान पर नहीं जाता। उपशम श्रेणी वाला ही ग्यारहवें गुणस्थान पर जाता है। बारहवें गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। यहा पहुँचकर आत्मा इतनी विकसित हो जाती है कि वह मोहनीय कर्म को सदा के लिए समूल नष्ट कर देती है। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरणीय आदि अन्य घाती कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और तेरहवें गुणस्थान पर पहुँचकर केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

उपशम श्रेणी पर चढने वाली आत्मा बारहवें गुणस्थान पर नही जाती, वह ११वें उपशांतमोह गुणस्थान पर ही जाती है। इस गुणस्थान पर मोहनीय कर्म का उदय तो थोडा भी नही रहता, पर वह सत्ता मे अवश्य रहता है। इस गुणस्थान पर चढने वाले निश्चय ही एक बार फिर नीचे गिरते हैं। इस गुणस्थान को प्राप्त मुनि की यदि आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु हो जाय तो वह सर्वार्थ सिद्ध

आदि पाँच अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होता है। किन्तु इस गुणस्थान के अन्त-मुर्हूर्त का काल समाप्त होने पर यदि उसकी मृत्यु हो तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी गिर सकता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले कई चरमशरीरी भी होते है। ऐसे जीव ११वे गुणस्थान से गिरकर ७वें पर आते है और फिर क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करते है। जिन्होने मात्र एक वार ही उपशम श्रेणी की हो, वे ही जीव दूसरी वार क्षपक श्रेणी कर सकते हैं।

क्षपक श्रेणी पर चढने वाली आत्मा का सामर्थ्य अद्‌भुत होता है। उस की ध्यानाग्नि अत्यन्त जाज्वल्यमान होती है, जिसमे कर्मरूपी काष्ठ जलकर भस्म हो जाते है। आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' शास्त्र मे कहा है—

> क्षपकश्रेणिमुपरिगत:, स समर्थसर्वकर्मिणां कर्म।
> क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रम:, स्यात् परकृतस्य॥

क्षपक श्रेणी पर आरूढ आत्मा की ध्यानाग्नि इतनी प्रखर होती है कि यदि दूसरे जीवो के कर्मो का उसमे सक्रमण हो सकता हो तो वह अकेला सव जीवो के कर्मो के क्षय करने मे समर्थ हो सकता है। किन्तु कर्म का तो नियम ही ऐसा है कि जो वाधता है। वही उसे भोगता है। यदि ऐसा न हो तो कर्म सिद्धान्त मे सव गड़वड़ घोटाला हो जाय और द्रव्य की स्वतंत्रता ही लुप्त हो जाय। अत: यह निश्चित ही है कि कर्ता ही भोक्ता होता है।

क्षपक श्रेणी मे कषाय मोहनीय आदि कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है, अत इस पर आरूढ आत्मा का कभी पतन नही होता, जवकि उपशम श्रेणी मे तो इन कर्म प्रकृतियो का उपशम होता है (दव जाती है), इसीलिये ११वे गुणस्थान से जीव निश्चय ही नीचे गिरता है। इस गुणस्थान पर कर्म प्रकृतियाँ दव जाती है, पर सत्ता मे तो रहती ही है, अत: उनका उदय होने पर जीव नीचे गिरता है। इससे कर्मसत्ता के सामर्थ्य का पता लगता है। अपने स्वरूप मे अत्यन्त जागृत आत्मा ही कर्मसत्ता से टक्कर ले सकती है। राख से दवी हुई अग्नि कभी न कभी तो निमित्त पाकर भडक ही उठती है, इसी प्रकार दवे हुए कर्म भी ऐसे भडकते है कि चढ़ती हुई आत्मा को भी गिरा देते है। विष वेल की जड़ यदि गहरी जायेगी तो उससे क्या लाभ होगा ? इसी प्रकार दोषों की जड़ यदि गहरी जायेगी तो उससे आत्मा को हानि ही होगी। जैसे आँख में गिरा हुआ एक छोटा सा रेत का कण जव तक नही निकलता तव तक चुभता रहता है, वैसे ही हमारे दोष हमे प्रतिपल चुभते रहना चाहिये। वाह्य शत्रुओ से होने वाली हानि से तो हम सदा सावधान रहते है, किन्तु हमारे आन्तरिक शत्रु कषायो से इससे भी अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। वाह्य शत्रु तो अधिक से अधिक एक जन्म ही विगाडेगे किन्तु कषाय रूपी अतरंग शत्रु तो जन्म-

जन्मान्तरों को बिगाड़ देते हैं। उपशम श्रेणी पर आरूढ़ जीव को भी ये दुष्ट कर्म अनन्त काल तक संसार में भटकाते हैं।

कर्म विपाक का सीधा सादा अर्थ यह है कि संसार में जो पग पग पर विषमता दिखाई देती है, वह सब कर्म द्वारा ही उत्पन्न की गई है। एक उत्तम कुल में तो दूसरा अधम कुल में उत्पन्न होता है, एक ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी, एक दीर्घ आयुष्य वाला, दूसरा अल्प आयुवाला, एक बलवान, दूसरा निर्बल, एक ऐश्वर्यवान, दूसरा निर्धन, एक रोगी, दूसरा निरोगी, इन सभी कर्मजन्य विषमताओं पर विचार करने पर ज्ञानी व्यक्ति को संसार से वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता।

कर्म विपाक के फलस्वरूप दंड प्राप्त करने पर ऐसा सोचना कि हम से कर्म हमारे पाप का बदला ले रहा है, गलत धारणा है। हम अपने पाप कर्म द्वारा ही दंड प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार पुण्य कर्म का उपभोग करते समय ऐसी सोचना कि हमारे अच्छे कार्यों के बदले में कर्मसत्ता हमें सुख दे रही है, भी गलत है। अच्छे कार्य स्वयं ही हमें सुखानुभाव कराते हैं। दंड या पुरस्कार अथवा सुख या दुःख हमारी वृत्ति के ही परिणाम हैं। हमारी वृत्ति या चारित्र हमारी इच्छाओं का ही एकत्रित स्वरूप है। इच्छा ही कर्म की प्रेरक सत्ता है और इच्छा या वासना द्वारा ही हम अपने भावी जीवन को निश्चित करते हैं। अतः हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा भविष्य निर्मित नहीं हो सकता।

अनेक सुख-दुःखों को भोगने के बाद ही आत्मा में वासना के दुःखद परिणाम को समझने की निर्मल विवेक दृष्टि जागृत होती है। फिर वह उच्च जीवन की ओर आकर्षित होती है। अपने हृदय के ऊर्ध्वगामी वेग में वह अपनी गति मिला देती है। आत्मा की स्वाभाविक गति अग्निशिखा की भांति ऊर्ध्व-गामिनी है, अतः यह सब समझने के बाद वह अपनी स्वाभाविक गति को उचित दिशा में मुक्त कर देती है।

आत्मा की इच्छा के बिना कोई भी सत्ता उसे तिलमात्र भी इधर-उधर नहीं कर सकती। जीव अपनी इच्छा से ही नया जन्म पाता है। इस नये जन्म के संयोग, परिवार, सगे-सम्बन्धी भी उसकी इच्छानुसार ही मिलते हैं। उसकी अतृप्त वासना जहां वैसे संयोग जुटा सके, वहीं स्थान में ही वह जन्म लेती है। यह सत्य है कि इन इच्छाओं या वासनाओं को आत्मा समझपूर्वक नहीं बनाती, वे सब उसके अन्तःकरण में अव्यक्त रूप से होती हैं।

जिनमें बहुत उत्कृष्ट कक्षा में विकसित आत्मभान होता है, वैसी आत्माएँ अपना पुनर्जन्म दृढ़संकल्प से निश्चय करती हैं, क्योंकि उन्हें यह भान होता है कि

उनकी इच्छाएँ किस दिशा मे गति कर रही है। जिन-जिन इच्छाओ के द्वारा हमे ससार मे आना पडता है, वे सभी अशुभ नही होती। कितनी ही इच्छाएँ तो ऐसी उत्तम और भव्य होती हैं कि उनका विषय प्राप्त हो जाने के बाद जीवात्मा अपना स्वरूप ईश्वरत्व मे परिणित करने में समर्थ बन जाती है।

यह सब कर्मराज द्वारा रचित नाटक है, जिसमे चौरासी प्रकार के रंग-मडप है और यह जीवात्मा विविध प्रकार के पात्रो के रूप धारण कर इसमे खेल खेल रहा है। कर्मराज के इस नाटक का सम्पूर्ण वर्णन करने मे हम असमर्थ है। सद्गुरु के समागम से कर्म के स्वरूप और कर्म विपाक को समझ कर जो जीवात्मा कर्म निर्जरा के लिये प्रबल पुरुषार्थ करता है, वह अन्त मे इस ससार सागर को पार कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

करम को अंग

करमां की बेडी वणी, सबही जग कै मांय।
रामदास झाड़ी सजड़, मोह कि झाट लगाय ॥१॥

रामा राम न जानियो, रह्या करम में फँस।
करम कुटी मे जग जल्या, काल गया सब डंस ॥२॥

करम कूप में जग पड़्या, डूबा सब संसार।
रामदास से नीसर्‌या, सतगुरु सवद विचार ॥३॥

रामा काया खेत मे, करसा एको मन्न।
पाप पुंन मे बंध रह्या, भरया करम सूं तन्न ॥४॥

करम जाल मे रामदास, बध्या सब ही जीव।
आसपास मे पच मुवा, बिसर गया निज पीव ॥५॥

करम लपेट्या जीव कूं, भावै ज्यूं समझाय।
रामदास आकर विन, कारी लगै न काय ॥६॥

—स्वामी रामदास

---

१७ अन्तर्मन की ग्रंथियाँ खोलें*!

☐ आचार्य श्री नानेश

सूर्य स्वयं प्रकाशमान होता है, उसे अपने प्रकाश के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। फिर जिस आत्म तत्त्व को सूर्य से भी अधिक तेजस्वी माना गया है, आखिर उसी की चेतना इतनी चंचल और अस्थिर क्यों बन जाती है?

निज स्वरूप को विस्मृत कर देने के कारण ही चेतना शक्ति संज्ञाहीनता से दुर्बल हो जाती है। उसका कितना अमित सामर्थ्य है—उस को भी वह भूल जाती है। वह क्यों भूल जाती है? कारण, वह अपने मूल से उखड़ कर अपनी सीमाओं और मर्यादाओं से बाहर भटक जाती है और उन तत्त्वों के वशीभूत हो जाती है, जिन तत्त्वों पर उसे शासन करना चाहिये। यह परतन्त्रता आत्म-विस्मृति से अधिकाधिक जटिल होती चली जाती है। जितनी अधिक परतन्त्रता, उतनी ही अधिक ग्रंथियाँ मन को जकड़ती रहती हैं। जितनी अधिक ग्रंथियाँ, उतना ही मन बंधनग्रस्त होता चला जाता है। इसलिए दृष्टि का विकास करना है और चेतना को सुलझाना है तो अन्तर्मन की सारी ग्रंथियाँ खोल लीजिये।

विषमता की प्रतीक स्वरूप विभिन्न ग्रंथियाँ मानव मन में मजबूती से बंध जाती हैं और विचारों के सहज प्रवाह को जकड़ लेती हैं। जब तक इन ग्रंथियों को खोल न सकें, तब तक आन्तरिक विषमता समाप्त नहीं होती और आन्तरिक विषमता रहेगी तो बाह्य विषमता के नानाविध रूप फूलते-फलते रहेंगे एवं दु:ख द्वन्द्वों की ज्वाला जलती रहेगी। व्यक्ति-व्यक्ति की इन आन्तरिक ग्रंथियों को खोले बिना चाहे हजार-हजार प्रयत्न किये जायँ या आन्दोलन चलाए जाएँ, बाहर की राजनैतिक, आर्थिक अथवा अन्य समस्याएँ सन्तोषजनक रीति से सुलझाई नहीं जा सकेंगी। मन सुलझ जाय तो फिर वाणी और कर्म के सुलझ जाने में अधिक विलम्ब नहीं लगेगा।

---

*श्री शान्तिचन्द्र मेहता द्वारा सम्पादित प्रवचन।

सच्चे अर्थ मे योग्य द्रष्टा वन जाय तो उसकी शक्ति नियंत्रित भी हो जायेगी और एकरूप भी वन जावेगी। तव उसकी प्रभाविकता एवं उपयोगिता अपरिमित हो जायगी। अनियन्त्रित मन भटकाव मे हजार जगहों पर उलझता है तो हजार तरह को गाठे वाध लेता है। यदि दृष्टि समर्थ वन जाय तो मन का नियन्त्रण भी सहज हो जायेगा क्योकि समता के समागम से समर्थ दृष्टि द्रष्टा को भी योग्य वना देगी। वह द्रष्टा तव जड़ तत्त्वों की अधीनता छोड़ देगा। और स्वय उनका भी और निजका भी कुशल नियत्रक वन जायगा। मानव मन वदला तो समझिये कि व्यक्ति-व्यक्ति मे यह शुभ परिवर्तन चल निकलेगा जो समाज, राष्ट्र एव विश्व तक की परिस्थितियो को समता के ढांचे में ढालकर सवके लिये उन्हे सुखकर एव हितकर वना देगा।

केवल एकसूत्री कार्यक्रम—समता दर्शन :

इस प्रकार के सुखद परिवर्तन की दशा मे जो वाह्य समस्याएँ पहले जटिल दिखाई दे रही थी, वे आसान हो जायेगी। जो विकृत दृष्टि पहले अपने स्वार्थ ही देखती थी, वह सम वन कर अपने आत्म स्वरूप को देखेगी तो वाहर परहित को ही प्रमुखता देगी। ज्यो-ज्यो हृदय की गहराइयो मे समता का उत्कर्ष वढता जायगा, लोकोपकार के लिये अपने सर्वस्व तक की वलि कर देने मे भी कोई हिचक नही होगी।

समता—दर्शन के केवल एक-सूत्री कार्यक्रम के आधार पर न सिर्फ व्यक्ति के अन्तर्मन और जीवन मे जागृति की ज्योति फैलेगी वल्कि सामाजिक, राष्ट्रीय एव विश्वजनीन जीवन मे भी क्रान्तिकारी सुखद परिवर्तन लाये जा सकेंगे। 'चेतन पर जड़ को हावी न होने दे'—यह मूल मंत्र है, फिर मोह का कोई व्यवधान नही रहेगा। समता दर्शन का प्रकाश सभी प्रकार के अंधकार को नष्ट कर देगा।

जीवन मे समता के विकास की आधारशिला वनाइये। श्रेष्ठ सस्कारो को—जो इतने प्रगाढ़ हों कि एक पीढी से दूसरी पीढी में पल्लवित-पुष्पित होते हुए इस तरह श्री वृद्धि करते जाय कि सांसारिक जीवन का क्रम ही अबाध रूप से समतामय वन जाय। ऐसी सभ्यता और सस्कृति का वातावरण छा जाय जो मानव-जाति ही नही समस्त प्राणी समाज के साथ सहानुभूति एव सहयोग की सक्रियता को स्थायी वनादे।

विश्व-दर्शन तभी सार्थक है जव योग्य द्रष्टा अपनी समर्थ दृष्टि के माध्यम से सम्पूर्ण दृश्य को समतामय वना सके। यथावत् स्वरूप दर्शन से ही समता का स्वरूप प्रतिभासित हो सकेगा।

मूल समस्या है दृष्टि विकास की। यह विकास समता दशन की गूढता मे रग कर ही साधा जा सकेगा। दष्टि इस रूप मे विकसित होगी तभी सामर्थ्य ग्रहण करेगी और अपने दृष्टा को स्वरूप-दशन की योग्यता प्रदान करेगी। मूल रूप मे ममता से हटने पर ही दष्टि विकास का कार्यारंभ हो सकेगा। स्वरूप दशन से परिवतन की प्रेरणा मिलती है। एक दपण को इतना स्वच्छ होना चाहिए कि उसम कोई भी आकृति स्पष्टता से प्रतिविम्बित हो सके। किन्तु कोई दपण ऐसा है या नही—उसे देखने से ही ज्ञात होगा। यथावत देखने से जब मैला रूप दिखाई देगा तो उसे धो पोछ कर साफ बना लेने की प्रेरणा भी फूटेगी। विकासोन्मुख होने की पहली सीढी स्वरूप-दशन है—चाहे वह निजात्मा का हो या विश्व का। स्वरूप दशन से स्वरूप-सशोधन की ओर चरण अवश्य बढते हैं और समुच्चय मे समता दशन का यही सुफल है।

• •

कर्मन की रेखा न्यारी रे

[राग माड]

कमन की रेखा न्यारी रे, विधि ना टारी नाहि टर।

रावण तीन खण्ड को राजा, छिन म नरक पडै।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के, वन मे जाय मरे ॥१॥

हनुमान की मात अजना, वन-वन रुदन करै।
भरत बाहुबलि दोऊ भाई, कैसा युद्ध कर ॥२॥

राम अरु लक्ष्मण दोनो भाई, सिय के सग वन मे फिर।
सीता महासती पतिव्रता, जलती अग्नि परे ॥३॥

पाडव महाबली से योद्धा, तिनकी त्रिया को हरे।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न, जनमत दव हरै ॥४॥

को लग कथनी कीज इनकी, लिखता ग्रन्थ भर।
धम सहित ये करम कौनसा, 'बुधजन' या उचरे ॥५॥

—बुधजन

१८

कर्म प्रकृतियाँ और उनका जीवन के साथ संबंध

☐ श्री श्रीचन्द गोलेछा

सुख-दु ख अनुभव करते हुए मन, वचन, काया द्वारा जो क्रिया की जाती है, उसे भोग कहते हैं। भोग भोगने पर जो संस्कार आत्मा पर अंकित होते है, उन्हे कर्म कहते है। ये सस्कार पुन. जीवन पर प्रकट होते हैं उसे कर्मोदय कहते हैं। जो मुख्य रूप से आठ प्रकार के हैं यथा—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।

१. ज्ञानावरणीय कर्म ५ प्रकार का है—

१ **मतिज्ञानावरणीय**—विषय भोगो मे सुख है, ऐसी बुद्धि का होना मतिज्ञानावरणीय कर्म का फल है, यह विषय सुख छोड़ने में वाधक है।

२. **श्रुतज्ञानावरणीय**—भोग के प्रति रुचि का होना इसका फल है। इससे भोग बुद्धि पर नियन्त्रण नही हो पाता।

३ **अवधिज्ञानावरणीय**—मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कारण जीवन मे जो भोग की वृत्ति व प्रवृत्ति होती है, उस भोग की वृत्ति व प्रवृत्ति की यथार्थता का अश मात्र भी आत्मिक ज्ञान न होना अवधिज्ञानावरणीय है।

४. **मन:पर्यायज्ञानावरणीय**—भोग भोगने में रसानुभूति से अलग नही कर पाना, इसका लक्षण है। इसके कारण कामना का अन्त नही होता है।

५ **केवलज्ञानावरणीय**—चित्त पर से घाति कर्मों का प्रभाव नष्ट न होना इसका फल है।

२ दर्शनावरणीय कर्म ९ प्रकार का है—

१. **चक्षुदर्शनावरणीय**—भोग बुद्धि से प्रभावित होकर दृश्यमान भोग्य पदार्थो से सवध स्थापित करना, चक्षुदर्शनावरणीय का फल है।

२ **अचक्षुदर्शनावरणीय**—जिन पदार्थो से संवध स्थापित किया है उनमे रुचि पैदा होना अर्थात् उनमे रस लेना अचक्षुदर्शनावरणीय के कारण होता है।

३ अवधिदर्शनावरणीय—चक्षुदशनावरणीय और अचक्षुदशनावरणीय से उत्पन्न हुई विभिन्न अवस्थाग्रो को अनुभव न कर पाना अवधिदशनावरणीय है।

४ केवलदर्शनावरणीय—चत्सिक ममत्व इसका लक्षण है।

५ निद्रा—इन्द्रियो के विषया मे रुचि के कारण भाग भोगने के लिये मामान्य रूप से मूछित होना अर्थात् अपनी विस्मति होना निद्रा है।

६ प्रचला—निद्रित होने स वच नही पाना बार बार मूछित होना प्रचला है।

७ निद्रा निद्रा—भोग प्राप्ति के लिये बार बार लालायित रहना निद्रा निद्रा है।

८ प्रचला प्रचला—भोगेच्छा का सवरण न कर पाना प्रचला प्रचला है।

९ स्त्यानगद्धि—भाग भागने की ऐसी तीव्र आकाक्षा होना जिससे अपना भान भूल जावे स्त्यानगृद्धि है।

३ वदनीय कम दो प्रकार का है—

इन्द्रिया के विषया मे ग्रसाता का संवेदन करना असाता वदनीय है और साता का सवदन करना साता वेदनीय है।

४ मोहनीय कम दो प्रकार का है—दशन मोहनीय ग्रौर चारित्र मोहनाय।

१ दशन मोहनीय—भोग प्रवृत्ति पर बुद्धि का जो प्रभाव होता है वह दशन मोहनीय है। यह प्रभाव जीवन पर तीन प्रकार से प्रकट होता है—मिथ्यात्व, मिश्र ग्रौर सम्यक्त्व मोहनीय।

मिथ्यात्व मोहनीय—सदा भागा मे लगे रहना भविष्य मे भी भोग मिलते रह ऐसी लालसा का होना इसका लक्षण है।

सम्यक्‌मिथ्यात्व—काम भोग अनाचरणीय है यह जानता हुग्रा, ग्रनुभव करता हुआ भी उनसे विरत हो। म ग्रसमथ होना ग्रौर उनमे आनन्द मानते रहना सम्यक मिथ्यात्व है।

सम्यक्त्व मोहनीय—त्याग वृत्ति में लग जाने पर भी पूर्ण रूप स भागा म विरत नहीं होना इसका लक्षण है।

२ चारित्र मोहनीय—कषायो (क्रोध, मान, माया और लोभ) से सयुक्त होकर भोग प्रवृत्ति म लग जाना चारित्र मोहनीय का लक्षण है। यह चार प्रकार का है यथा—

अनन्तानुबन्धी—मिथ्यात्व से प्रभावित भोग अवस्था का ग्रनन्तानुबन्धी कहते है।

आहारक—संयम पालन करने पर चित्त की प्रमत्ता का कार्यरत होना आहारक शरीर है।

तैजस—कर्मशक्ति चेतनशक्ति का प्रभाव तैजस शरीर है।

कार्मण—पूर्व सस्कारो की जागृति का प्रभाव कार्मण शरीर है।

बधन नाम कर्म—उपर्युक्त पांचो शरीरों मे से जो शरीर एक दूसरे से सयुक्त होकर बंधन को प्राप्त होते हैं, वह बंधन नाम कर्म है।

संघातन—पांचो शरीरो की सयुक्त कार्य शक्ति संघातन है।

संस्थान—सयुक्त कार्य शक्ति जीवन पर जिस प्रकार का प्रभाव प्रकट करती है, वह सस्थान है। यह छः प्रकार का है—

हुण्डक—अत्यन्त तीव्र अभिलाषाओ के साथ भोग प्रवृत्तियों में (ग्राम शूकर की तरह) लगे रहने की वृत्ति हुण्डक सस्थान का लक्षण है।

वामन—भोग वृत्ति का कुछ कम होना, अल्प होना वामन है।

कुब्जक—अल्प आर्जव, मार्दव का प्रकट होना कुब्जक सस्थान है।

स्वाति—आत्मलक्षी होना स्वाति सस्थान है।

न्यगरोध परिमण्डल—भोग वृत्तियो का निग्रह करने की अवस्था न्यगरोध परिमण्डल सस्थान है।

समचतुरस्र—समान भाव का होना समचतुरस्र सस्थान है।

नोट :—उपर्युक्त सस्थानो के अर्थ 'शब्द कल्पद्रुम' कोष के आधार पर किये गये है।

अंगोपांग—सस्थानो से प्रभावित होकर औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर का कार्यरत होना।

संहनन—अगोपाग की क्रिया शक्ति संहनन है। वह ६ प्रकार का है—वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सुपाटिका। ये सभी सस्थान पुरुषार्थ के वाचक हैं।

वर्ग, गंध रस, स्पर्श—संहनन के अनुसार पाचो इन्द्रियो के विषयो मे लगा रहना वर्ण, गध, रस, स्पर्श कहा गया है।

गत्यानुपूर्वी—इन्द्रियो के विषयो मे तीव्रता या मंदता के साथ लगे रहने की वृत्तियो के सस्कारों का होना गत्यानुपूर्वी है।

विहायोगति—अशुभ से शुभ की ओर, और शुभ से अशुभ की ओर जाने के सस्कारो को क्रमश शुभ-अशुभ विहायोगति कहते है।

अगुरुलघु—चेतन गुण का प्रकट होना अगुरुलघु है।

उपघात—कम चेतना के पश्चात् इन्द्रियो का सचरण होकर भोग वस्तु से सम्बन्ध स्थापित करने को उपघात नाम कहते हैं।

पराघात—भोग वस्तुओ से सबध स्थापित होने पर विषयो की ओर आकर्षित होना पराघात है।

उच्छ्वास—भोग पदार्थों मे आकर्षित होने के कारण भोग पदार्थों को प्राप्त करने के लिये उत्सुक होने को उच्छ्वास कहते हैं।

आतप—उत्सुक होने पर भोगने की आकाक्षा का प्रकट होना जिससे देह में ताप होता है, आतप नाम है।

उद्योत—प्रकट हुई आकाक्षाए पूरण करने को उद्यत या उत्सुक होना उद्योत नाम कम है।

त्रस, स्थावर, अशुभ और शुभ—उपघात की अवस्था मे इन्द्रियो का बाह्य रूप,से काय रूप मे रत होना त्रस नाम कम है, आतरिक सचरण स्थावर नाम कम है, शुभ या अशुभ में लगने के सस्कार शुभ, अशुभ प्रकृति है।

बादर, सूक्ष्म, सुभग, दुभग—पराघात की अवस्था मे बाह्य रूप से काय-रत होना बादर नाम और सूक्ष्म रूप से कायरत होने के सस्कार सूक्ष्म नाम कम है। पराघात अवस्था मे नियन्त्रण करने के सस्कार सुभग और नियन्त्रण नही करने के सस्कार को दुभग नाम कम कहते हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त—सुस्वर दुस्वर उच्छ्वास अवस्था अर्थात् भोग भोगने के लिये पर्याप्त रूप से या अपर्याप्त रूप से उत्सुक होना पर्याप्त-अपर्याप्त नाम कम है। उस पर्याप्त अपर्याप्त अवस्था मे शुभ की ओर या अशुभ की ओर जाने की अवस्था सुस्वर दुस्वर है।

प्रत्येक साधारण आदेय अनादेय—उच्छ्वास अवस्था मे प्रत्येक भोग्य वस्तु के प्रति उत्पन्न आकाक्षा प्रत्येक है और सामान्य आकाक्षा उत्पन्न होना साधारण है। आकाक्षाओ का नही करना आदेय है और आकाक्षाओ को करना अनादेय है।

स्थिर अस्थिर, यशकीर्ति अयशकीर्ति—उद्योत अवस्था मे सस्कारो के अनुसार प्रवत्ति होना अस्थिरता है और भोगो म प्रवत्ति न होना स्थिरता है। शुभ प्रवृत्तिया मे लगना यशकीर्ति है और मन को नियन्त्रित नही करना अयशकीर्ति है।

निर्माण—उक्त प्रकृतियो को नियमित करना निर्माण है।

तीर्थंकर—प्रवृतियो से उपरत होने की वृत्ति तीर्थंकर नाम कम है।

१६ जीवन में कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता

□ श्री कल्याणमल जैन

जीवन क्या है ?

आकाश में उड़ते हुए पक्षी से एक मुसाफिर ने पूछा—"गगन बिहारी, क्या आप बता सकते हैं कि जीवन क्या है?" पक्षी ने उत्तर दिया—"भले मानुष ! यह भी पूछने की बात है। वह जो तेरे पाँवों के नीचे आधार की मिट्टी है और जो मेरे सिर के ऊपर विहार का उन्मुक्त लोक है, यही तो जीवन है।" मुसाफिर यह समझकर बाग बाग हो उठा कि वास्तव में यथार्थ और कल्पना का मेल कराने वाली यात्रा ही जीवन है।

बाल्यकाल की चंचलता, जवानी का उत्साह और वृद्धावस्था की उदासीनता का समन्वय ही जीवन है।

जिसे हम आत्मा, चैतन्य कहते हैं, उसे भगवान महावीर ने जीव कहा है। आगमों में अधिकतर जीव शब्द का ही प्रयोग मिलता है। जीव शब्द का अर्थ है—जो अनन्त काल से जीता आ रहा है और अनन्त-अनन्त अनागत काल की यात्रा के लिए जीता जा रहा है अर्थात् जो जीवित है, जीवित था और सदैव जीवित रहेगा, वह जीव है। वह अनन्त अनन्तकाल के प्रवाहमान प्रवाह में जीता जा रहा है। जीवन की कोई सीमा नहीं, अतः उसका मरण भी नहीं। मरण जन्म के साथ-साथ चलता है। जन्म और मरण के दो किनारों के मध्य में जो जिन्दगी के वर्ष हैं, उन्हें हम जीवन कहते हैं। यह जिन्दगी की धारा जन्म-मरण के किनारों के मध्य गतिशील है—वस्तुतः यही जीवन है।

चैतन्य की अपेक्षा आत्मा अजन्मा है, परन्तु अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार चैतन्य (आत्मा) देह धारण करता है। अतः आत्मा का नया जन्म नहीं होता, जन्म होता है तो देह का। किसी एक योनि से बँधे हुए आयु कर्म का उदय में आना जन्म है और उसका क्षय होना मरण है। उसके मध्य में देहवास की स्थिति जीवन है। आत्मा वही है—बदलता है केवल देह। जैसे एक व्यक्ति घर को छोड़कर अथवा तोड़कर नया घर बनाता है, बस इसी तरह संसार में परिभ्रमणशील आत्मा आयु कर्म का क्षय होते ही नये घर में प्रवेश करती है, इस नये घर के निर्माण को ही हम जन्म कहते हैं।

नये घर मे जाने के लिए पुराने घर को छोड़ना होता है अर्थात् देह छोडना मरण है। इस जन्म और मरण के बीच जो सासो की झंकार है वही जीवन है।

कर्म क्या है ?

साधारण रूप में जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे खाना-पीना, बोलना, चलना, सोचना, विचारना, उठना, बैठना आदि। किन्तु यहां कर्म शब्द से केवल क्रिया रूप ही परिलक्षित नही है। 'महापुराण' मे कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार है :—

विधि सृष्टा विधाता च दैवं कर्मपुरा कृतम् ।
ईश्वर - ईश्वर चेती पर्यायि-कर्म वेवस् ॥

अर्थात्—विधि, सृष्टि, विधाता, दैवपुरा, कृतम्, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के वाचक शब्द है। इस कर्म शब्द से इसी ब्रह्मा को ग्रहण किया है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के द्वारा हेतुओ से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के सग्रह का नाम कर्म हे। शुभ एव अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और सम्बन्धित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते है, विकृत करते है और शुभाशुभ फल के कारण बनते है। उन गृहित पुद्गलों का नाम है—कर्म ! यद्यपि यह पुद्गल एक रूप है, तथापि यह जिस आत्म गुण को प्रभावित करते है, उसके अनुसार ही उन पुद्गलो का नाम हो जाता है।

कर्म सिद्धान्त :

जो नियम कभी नही बदलते और यथार्थता को लिए हुए होते हैं, उन अटल नियमो को सिद्धान्त कहते हैं। उपर्युक्त जीवन का आधार कर्म-व्यवस्था है और कर्म-व्यवस्था के जो अटल नियम है, वही कर्म सिद्धान्त कहलाते है। जैसे धर्म दया मे है, भूतकाल मे था, वर्तमान मे है, और भविष्य में भी रहेगा। ऐसे ही कर्म सिद्धान्त के नियम भी अटल है, जो इस प्रकार हैं :—

(१) चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वय अपना फल देता है। आत्मा उस फल को भोगता है।

(२) किसी भी कर्म के फल भोगने के लिए कर्म और उसके करने वालो के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नही है। क्योकि करते समय ही जीव के परिणामो के अनुसार एक प्रकार का संस्कार पड़ जाता है जिससे प्रेरित होकर जीव अपने कर्म का फल स्वयं भोगता है। कर्म भी चेतन से

सम्बन्धित होकर अपने फल को अपने आप ही प्रकट करता है। जसे—भग घोटकर किसी बतन में रख देने से उस बतन को नशा नही होता, पर ज्योही उस बतन मे रखी हुई उस भग को कोई व्यक्ति पीता है तो उसे समय पाकर अवश्य नशा होता है। उसमे तीसरी शक्ति की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार कम पुद्गल जीव का सम्बन्ध पाकर स्वय अपना फल देता है—

को सुख को दुःख देत है, देत कम झकझोर ।
उलझत सुलझत आप ही, पता पवन के जोर ॥

कुछ दाशनिक मानते है कि काल, स्वभाव, कम, पुरुषाथ और नियति इन पाच समवाय के मिलने से जीव कम फल भोगता है। इन सब तर्कों से यह सिद्ध होता है कि जीव के भोग से कम अपना फल स्वय देता है। इस सिद्धान्त को भारतीय आस्तिक दशनो के साथ-साथ बौद्ध दशन जसे अनात्मवादियो ने भी स्वीकार किया है। उदाहरण के रूप मे राजा मलिन्द और स्थविर नागसेन का सवाद इस प्रकार है—

राजा मलिन्द स्थविर नागसेन से पूछता है कि भन्ते! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नही होते, कोई कम आयु वाला और कोई दीघ आयु वाला, कोई रोगी, कोई नीरोगी, कोई भद्दा, कोई सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई प्रभावशाली कोई निधन, तो कोई धनी, कोई नीच कुल वाला, तो कोई उच्च कुल वाला, कोई मूख, तो कोई विद्वान् क्यो होते ह? इन प्रश्नो का उत्तर स्थविर नागसेन ने इस प्रकार दिया।

राजन्! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जसी नही है। कोई खट्टी तो कोई नमकीन, तो कोई तीखी तो कोई कडवी क्यो होती है?

मलिन्द ने कहा—मैं समझता हूँ कि बीजो की भिन्नता होने से वनस्पति भी भिन्न भिन्न होती है।

नागसेन ने कहा—राजन्! जीवों की विविधता का कारण भी उनका अपना अपना कम ही होता है। सभी जीव अपने अपने कर्मों का फल भोगते हैं। सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना गति-योनियो मे उत्पन्न होते हैं।

राजा मलिन्द और नागसेन के इस सवाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वय ही प्रदान करते हैं।[1]

इसी का राम भक्त महाकवि तुलसीदास ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है —

---

[1] —मलिन्द प्रश्न—बौद्ध ग्रथ।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ।।

अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। वस यही कर्म सिद्धान्त है। इसमें न काल कुछ कर सकता है और न ईश्वर कुछ कर सकता है। कहा भी है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् ।
जा भुक्त क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि ।।

अर्थ—भोगे विना करोड़ो कल्पो मे भी कर्मो का क्षय नही होता है। किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पडते है।

यथा धेनु सह स्लेषु, वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथैवह कृत कर्म कर्तार, मनु गच्छति ।।
[चाणक्य नीति]

अर्थ—जैसे हजारो गायो के होते हुए भी गोवत्स सीधा अपनी माता के पास जाता है, उसी प्रकार ससार मे कृत कर्म भी अपने कर्ता का ही अनुसरण करते हैं। अर्थात् उसी को सुख-दु ख फल देते हैं।

स्वकर्मणा युक्त एव सर्वोह्य त्पद्यते जनः ।
सन्तया कृष्यते तेन न यथा स्वयामच्छति ।।

अर्थ—अपने कर्म से युक्त ही सभी जन उत्पन्न होते है। वे उस कर्म के द्वारा ऐसे खीच लिये जाते है, जैसा कि वे स्वय नही चाहते।

उक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि कर्म सिद्धान्त के नियम अटल है।

कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता :

कर्म सिद्धान्त मानव जीवन मे आशा एवं स्फूर्ति का सचार करता है। मानव मन को विकास के पथ पर आगे बढने के लिए प्रेरित करता है। जीवन मे आने वाली अनेक उलझनो का सुलझाव करता है। कर्म सिद्धान्त की सबसे वड़ी उपयोगिता यह है कि वह मानव को आत्महीनता एवं आत्मदीनता के गर्त मे गिरने से बचाता है। कर्म सिद्धान्त को मानने वाला व्यक्ति न ईश्वर की दया के लिए गिड़गिड़ाता है और न होनहार के लिए अकर्मण्य होकर बैठता है। वह समझता है कि जो समस्याएँ सामने सिर निकाल कर खडी हैं, उनसे डरने की आवश्यकता नही है। यह सब पूर्वकृत कर्मो का फल है और अपने पुरुषर्थ के द्वारा इनका सामना किया जा सकता है। इस आशा के साथ व्यक्ति पुरुषर्थ

करता हुआ अपनी आत्मा को ससार समुद्र के गहन गर्त से निकाल कर मोक्ष रूपी चरम शिखर पर पहुँच सकता है। जब मानव अपने जीवन मे हताश एव निराश हो जाता है, अपने चारो ओर उसे अधकार ही अधकार दृष्टिगोचर होता है, यहा तक कि उसका गतव्य माग भी विलुप्त हो जाता है। ऐसे समय मे उस दु खी आत्मा को कम सिद्धान्त ही एकमात्र धैय और शान्ति प्रदान करता है। यह सिद्धात उसको बताता है कि हे मानव! जिस परिस्थिति को देखकर अथवा पाकर तू रोता है या दु खी होता है, यह तेरे स्वय द्वारा निर्मित है, इसलिए इसका फल भी तुझे ही भोगना है। कभी यह हो नही सकता कि कम तू स्वय करे और फल कोई अन्य भोगे।

जब मनुष्य अपने दु ख और कष्टो मे स्वय अपने आपको कारण मान लेता है तब उसमें कम के फल भोगने की शक्ति भी आ जाती है। इस प्रकार जब मानव कम सिद्धात को पूर्ण रूप से समझकर उस पर विश्वास करता है, तब उसके जीवन मे निराशा, तमिस्रा और आत्म दीनता दूर हो जाती है। उसके लिए जीवन भोग भूमि न रहकर कत्तव्य भूमि बन जाता है। जीवन मे आने वाले सुख एव दु ख के झझावातो मे उसका मन प्रकम्पित नही होता अपितु एक आशा की लहर उमड पडती है।

सुख के उजले सुन्दर वासर, सकट की काली रातें।
यों कट जाते हैं दिन दिन, आशा की करते बातें॥

कम सिद्धात को मानने वाले व्यक्ति का जीवन आशामय बन जाता है। वह अपने जीवन में काल, स्वभाव, होनहार आदि से अधिक महत्त्व अपने कृत कम (पुरुषाथ) को देता है और कभी निराश नही होता क्योकि कम सिद्धान्त यह बताता है कि आत्मा को सुख-दु ख की गलिया मे घुमाने वाला मनुष्य का कम ही है। यह उसके अतीत कर्मों का अवश्यभावी परिणाम है। हमारी वतमान अवस्था जसी भी है और जो कुछ भी है, वह किसी दूसरे के द्वारा हम पर लादी नही गई है, अपितु हम स्वय उसके निर्माता हैं अतएव जीवन मे जो उत्थान और पतन आता है, जो विकास और ह्रास आता है तथा जो सुख और दुख आता है उसका दायित्व हम पर ह, किसी अन्य पर नही। एक दाशनिक के शब्दो मे—

'I am the master of my fate
I am the Captain of my soul

अर्थात् मैं स्वय अपने भाग्य का निर्माता हूँ, मैं स्वय आत्मा का अधिनायक हूँ। मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे कोई किसी अन्य माग पर नहीं चला सकता। मेरे मन का उत्थान ही मेरा उत्थान है तथा मेरे मन का पतन ही मेरा पतन है।

मुझे न कोई उठाने वाला है और न कोई गिराने वाला। मैं स्वयं अपनी शक्ति से उठता हूँ तथा अपनी शक्ति के ह्रास से गिरता हूं। अपने जीवन में मनुष्य कुछ जैसा और जितना पाता है, वह सब कुछ उसकी बोई हुई खेती का अच्छा या बुरा फल है। अत· जीवन मे हताश, निराश तथा दीन-हीन बनने की आवश्यकता नही है। यही कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता है।

मानव जीवन के दैनिक व्यवहार मे कर्म सिद्धान्त कितना उपयोगी है, यह भी विचारणीय प्रश्न है। कर्म-शास्त्र के विद्वानो ने अपने युग मे इस समस्या पर विचार किया है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन देखते हैं और अनुभव करते है तो महसूस होता है कि कभी-कभी तो जीवन मे सुख के सुन्दर बादल छा जाते है और कभी-कभी दुःख की घनघोर घटाएँ सामने विकराल स्वरूप धारण किये हुए खड़ी हैं। उस समय प्रतीत होता है कि यह जीवन विभिन्न बाधाओं, दुःख और विविध प्रकार के कष्टो से भरा पडा है, जिनके आने पर हम घबरा जाते है तथा हमारी बुद्धि कुंठित हो जाती है। मानव जीवन की वह घडी कितनी विकट होती है। जब एक ओर मनुष्य को उसकी बाहरी परिस्थितियां परेशान करती हैं और दूसरी ओर उसके हृदय की व्याकुलता बढ जाती है। इस प्रकार की परिस्थिति मे ज्ञानी और पंडित कहलाने वाले व्यक्ति भी अपने गन्तव्य मार्ग मे भटक जाते हैं। हताश और निराश होकर अपने दु ख, कृष्ट और क्लेश के लिए दूसरो को कोसने लगते हैं; वे उस समय भूल जाते है कि वास्तव मे उपादान कारण क्या है, उनकी दृष्टि केवल बाह्य निमित्त पर जाकर टिकती है। इस प्रकार के विषय प्रसग पर वस्तुतः कर्म सिद्धान्त ही हमारे लक्ष्य के पथ को आलोकित करता है और मार्ग से भटकती हुई आत्मा को पुनः सन्मार्ग पर ला सकता है।

सुख और दु·ख का मूल कारण अपना कर्म ही है। वृक्ष का जैसे मूल कारण बीज ही है। वैसे ही मनुष्य के भौतिक जीवन का मूल कारण उसका अपना कर्म ही है। सुख-दु ख के इस कार्य-कारण भाव को समझकर कर्म सिद्धान्त मनुष्य को आकुलता एवं व्याकुलता के गहन गर्त से निकाल कर जीवन के विकास की ओर चलने को प्रेरित करता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त आत्मा को निराशा के झझावात से बचाकर कष्ट एव क्लेश सहने की शक्ति प्रदान करता है। सकट के समय मे भी बुद्धि को स्थिर रखने का दिव्य सन्देश देता है। कर्म सिद्धान्तमे विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह विचार करता है कि जीवन मे जो अनुकूलता एव प्रतिकूलता आती है, उसका उत्पन्नकर्ता मै स्वयं हूं। फलत. उसका अनुकूल या प्रतिकूल परिणाम भी मुझे ही भोगना चाहिये।

यह दृष्टि मानव जीवन को शान्त, सम्पन्न और आनन्दमय बना देती है जिससे मानव आशा एव स्फूर्ति के साथ अपने जीवन का विकास करता हुआ आगे बढ जाता है। यही जीवन मे कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता है। □

२० | कर्म और कर्मफल

□ श्री राजेन्द्र मुनि

कर्म फल का भोग-अटल

कर्म और उसके फल का सम्बन्ध कारण और कार्यवत् है । कारण की उपस्थिति कार्य को अवश्य ही अस्तित्व मे लाती है । जहाँ अग्नि है वहाँ धूम्र की उपस्थिति भी सुनिश्चित है । बिना अग्नि के धूम्र नही हो सकता है, उसी प्रकार सुख अथवा दुःख का भोग जब आत्मा द्वारा किया जा रहा है तो निश्चय ही उसकी पृष्ठभूमि मे कारणस्वरूप पूर्वकृत कर्म है । आत्मा को कर्मों का फल भोगना ही पडता है । इससे उसका निस्तार किसी भी स्थिति मे सभव नही है । यह भी तथ्य है कि सत्कर्मों के फल भी शुभ होते हैं और असत कर्मों के फल अशुभ । सहज प्रवृत्तिवश हम सुखोपभोग के लिये तो लालायित रहते हैं । पर दुःखो को भोगने के लिये कौन तत्पर रहता है ? किन्तु हमारी इच्छा अनिच्छा से कर्मफल टलता या बढता घटता नही है । इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में जैन-दर्शन सर्वथा स्पष्ट और दृढ है कि आत्मा को पूर्वकर्मानुसार फल का भोग अनिवार्यत करना पडता है । कारण उत्पन्न करना मनुष्य के वश की बात है, किन्तु इसके पश्चात् तज्जनित कार्य पर उसका वश नही हो सकता । अग्नि को स्पर्श करने पर हाथ का जलना सर्वथा निश्चित एव अटल होता है । उसी प्रकार कर्ता को कर्म का फल भोगना पडता है । शुभ कर्मों के सुखद फलो को भोगने के लिये सभी तत्पर रहें, यह स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार दुःखद फलो से बचना भी चाहेंगे, किन्तु यह सभव नहीं है । साथ ही फल सदा कर्मानुरूप ही हुआ करते हैं । अशुभ कर्म के शुभ फल प्राप्त करना तनिक भी सभव नही है । जसे बीज होंगे तदनुसार ही फल होंगे । 'बोए पेड बबूल के' फिर कोई व्यक्ति 'आम' का रसास्वादन नहीं ले सकता । जैन धर्म म कर्म सिद्धान्त को विशेष प्रतिष्ठा है । इससे व्यक्ति को वर्तमान आचरण भी शुद्ध और शुभ रखने की प्रेरणा मिलती है । भगवान् महावीर के इस कथन "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" म यह सिद्ध होता है कि किये गये कर्मों का फल भोग बिना आत्मा का छुटकारा नही होता । परिणामत सभी श्रेष्ठ फल प्राप्ति के अभिलाषीजन कर्म की श्रेष्ठता पर भी पूरा ध्यान देते हैं ।

क्या ईश्वर कर्म-फल प्रदान करता है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय जन एवं कतिपय दर्शनों की यह सामान्य मान्यता है कि ईश्वर ही फल का दाता है। जैनदर्शन की मान्यता इससे ठीक विपरीत है। जैन दर्शन ईश्वर जैसी किसी सत्ता को सुख-दुःख का कर्त्ता नही स्वीकारता। इसमे तो आत्मा की ही सर्वोच्चता है। आत्मा ही स्वयं के लिये भविष्य तैयार करती है, वह स्वय नियन्ता है। ईश्वर मे विश्वास करने वाले मानते है कि आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है; पर फल तो उसे वैसा ही मिलेगा जैसा ईश्वर चाहेगा। यही कारण है कि ईश्वर की कृपा के लिये ही अधिक प्रयत्न किये जाते है। इनके अनुसार तो अशुभ कर्मो के फल भी शुभ हो जाते हैं। जीवन भर पापाचार में लिप्त रहने वाला अजामिल भी ईश्वर कृपा से अन्ततः मोक्ष को प्राप्त हो गया। जैन धर्म इस विचार को भ्रामक और असत्य मानता है। इसका यह सिद्धान्त अटल है कि जैसे कर्म होगे, उनके फल भी निश्चित रूप से वैसे ही होगे। साथ ही अशुभ कर्मो के फल को भी कोई शक्ति टाल नही सकती। सत्य तो यह है कि कर्म स्वय ही अपना फल देते है। अत जैसा फल इच्छित हो, तदनुरूप ही कर्म किया जाना चाहिये।

"ईश्वर ही फल प्रदान करता है" इस धारणा के पीछे कदाचित यह आधार रहा है कि प्राय: देखने में आता है कि अमुकजनो को उनके कर्मानुसार फल नही मिलता। और तुरन्त यह धारणा बना ली जाती है कि कर्मो के फल तो जैसे ईश्वर चाहता है वैसे देता है, किन्तु यह तात्कालिक विचार ही कहा जायेगा। अन्तिम सत्य का इसमे अभाव है। कर्मफल या कर्मानुरूप फल के अभाव से ईश्वर को मध्यस्थ या अभिकरण मानना उचित नही है। यहाँ यह स्पष्टत समझ लेना उपयोगी रहेगा कि कर्म की फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है। सभव है कि कुछ कर्म इसी जन्म मे अपने फल देते है और कुछ कर्म आगामी जन्म में, यहाँ तक कि कभी-कभी तो फल-प्राप्ति अनेक जन्मो के पश्चात् होती है। उदाहरणार्थ, गजसुकुमाल मुनि को ९९ लाख जन्मो के अनन्तर कर्मो का उग्रफल भोगना पड़ा था। गौतम बुद्ध के पैर मे काँटा लग गया था। इस पर उन्होने कहा कि ८१ जन्म पूर्व मैंने एक व्यक्ति पर भाले का प्रहार किया था। उस अशुभकर्म का फल ही आज मुझे इस रूप में प्राप्त हुआ है। अस्तु, मात्र इस कारण कि कर्मानुसार फल की प्राप्ति तत्काल होते न देखकर यह मानना असगत है कि फल कर्म के अनुसार नही होते, अथवा ईश्वर फल का दाता है। और वह अशुभ कर्मो के भी शुभ फल और शुभ कर्मो के भी अशुभ फल दे सकता है। अशुभ कर्मो का यदि हम शुभ फल भोगते हुए देखते है तो इसमे परिस्थिति यह रहती है कि इस समय जो फल भोगा जा रहा है, वह इस समय के कर्मो का फल नही है। पूर्वकृत शुभ कर्मों के फल उसे इस समय मिल रहे है। चाहे इस समय उसके अशुभ कर्म ही क्यो न हो ? और

यह भी सवनिश्चित है कि इन अशुभ कर्मों के फलो से भी वह मुक्त नही रह सकेगा। इसका भाग उसे करना ही होगा और वह अशुभ ही होगा।

कम और उसके फल के मध्य ईश्वर की सक्रियता को स्वीकार करना उपयुक्त नही। ईश्वरवादीजन तो ईश्वर को सवशक्तिमान नियता मानते हैं। ऐसी स्थिति मे ईश्वर इस जगत से अशुभ कर्मों को समाप्त ही क्यो नही कर देता ? ऐसा क्यो है कि पहले तो वह आत्माओ को दुष्कर्मों मे प्रवृत्त करता है और फिर उन अशुभ कर्मों के फला को शुभ बनाने का काम भी करता है। एक प्रश्न यह भी महत्त्वपूर्ण है कि यदि ईश्वर ही फलदाता है तो कर्मों के फल वह तत्काल ही क्यो नही दे देता ताकि दुष्कर्मों के दुष्परिणाम देखकर अन्य जन सन्मार्गी हो सकें।

एक स्थिति और विचारणीय है। जो पर पीडक हैं, हिंसक हैं उन्ह अधर्मी समझा जाता है और उनके कम निन्दनीय तथा अनतिक स्वीकार किये जाते हैं। वे अन्य प्राणियो को कष्ट देते हैं। यहा यह विचारणीय प्रसग है कि जिन प्राणिया को कष्ट मिल रहा है, क्या वह ईश्वर की इच्छानुसार ही मिल रहा ह ? या उन प्राणियो को अपने कर्मों का फल मिल रहा है ? ये हिंसक जन तो ईश्वर की इच्छा को ही पूरा कर रहे हैं फिर इन्हें निन्दनीय क्यों समझा जाय और इनके इन हिंसापूण कार्यों का अशुभ फल इन्ह क्यो मिले ?

इसी प्रकार दान को पुण्य कम कहा जाता ह। भूखो को अन्नदान करना श्रेष्ठ कम ह। भूखो को भूख का कष्ट भी तो ईश्वर ने ही दिया होगा फिर ईश्वर की व्यवस्था मे किसी व्यक्ति द्वारा हस्तक्षेप करना शुभ कम कस कहा जा सकता ह ? ईश्वर चाहता है कि अमुकजन भूख के कष्ट से पीडित रहे और हम उसे कष्ट से मुक्त कर दें तो ईश्वर की अप्रसन्नता ही होगी। ऐसी स्थिति मे यह कम शुभ कैसे हो सकेगा ? ये सब भ्रामक स्थितियाँ हैं।

वस्तुत जनदर्शन का यह मत असदिग्ध रूप से यथाथ है कि न तो कोई कर्ता कम के फलो से बच सकता है और न ही किसी स्थिति मे फल कर्मानुसार होने से बच सकता ह। कोई शक्ति कर्मानुसार फलो को परिवर्तित नहीं कर सकती। ईश्वर भी नहीं।

जन दशन और भाग्यवाद

कम की प्रधानता से ऐसा आभास होने लगता है कि जन दशन मे भाग्य वाद का प्राबल्य ह। व्यक्ति का यह जीवन समग्र रूप से पूव निर्धारित एव अपरिवतनीय हो—यह भाग्यवाद का प्रभाव है। यदि कमफल को ही भोगते हुए

उसे अपने जीवन को व्यतीत करना है तब तो जो कुछ पूर्व कर्मों द्वारा निर्धारित हो चुका है, जीवन का स्वरूप वैसा ही रहेगा। फिर जैनदर्शन के भाग्यवादी होने मे क्या आशका हो सकती है ? इस प्रकार के प्रश्नों का उठना सहज ही है। यह निश्चित है कि कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है और ये फल पूर्व निर्धारित होते है किन्तु साथ ही जैन दर्शन जीवन के स्वरूप-गठन मे कर्म के साथ-साथ पुरुपार्थ की भूमिका को भी समान ही महत्त्व देता है। प्रारब्ध का होना तो इस दर्शन मे माना ही जाता है किंतु यह भी माना जाता है कि व्यक्ति अपने इसी जीवन के कर्मों द्वारा इसी जीवन के लिये सुख-दुःखादि का विधान भी कर सकता है। ये कर्म अविलम्ब फल देने वाले होते हैं और यही पुरुपार्थ है।

जैन दर्शन को एकागी रूप से भाग्यवादी नही कहा जा सकता। पिछले कर्मो के फल विधान स्वरूप जो व्यवस्था निर्धारित हो जाती है वैसा ही मनुष्य का यह जीवन होता है और यह व्यवस्था अज्ञात भाग्य के नाम से जानी जाती है। जीवन धारण करते समय आत्मा का जो कर्म समुदाय होता है वह अपने फलानुसार एक रूप रग, भावी जीवन के लिये तैयार कर देता है। यदि व्यक्ति भाग्यवादी ही रहा तो वह पूर्वकृत कर्मो के फल ही भोगता रह जाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति पुरुषार्थ-प्रयोग द्वारा अपने जीवन को इच्छित रंग, रूप देने लगता है तो उसके ये नये कर्म जीवन को पूर्व विधान की अपेक्षा कुछ और ही कर देते है। ये कर्म तुरंत और इसी जीवन मे फल देने वाले होते हैं। यही कारण है कि जीवन का पूर्व निर्धारित रूप पिछड जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा भी पूर्व कर्मो के फलो को स्थगित नही कर पाता। वे फल तो उसे भोगने ही पडेगे। जब पुरुपार्थ दुर्बल हो जायगा यह कर्मफल उदित होने लगता है। ये कर्मफल बीच-बीच मे पुरुपार्थ के फलो को भी अनुकूल-प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते रहते है।

कर्मचक्र और उसका स्थगन :

कर्म के सबध मे जीवन को किसी उपन्यास के कथानक के समतुल्य कहा जा सकता है। कथानक की एक घटना अपने पहले वाली घटना के परिणाम स्वरूप ही घटित होती है और यह परिणाम स्वरूप घटित घटना भी आगामी घटना के लिए आधार बनती है। कर्मचक्र भी इसी प्रकार गतिशील रहता है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष का परिणाम पुनः बीज रूप मे प्रकट हो जाता है। कर्म के परिणाम स्वरूप फल उदित होते हैं। इन कर्मो को भोगते-भोगते आत्मा द्वारा कुछ कर्म और अर्जित हो जाते है जो कालान्तर मे अथवा आगामी जन्म मे अपने फल देते है।

स्पष्ट है कि इससे तो आत्मा कर्माधीन लगती है। आत्मा स्वतंत्र नही है कर्म करने के लिए। अब यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय हो जाता है कि कर्म

और आत्मा मे कौन अपेक्षाकृत अधिक बलवान है ? हम सामान्यत पाते है कि आत्मा कर्मों के फल भोगने मे लगी रहती ह और एक के बाद एक जन्म ग्रहण करती रहती है। ये कम ही हैं जो आत्मा को काम, क्रोध, मोहादि मलों मे लिप्त कर देते हैं। कम ही किसी आत्मा को उज्ज्वल हो सकने का अवसर देते हैं। इन परिस्थितियो मे कम की सबलता दिखायी देती ह। कम ही आत्मा पर हावी रहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

पर यथाथ मे कर्म की शक्ति कुछ नहीं ह। आत्मा ही बलवान ह। आवश्यकता इस बात की ह कि आत्मा को तेजोमय और ओजपूर्ण किया जाय फिर तो आत्मा कम पर नियत्रण करने की पात्रता अर्जित कर लेगी। आत्मा द्वारा बाह्य कर्मों के प्रवेश को निषिद्ध किया जा सकता ह। यह आत्मा ही ह जो अपने बधन कमचक्र को स्थगित कर सकती है, काट सकती है। आत्मा की कर्मों पर विजय ही तो मोक्ष प्राप्ति है। कम क्षय का योग्यता जब आत्मा मे है ता कम निश्चित ही आत्मा की अपक्षा निबल हैं।

हाँ, कम का परिणाम फल और फल का परिणाम कमरूप मे उदित अवश्य होता है और इस प्रकार कमचक्र अजस्र गति से चलता रहता है किंतु उपयुक्त पात्रता पाकर आत्मा इस गति को समाप्त कर देती है। सयम और तप से आत्मा को यह शक्ति प्राप्त होती है। कमचक्र की अटूट गति से यह नही समझना चाहिये कि प्रत्येक आत्मा के लिए उसका यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। वस्तुत आत्मा कमचक्र मे ग्रस्त कसे होती है, इस प्रसग को समझना इस सारे प्रसग का सुगम बना सकता है। राग, द्वेष, माया, लोभ, क्रोधादि आवेगो के कारण आत्मा कम के बधनो मे बद्ध हा जाती है। व्यक्ति चाह ता अपनी आत्मा को इस बधन से मुक्त रख सकता है। उसे इन विकारा से ही बचना हागा। यह भी सत्य है कि एक बार आबद्ध हा जाने पर भी वह स्वय अपने प्रयास से मुक्त हो सकता ह। ऐसे सकल्पधारियो के लिए भगवान् महावीर का यह सदेश परम सहायक सिद्ध हा सकता ह कि "आत्मा का हित चाहने वाला पापकम बढाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार विकारा को छोड दे।"

क्रोध, मान, माया, लाभ ये वे मूल कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप कम अस्तित्व मे आते हैं। जब ये ही नष्ट कर दिये जाते हैं तो इनकी नीव पर अवस्थित काम अट्टालिका स्वत ही ध्वस्त हो जाती ह। क्रोध को नष्ट करने के लिये क्षमा, मान को नष्ट करने के लिए कोमलता का व्यवहार प्रभावकारी रहता ह। इसी प्रकार माया पर सादगी स और लाभ पर सतोष से विजय प्राप्त की जा सकती ह।

वस्तुत भावकम से द्रव्यकम और द्रव्यकर्म से भावकम उदित हात रहते हैं। यही शृखला अजस्रता के साथ चलती रहती ह और परिणामत यह चक्र

अबाधित असामान्य गति वाला दिखायी देने लग जाता है। द्रव्य कर्म भोगते समय यदि भावकर्म उत्पन्न ही न होने दिये जाँय तभी यह सिलसिला रुक सकता है। पूर्वकृत कर्मों के फल भोगते समय जो कर्म हो जाते हैं वे पुन. आगामी फलों का पूर्वनिर्धारण कर देते हैं। यदि फल भोग के समय हम समभाव रखे, उनके प्रति आत्मा मे राग-द्वेष न आने दे तो नवीन कर्म बंधन अस्तित्व में नही आयेगे। अजस्र गतिशील प्रतीत होने वाला यह कर्मचक्र रुक जायेगा। इस प्रकार सर्वथा कर्मक्षय कर आत्मा अनंतसुख मोक्ष की स्थिति प्राप्त कर सकती है। यह लक्ष्य मनुष्य साधना से स्वयं ही प्राप्त करता है। कोई अन्य शक्ति उसे यह सद्गति नही प्रदान कर सकती। आत्मा का अजेय वर्चस्व कर्म सिद्धान्त द्वारा स्थापित होता है। व्यक्ति स्वयं ही अपना भाग्य निर्माता है। कर्म उसके अस्त्र हैं। कर्मों के सहारे वह स्वयं को जैसा बनाना चाहे बना सकता है।

•●•

सवैया

एक जो नार शृंगार करे नित, एक भरे है परघर पाणी।
एक तो ओढ़त पीत पीताम्बर, एक जो ओढत फाटी पुरानी॥
एक कहावत बादी बडारण, एक कहावत है पटराणी।
कर्म के फल सब देख लिये, अब ही नही चेते रे मूरख प्राणी॥

कवित्त

रुजगार बणे नांय, धन्न नही घरमांय,
खाने को फिकर बहु, नार मांगे गहणो।
लेणायत फिर-२ जाय, उधारो मिलत नाय,
आसामी मिल्या है चोर, देवे नही लेवणो॥
कुपुत्र जुवारी भया, घर खर्च बढ गया,
सपूत पुत्र मर गया, ज्यां को दुख सहणो।
पुत्री ब्याव योग भई, परणाई सो विधवा थई,
तो भी ना आयो वैराग, वीने काई केवणो॥

२१

पुण्य-पाप की अवधारणा

☐ श्री जशकरण डागा

पुण्य-पाप का अर्थ एवं व्याख्या

जैन दर्शन में सामान्यतः "शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।"[1] कहकर शुभ कर्म को पुण्य व अशुभ कर्म को पाप बताया है। पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करे, जिससे सुख रूपी फल की प्राप्ति हो। इसके विपरीत पाप वह है जिससे आत्मा दूषित होती हो और दुःख रूप फल की प्राप्ति हो। पुण्य से आत्मा का उत्थान होता है और वह मोक्ष मार्ग में सहायक हेतु होता है जबकि पाप आत्मा का पतन करता है और मोक्ष मार्ग में बाधक बनता है। वह एकान्त हेय है। पुण्य से इच्छित, इष्ट व अनुकूल संयोग एवं सामग्री मिलती है जब कि पाप से प्रतिकूल व अनिष्ट संयोग एवं सामग्री की प्राप्ति होती है।

पुण्य की उपादेयता-हेयता

आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य-पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता है। कारण दोनों ही अन्ततोगत्वा बन्धन हैं।[2] पं. जयचन्द्रजी ने भी ऐसा ही कथन किया है।

"पुण्य-पाप दोऊ करम बन्ध रूप दुइ मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमुं चरण हित जानि।।[3]

पुण्य निश्चय दृष्टि से हेय है। इसकी पुष्टि सुश्रावक विनयचन्दजी ने भी निम्न प्रकार की है —

"जीव, अजीव, बन्ध ये तीना, ज्ञेय पदारथ जानो।
पुण्य-पाप आस्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो रे।।
सुज्ञानी जीवा भजले रे, जिन इक्कीसवा।।४।।"[4]

१—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सू. ३-४।
२—प्रवचन सार टीका १/७२।
३—समयसार टीका पृ. २०७।
४—विनयचन्द चौबीसी।

(i) **ईर्यापथिक**—कपाय रहित जिसमे मात्र योगो के स्पंदन से क्रिया आवे ।

(ii) **साम्परायिक**—कषाय सहित जो क्रियाएँ की जावें, उससे आत्मा मे आने वाला कर्मास्रव जो बन्ध रूप होता है ।[1]

इस साम्परायिक आस्रव के कारण कुल अड़तीस है जो निम्न प्रकार है :—

(१–५) हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन व परिग्रह ।

(६–९) चार कषाय (क्रोध, मान, माया व लोभ) ।

(१०–१४) पाँच इन्द्रियो के विषयों का सेवन ।

(१५–३८) चौबीस साम्परायिक क्रियाएँ (पच्चीस क्रियाओ मे ईर्या पथिक को छोडकर) ।

पुण्य-पाप की सम्यग् अवधारणा हेतु कर्म प्रकृतियाँ, उनमे पुण्य व पाप प्रकृतिया कौन-कौन सी है ? तथा पुण्य व पाप प्रकृतियो के बन्ध कितने प्रकार से होते है ? यह भी जानना आवश्यक है । अत: सक्षेप मे यहाँ इस पर भी प्रकाश डाला जाता है ।

कर्म प्रकृतियाँ :

मूल आठ कर्म प्रकृतियाँ है जिनकी कुल १५८ प्रकृतियाँ हैं जो इस प्रकार है—

	कर्मनाम	अर्थ	प्रकृतियाँ
१	ज्ञानावरणीय	—आत्मा की ज्ञान शक्ति को कुण्ठित करता है । जैसे सूर्य को मेघाच्छादित करता है ।	५
२.	दर्शनावरणीय	—आत्मा की देखने व अनुभव करने की शक्ति को जो कुण्ठित करता है । जैसे राजा के दर्शन मे द्वारपाल बाधक होता है ।	९
३.	वेदनीय	—आत्मा की अव्याबाध सुख शान्ति को बाधित करता है । और लौकिक सुख-दु ख का संवेदन कराता है । जैसे शहद लगी या अफीम लगी तलवार को चखने से जिह्वा मीठे-कडवे का आस्वादन करते स्वयं घायल हो जाती है ।	२

२—तत्त्वार्थ सूत्र ६/३-५ ।

४	मोहनीय	—आत्मा की यथार्थ दृष्टि एवं सम्यग् आचरण (स्व स्वभाव प्रवर्तन) की शक्ति को कुण्ठित करता है। जैसे मदिरा सेवन व्यक्ति को बेभान कर देता है।	२८
५	आयुष्य	—आत्मा की अमरत्व शक्ति को कुण्ठित कर योनि एवं आयुष्य का निर्धारण करता है। जैसे कैदी और जेल का दृष्टान्त।	४
६	नाम	—आत्मा की अमूर्तित्व शक्ति को कुण्ठित करता है। यह व्यक्तित्व (शरीर रचना सुन्दर-असुन्दर) का निर्माण करता है। जैसे चित्रकार का दृष्टान्त।	१०३
७	गोत्र	—आत्मा की अगुरुलघु शक्ति को कुण्ठित करता है। यह प्राणी को ऊँचा नीचा बनाता है। जाति, कुल, वंश आदि की अपेक्षा से। जैसे कुम्भकार विभिन्न प्रकार के कुम्भ बनाता है।	२
८	अंतराय	—आत्मा की अनन्त शक्ति को कुण्ठित करता है। यह उपलब्धि में बाधक बनता है। जैसे अधिकारी द्वारा भुगतान का आदेश देने पर भी रोकड़िया भुगतान में रोक लगा देता है।	५
		मूल प्रकृतियाँ	१५८

इस प्रकार आठ कर्मों की कुल १५८ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें पुण्य एवं पाप की प्रकृतियों का विवरण नीचे दिया जाता है—

पुण्य प्रकृतियाँ—(१) वेदनीय की १ (साता वेदनीय), (२) आयुष्य ३ (नरकायु छोड़), (३) नाम ३७ [गति २ (देव, मनुष्य), पंचेन्द्रिय १, शरीर ५, अंगोपांग ३, वज्र ऋषभ संहनन १, सम चतुरस्र संस्थान १, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ४, आनुपूर्वी २ (देव, मनुष्य), अगुरु लघु १, पराघात १, उच्छ्वास १, आतप १, उद्योत १, शुभ विहायोगति १, निर्माण १, तीर्थंकर १, त्रसदशक १०] (४) गोत्र १ (ऊँच)। इस प्रकार कुल ४२ पुण्य प्रकृतियाँ (पुण्य भोगने की) मानी गई हैं।[1] किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' के अनुसार उक्त प्रकृतियों के अलावा कुछ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ भी पुण्य प्रकृतियों में ली गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—नव तत्त्व स।

'सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुप वेद शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्'[1] अर्थात् साता वेदनीय, समकित मोहनीय, हास्य, रति, पुरुप वेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ है, अन्य सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ बन्धने के हेतु :

पुण्य प्रकृतियाँ नव प्रकार से बन्धती हैं, यथा—(१) अन्न पुण्य—अन्न दान करने से, (२) पान पुण्य—पानी या पीने की वस्तु देने से, (३) वस्त्र पुण्य—वस्त्र देने से, (४) लयन पुण्य—स्थान देने से, (५) शयन पुण्य—बिछाने के साधन देने से, (६) मन पुण्य—मन से शुभ भावना करने से, (७) वचन पुण्य—शुभ वचन बोलने से, (८) काया पुण्य—शरीर से शुभ कार्य करने से तथा (९) नमस्कार पुण्य—बडों व योग्य पात्रो को नमस्कार करने से।

पाप प्रकृतियाँ :

कुल ८२ प्रकृतियाँ पाप भोगने की है, जो इस प्रकार हैं—[१] ज्ञानावरणीय ५ (समस्त), [२] दर्शनावरणीय ९ (समस्त), [३] वेदनीय १ (असाता), [४] मोहनीय २६ (समकित व मिश्र मोहनीय को छोड़), [५] आयुष्य १ (नरकायु) [६] नाम ३४ (५ सहनन+५ सस्थान+१० स्थावर दशक+२ नरक द्विक+२ तिर्यंच द्विक+४ चार इन्द्रिय (एकेन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय)+४ अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श+१ उपघात+१ अशुभ विहायोगति), [७] गोत्र १ (नीच गोत्र), [८] अन्तराय ५ (समस्त)।

इस प्रकार ये ८२ प्रकृतियाँ पाप वेदन करने की मानी गई हैं।[2] पुण्य की ४२ और पाप की ८२ दोनो मिलाकर १२४ प्रकृतियाँ होती हैं। शेष ३६ प्रकृतियाँ रहती है। इनमे २ प्रकृति मोहनीय की (समकित मोहनीय व मिश्र मोहनीय) व ३२ प्रकृतियाँ नाम कर्म की (बन्धन नाम १५, ५ शरीर संघात, ३ वर्ण, ३ रस, ६ स्पर्श) सम्मिलित नही की गई है। दर्शन मोहनीय त्रिक (समकित, मिश्र व मिथ्यात्व मोहनीय) का बन्ध एक होने से दर्शन मोह की दो प्रकृतियाँ छोड दी गई है तथा नाम कर्म की शेष ३२ प्रकृतियाँ शुभाशुभ छोड़कर मानी गई हैं जिससे इन्हे पुण्य-पाप प्रकृतियो मे नही लिया गया है।

पुण्य-पाप प्रकृतियो पर चिंतन करने से स्पष्ट होता है कि तिर्यंच आयु को पुण्य प्रकृति मे लिया है जबकि तिर्यंच गति व तिर्यंचानुपूर्वी को पाप प्रकृतियो मे। ऐसा क्यों? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तिर्यंच भी मृत्यु नही चाहते। विष्ठा का कीडा भी मरना नही चाहता। इस अपेक्षा तिर्यंचायु को पुण्य प्रकृति माना गया है। शेष ज्ञानी कहे, वही प्रमाण है।

१—तत्त्वार्थ सूत्र ८-२६।
२—नव तत्त्व से।

पाप प्रकृति बाधने के हेतु

पाप प्रकृतियाँ १८ प्रकार से बधती हैं। इन्हें अठारह पाप भी कहते हैं जो इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लाभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्यास्थान, (झूठा कलक लगाना) (१४) पशुन्य (चुगली), (१५) पर परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया मृषावाद, (१८) मिथ्या दर्शन शल्य।

पुण्य-पाप के कुछ विशिष्ट कमबध व उनके फल

यह भलीभाति समझने हेतु कि पुण्य-पाप के विविध कर्मों के कैसे परिणाम होते हैं, यहाँ कुछ विशिष्ट उदाहरण जो ग्रथो मे मिलते हैं, दिये जाते हैं।

(अ) शुभ (सुखदायक) कम व उनके फल

(i) परोपकार या गुप्त दान से अनायास लक्ष्मी मिलती है।

(ii) सुविधा दान से मेधावी होता है।

(iii) रोगी, वद्ध, ग्लान आदि की सेवा से शरीर निरोगी व स्वस्थ मिलता है।

(iv) देव, गुरु धम की विशिष्ट भक्ति से तीर्थंकर गोत्र का बध होता है।

(v) जीव दया से सुख सामग्री मिलती है।

(vi) वीतराग सयम से मोक्ष मिलता है जबकि सराग सयम देव गति का कारण होता है।

(ब) अशुभ (दुखदायक) कम व उनके फल

(i) हरे वक्षो के काटने-कटाने से व पशुओ के वध से सतान नही होती है।

(ii) गभ गलाने से या गिराने से बाझपना प्राप्त होता है।

(iii) कद मूल या कच्चे फलो को तोडे या तुडावे तथा उनमे खुशी मनाते खावे तो गभ मे ही मत्यु को प्राप्त होता है या अल्पायुष्य वाला होता है।

(iv) मधु मक्खियो के छाते जलाने या तुडाने से या देव, गुरु की निन्दा से प्राणी अधे, बहरे व गूगे होते हैं।

(v) पर स्त्री पुरुष सेवन से पेट मे पथरी जमती है।

(vi) पति को सताकर सती का ढोंग करने से बाल विधवा होती है।

(vii) नियम लेकर भंग करने से लघु वय में स्त्री/पति का वियोग होता है।

(viii) किसी की संतान का वियोग करने से लघुवय मे माता-पिता मर जाते हैं।

(ix) दम्पती मे झगड़ा कराने से पति/पत्नी मे प्रेम नही होता है।

पुण्य-पाप के चार रूप :

पुण्य-पाप के स्वरूप को भलीभांति समझने हेतु इनके चार रूपों को भी समझना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

(१) **पुण्यानुबंधी पुण्य**—वह दशा जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी उत्तम हो जिससे ऐसे पुण्य का अर्जन भी होता रहे कि जो समुज्ज्वल भविष्य का कारण बने।[1] इस प्रकार के जीव वर्तमान मे सुखी रहते है और भविष्य में भी सुखी होते हैं। यह जीव को शुभ से शुभतर की ओर ले जाता है।[2] यह ज्ञान सहित और निदान रहित, धर्म का आचरण करने से अर्जित होता है। अर्थात् शुद्ध रीति से श्रावक या साधु धर्म के पालन से पुण्यानुबधी पुण्य का अर्जन होता है। इसका महानतम् फल तीर्थंकरत्व है तथा उससे उतरता फल मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती रूप होता है। श्री हरिभद्र सूरि ने लिखा है—जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और मोक्ष रूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो ऐसे पुण्यानुबधी पुण्य का मनुष्यो को सभी प्रकार से सेवन करना चाहिए अर्थात् श्रावक और साधु के धर्म का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

(२) **पापानुबधी पुण्य**—जो पूर्व पुण्य का सुख रूप फल पाते हुए वर्तमान मे पाप का अनुबध कर रहे है, वे इस भेद मे आते है। ऐसे प्राणी पाप करते हुए भी पूर्व पुण्योदय से सुखी व समृद्ध होते है जिससे सामान्य प्राणियो को संदेह होता है कि पाप करके भी सुखी रहते है तो फिर धर्म करना व्यर्थ है। किन्तु वे नही जानते कि वर्तमान मे जो सुख मिल रहा है वह पूर्व के पुण्य का फल है। जब वह समाप्त होता है तो ऐसे प्राणियो की दुर्गति निश्चित होती है। हिटलर, मुसोलिनी इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। आगमो मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण आता है जो चक्रवर्ती होकर भी पाप का सचय कर नरक में गया। इस प्रकार जो पुण्य वर्तमान मे सुख रूप फल देकर भी भविष्य को दुष्प्रवृत्ति से अंधकारमय

१—मोक्षमार्ग पृ ५७४।

२—श्री हरिभद्र सूरि कृत अष्टक प्रकरण के २४वे अष्टक मे।

बनावे, दुर्गति मे ले जावे, जीव को पतनोन्मुख करे, उसे पापानुबधी पुण्य कहते हैं।

(३) पुण्यानुबधी पाप—पूर्व भव म किए पाप रूप अशभ कर्मों का फल पाते हुए भी जो शुभ प्रवत्ति से पुण्य बध करावे, उसे पुण्यानुबधी पाप कहते हैं। इस भेद मे चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण प्रसिद्ध है। पाप का उदय होते हुए भी भगवान महावीर के निमित्त से उसने शुभ भावो मे प्रवृत्ति कर शुभ का बध कर लिया। पाप स्थिति मे रहकर भी पुण्य का अर्जन कर लेना, भविष्य को समुज्ज्वल बना लेना, इस भेद का लक्ष्य है। नदन मणियार का जीव मेंढक भी इसी भेद मे आता है जो तिर्यच भव मे श्रावक धर्म की साधना कर देवगति का अधिकारी बना और अत मे मोक्ष प्राप्त करेगा।

(४) पापानुबधी पाप—पूर्व भव के पाप से जो यहाँ भी दु खी रहते हैं और आगे भी दु ख (पाप कर्म) का सचय करते हैं। कुत्ता, बिल्ली, सिंहादि हिंसक व क्रूर प्राणी इसी भेद मे आते हैं। तदुल मत्स्य इसका उदाहरण है जो थोडे से जीवन मे ही सातवी नारक का बध कर लेता है। कसाई आदि भी इसी भेद मे समाहित होते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से पुण्य पाप बध के चार प्रकार माने गए हैं। इनमे पुण्यानुबधी पुण्य साधक के लिए सर्वोत्तम एव उपादेय है। पापानुबधी पाप एव पापानुबधी पुण्य दोनो हेय हैं। पुण्यानुबधी पाप शुभ भविष्य का निर्माता होने से वह भी साधक के लिए हितकारी है। जब तक समस्त कर्म क्षय नही होते सभी जीवो को इन चार भेदो मे से किसी न किसी भेद मे रहना ही होता है।

तत्त्व दृष्टि से पुण्य-पाप की अवधारणा

तत्त्व दृष्टि से विचार करें तो पुण्य-पाप दोनो ही पुद्गल की दशाएँ है जो अस्थायी, परिवर्तनशील एव अत में आत्मा से विलग होने वाली होती हैं। कहा भी है—

"पुण्य-पाप फल पाय, हरख बिलखा मत भाय।
यह पुद्गल पर्याय उपज, नासत फिर थाय॥"[1]

अत पुण्योदय म हर्षित होना व पापोदय म विलाप करना दोना ही ज्ञानियों की दृष्टि म उचित नही है। पुण्य-पाप बध का मुख्य आधार भाव है। कषायों की मदता में पुण्य प्रकृतियो का और तीव्र कषायो म पाप प्रकृतियो का बध होता है। शुभ अध्यवसायो मे कषाय मद रहती है। मद कषाय मे यदि योग प्रवत्ति भी मदतम रहे तो जघन्य कोटि का शुभ बध होता है और तीव्र, तीव्रतर

१—छहढाला।

और तीव्रतम रहे तो रस एवं योग की तीव्रता में पुण्य-बंध भी मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। जैसे ज्ञान सहित देव गुरु के प्रति भक्ति भाव की तन्मयता भी तीर्थंकर गोत्र बंधने का एक कारण है। ऐसे समय कषायो की मदता किन्तु योगो की तीव्रतम प्रवृत्ति होती है जिससे शुभ का उत्कृष्ट बंध हो जाता है।

एकेन्द्रिय जीवो के केवल काय-योग ही है और वह भी जघन्य प्रकार का। उनमे शुभाशुभ अध्यवसाय भी मंद होते है कारण विना मन के विशेष तीव्र अध्यवसाय नही हो सकते। इस कारण वे न तो इतना पुण्य अर्जन कर सकते हैं कि मरकर देव हो सकें और न इतना पाप अर्जन कर सकते हैं कि मरकर नरक मे चले जावें। वे साधारणतया अपनी काया या जाति के योग्य ही शुभाशुभ कर्म वध करते हैं। यदि अध्यवसायो की शुद्धि हुई तो विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय हो जाते हैं। विकलेन्द्रिय भी मन के अभाव मे अधिक आगे नही वढ सकते।

पुण्य-पाप मे भी भाव प्रधान है। भावो के परिवर्तन से पुण्य क्रिया से पाप और पाप क्रिया से भी पुण्य का वध सभव है। कभी-कभी शुभ भाव से किया कृत्य भी विवेक के अभाव मे अशुभ परिणाम वाला हो सकता है। जैसे देवी देवता की मूर्ति के आगे पूजा-हवन एव वलिदान मे वकरा, पाड़ा आदि प्राणियो का वध देव पूजा की शुभ भावना से किया जाता है। वध करने वालो का उन वलि किए जाने वाले प्राणियो के प्रति कोई द्वेष भाव भी नही होता। वे अपना धर्म मानते हुए प्रसन्नता से वलि करते है। फिर भी मिथ्यात्व, हृदय की कठोरता, निर्दयता एव विवेक हीनता के चलते उन्हें प्राय: अशुभ कर्म वधते है। उनके तथाकथित शुभ विचारो का फल अत्यल्प होने से उसका कोई महत्त्व नही।

विवेकपूर्वक शुभभावो से दान देने से पुण्य वंध होता है। भले ही दी हुई वस्तु का दुरुपयोग हो तो भी पाप वंध की संभावना नही रहती है। इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त मननीय है।

एक सेठ ने एक बावा जोगी को भोजन की याचना करने पर सेके हुए चने दिए। उस बावा ने उन चनो को तालाब मे डालकर मछलियाँ पकड़ी और पकाकर खा गया। सामान्यत: कथाकार कहते हैं कि इसका पाप चने देने वाले सेठ को भी लगा। किन्तु कर्म सिद्धान्त इसे नही मानता। सेठ ने उस सन्यासी को भूखा जानकर उसके द्वारा याचना करने पर खाने हेतु चने दिए। वह भिखारियो को चने देता था। उसका उद्देश्य भूखो की क्षुधा शान्त कर उन्हे सुखी करना था। उसे यह आशंका ही नयी थी कि एक संन्यासी होकर इतना

क्षुद्र होगा और दिए चना से मछलियाँ मारेगा। अत वह इस पाप का भागीदार नही हो सकता। दाता के भावो मे और क्रिया मे इस पाप की आशिक कल्पना तब भी नही थी। अत वह सेठ सवथा निर्दोष है। जब माचिस विक्रेता से कोई माचिस खरीद कर घर जलावे तो वह विक्रेता उसके लिए अपराधी नही माना जाता, तब शुभ भाव से विवेकपूर्वक दिए हुए अनुकम्पा दान के दुरुपयोग का पाप दानदाता को किस प्रकार लग सकता है ?

एक प्रबुद्ध वग यह भी कथन करता है कि जिस तरह पाप से भौतिक हानि होती है वसे ही पुण्य से भौतिक लाभ ही होता है, आत्मिक लाभ तो कुछ नही होता फिर पुण्य कम क्यो किए जावें ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुत पुण्य से आत्मिक लाभ कुछ नही होता हो, ऐसा एकात नियम नही है। वस्तुतः पुण्य से जहाँ भौतिक लाभ होते हैं वहाँ आत्मिक लाभ भी। जसे मनुष्य जन्म, आय क्षत्र, उत्तम कुल, धम श्रवण, धर्म प्राप्ति आदि सब पुण्य से ही होते हैं। बिना मनुष्य भव के जीव धम साधना ही नही कर सकता। एकेद्रिय, विकलेन्द्रियादि दशाओ मे तो जीव धम का स्वरूप ही नही समझ सकता। जीव को पुण्य के निमित्त से उत्तम साधन मिलने पर ही वह धम साधना में गति करता है। माता मरुदेवी, सयती राजर्षि, परदेशी राजा, भृगुपुत्र आदि मिथ्यात्वी थे। उन्ह पुण्य के फलस्वरूप ही धम के उत्तम निमित्त मिले और वे धर्मात्मा बने। अनादि मिथ्यादृष्टि को जब प्रथम बार सम्यक्त्व लाभ होता है तब उसे उपशम भाव के साथ पुण्योदय की अनुकूलता रहना आवश्यक होती है, इसी निमित्त से उसके दशन मोहनीय का पर्दा हटता है। पुण्य क्रिया के साथ यदि वासना का विष न हो, तो उससे आत्मिक लाभ होता है और पुण्यानुबधी पुण्य तो नियमत आत्मिक लाभ पूवक होता है।

अन्त मे सभी आत्मार्थियो से निवेदन है कि पुण्य-पाप का यथाथ स्वरूप जसा सवज्ञ वीतराग भगवतो ने प्ररुपित किया है, उस पर धम सिद्धात के परिप्रेक्ष्य मे जानकारी के अनुसार यत्किंचित प्रकाश डालने का इस लेख मे प्रयास किया है। इसम कुछ अन्यथा लिखने मे आया हो तो कृपा कर सूचित करावें जिससे भूल सुधार हो सके।

धम सिद्धान्त के अनुसार पुण्य-पाप की अवधारणाओ को उनकी हेय, ज्ञेय एवं उपादेयता की वस्तुस्थितियो को ध्यान म लाकर उनसे हम अपने जीवन और समाज को लाभान्वित करें। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर अग्रसर होवें, बस यही हार्दिक सद्भावना है।

• ☐ •

२२

ज्ञानयोग : भक्तियोग : कर्मयोग

□ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय चिन्तन धारा मानवीय व्यक्तित्व मे निहित संभावनाओ की चरितार्थता का मार्ग आरोपित करने के पक्ष में नही है—वह मानती है कि मार्ग उसके स्वभाव से निर्धारित होता है और वही सही है। इसीलिए यहाँ अध्यात्म के क्षेत्र मे मार्गो का आनन्त्य लक्षित होता है। सच्चा एवम् परिणत-प्रज्ञ निर्देशक शिष्य की योग्यता के अनुसार ही दीक्षा दान करता है और उसका मार्ग निर्धारित करता है। मर्मज्ञो की धारणा है कि मानव अभावो मे 'स्वभाव' को खो तो नही देता, परन्तु उस पर इतना आवरण डाल लेता है कि वह रहकर भी 'नही' सा हो जाता है। स्वभावेतर पदार्थों के बोध के औंधे और बहिर्मुखी स्रोत 'स्वभाव-बोध' की क्षमता को दवाए हुए है। आवश्यकता है इन आवरणो को जीर्ण कर उस क्षमता के अनावरण की, ताकि उसकी शाश्वत भूख मिट जाय, काम्य उपलब्ध हो जाय, स्वभाव मे प्रतिष्ठित हो जाय।

स्वभाव की उपलब्धि निषेधात्मक नही, विधेयात्मक है—वह दु:ख निवृत्ति रूप निषेधात्मक उपलब्धि नही है, प्रत्युत अन्य-निरपेक्ष स्वभावात्मक सुखोपलब्धि है। कहा जाता है कि कुछ लोगो का स्वभाव रुक्ष (द्रवीभावानुपेत) होता है और कुछ लोगो का द्रवीभावात्मक। पहली प्रकार की प्रकृति वालो का मार्ग 'ज्ञान मार्ग' है—ब्रह्म विद्या का मार्ग है और दूसरी प्रकार की प्रकृति वालो का मार्ग 'भक्ति मार्ग' है। ब्रह्म विद्या और भक्ति मे मधुसूदन सरस्वती ने चार आधारो पर भेद किया है—स्वरूप, फल, साधन और अधिकार। उन्होंने कहा—(१) द्रवीभाव पूर्वक मन की भगवदाकार सविकल्पक वृत्ति भक्ति है जबकि द्रवीभावानुपेत अद्वितीय आत्म मात्र गोचर निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्म विद्या या ज्ञान है। (२) भगवद् गुणगरिमग्रथित ग्रंथ का श्रवण भक्ति का साधन है जबकि तत्वमसि आदि वेदांत महावाक्य ब्रह्म विद्या का साधन है। (३) भगवद् विषयक प्रेम का प्रकर्ष भक्ति का फल है जबकि सर्वानर्थ मूल अविद्या निवृत्ति ही ब्रह्मविद्या का फल है। (४) भक्ति मे प्राणिमात्र का अधिकार है जबकि ब्रह्म विद्या में साधनचतुष्टय सम्पन्न परमहंस परिव्राजक का ही अधिकार है। भक्तिमार्ग स्वतंत्र है, ज्ञान-विज्ञान सभी उसके आधीन है। भक्त को भगवान् प्रसन्न होकर 'बुद्धि योग' प्रदान करता है जिसमे ब्रह्मविद्या निरपेक्ष अविद्या का नाश हो जाता है। भक्त भक्ति उसी तरह करता है जैसे उत्तम भोजन को पेटू। पेटू तृप्ति के लिए भोजन करता है पर भोजन की विविधाकार परिणतिया जाठर अग्नि करती है—अभिप्राय यह कि ज्ञान-विज्ञान

भक्त के लिए आनुषंगिक और अनिवार्य उपलब्धि है—उसके लिए वह ज्ञान-मार्गियो की तरह श्रम नही करता। वह तो सर्वात्मना आराध्य के प्रति समर्पित हो जाता है और आराध्य कृपा करके वह स्वय उसे उपलब्ध हो जाता है। वह मानता है कि जिसे माना है उसी म अपने को डुबो दो, लीन कर दो—समर्पित कर दो। उसे साधन से नही पाया जा सकता, हाँ वह स्वय ही साधन बन जाय और अपने को उपलब्ध करा दे—यह सभव है। भक्ति वह तत्त्व है जो की नही जाती 'जहि प बनि आव'—हो जाती है—जिससे बन गई बन गई अन्यथा प्रयत्न करते रहो—निष्फल। गज-राज सुरसरि की विपरीत धार मे वह जाता ह—लाख प्रयत्न के बावजूद—जबकि मछली निष्प्रयास तर जाती ह। ज्ञान से 'स्वरूप का बोध हो जाता ह भक्ति से 'स्वरूप' बोध के बाद कल्पित भेद की भूमि पर रस क्रीडा चलती रहती है। भक्ति कम नही है, भाव ह, जो स्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर अमर होती ह। जब तक स्वरूप साक्षात्कार नही है, तब तक अविद्या का साम्राज्य ह। अविद्या से अहकार का प्रादुर्भाव होता है और 'अहकार विमूढात्माकर्ताऽहमिति मन्यते'—अहकार ग्रस्त व्यक्ति स्वय को कर्ता मानता है यह अविद्या-जनित-अहकार-मूलक कर्तृत्व बोध जब तक रहेगा, तब तक जो कुछ भी होगा—वह कर्तृत्व सापेक्ष होने से 'कम' ही कहा जायगा—भक्ति' नही। फलत वास्तविक भाव राज्य का उदय अविद्या निवृत्ति एव स्वरूप साक्षात्कार के बाद होता है। यही 'भाव' प्रगाढ होकर 'प्रम' बनता है—'भाव स एव सान्द्रात्मा बुध प्रमा निगद्यते'—

यह सब कुछ चित्त की एकतानता से सभव ह—जो तब तक सभव नही है जब तक मलात्मक आवरण जीर्ण न हो। मलशान्ति के निमित्त निष्काम भाव से कम का सम्पादन अपेक्षित ह।

बात यह ह कि 'कम' का त्याग तो सर्वात्मना सभव ह नही। जहाँ मरना, जीना, सास लेना और छोडना भी 'कम' है—वहा कम का स्वरूपत त्याग तो सभव नही। सच्चा कमत्याग फलासक्ति का त्याग है। कम रूपी बिच्छू का डक है—आसक्ति। इसी के कारण आवरणो का होना सभव होता है। फलत इसी आसक्ति का त्याग होने से कम अकम हो जाते हैं—उनसे आवरणो का आना बद हो जाता है—शेष को ज्ञानाग्नि भस्मसात कर देती है। अनासक्त कम बधन नही, मुक्ति का साधन बन जाता है—कम योग बन जाता है।

गीताकार ने सवाल खडा किया कि स्वभाव मे प्रतिष्ठित हो जाने के बाद कम छोड देना चाहिये या करना चाहिए? भगवान् कृष्ण ने सिद्धान्त रूप मे कहा कि लोक सग्रह के लिए स्वरूपोपलब्धि के बाद भी कम करना चाहिए। इस प्रकार स्वरूप साक्षात्कार से पूव मलापहार के निमित्त अनासक्त भाव से और स्वरूप साक्षात्कार के बाद लोक सग्रह के निमित्त कम करते रहना चाहिए।

सक्षेप में यही ज्ञान योग, भक्ति योग और कमयोग का आशय है। ☐

२३ जैन-बौद्ध दर्शन में कर्मवाद

☐ डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

ईश्वर की परतन्त्रता से निर्मुक्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्य की पृष्ठभूमि मे सत्कर्मो की प्रतिष्ठा करना कर्मवाद का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मा की परम शक्ति को प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान रहती है जो अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अदृष्ट, मोह, वासना, संस्कार आदि के कारण प्रच्छन्न हो जाती है। मिथ्यादर्शनादि परिणामो से सयुक्त होकर जीव के द्वारा जिनका उपार्जन किया जाता है वे कर्म कहलाते है—'जीवं परतन्त्री कुर्वन्तीति कर्माणि।' अथवा 'मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि।' दोनो दर्शनो की दृष्टि से यही कर्म ससरण का कारण होता है और इसी के समूल विनाश हो जाने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बौद्धधर्म मे कर्म को चैतसिक कहा गया है और वह चित्त के आश्रित रहता है। जैन धर्म मे भी कर्म आत्मा के आश्रय से उत्पन्न माने गये हैं। जैन धर्म मे त्रियोग (मन, वचन, काय) को आस्रव और बध तथा संवर और निर्जरा का मूल कारण माना गया है। बौद्धधर्म में भी कर्म तीन प्रकार के है (१) चेतना कर्म (मानसिक कर्म) और (२-३) चेतयित्वा कर्म (कायिक और वाचिक कर्म)। इन्हें 'त्रिदण्ड' कहा गया है। इनमे से मनोदण्ड हीनतम और सावद्यतम कर्म माना गया है। जैनधर्म की भी यही मान्यता है। उसमे बीस आस्रवो मे पांचवा आस्रव योग आस्रव है। उसके तीन भेद होते हैं—मनयोग, वचनयोग और काययोग। इसी तरह कर्म के तीन रूप भी बताये गये है—कृत, कारित और अनुमोदन। इनमे यद्यपि तीनो कर्म समान दोषोत्पादक है पर कृतकर्म अपेक्षाकृत अधिक दोषी माना जाता है यदि उसके साथ मन का सवंध है।

बौद्धधर्म मे कर्म की परिपूर्णता के लिए चार बातो की आवश्यकता बतायी गयी है—

(१) प्रयोग (चेतना कर्म) अर्थात् इच्छा

(२) मौल प्रयोग (कार्य प्रारभ)

(३) मौल कर्मपथ (विज्ञप्ति कायकर्म तथा शुभ-अशुभ रूप अविज्ञप्ति कर्म), तथा

(४) पृष्ठ (क्म करने क उपरान्त शेष कम)।

कम करने की ये चार क्रमिक स्थितियाँ हैं। इसी तरह कम के अय प्रकार से भी भेद किये गये हैं—

(१) विज्ञप्ति क्म (काय वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति)

(२) अविज्ञप्ति कम (विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल अकुशल कम)

'विसुद्धिमग्ग' मे कम को अरूपी कहा गया है पर 'अभिधमकोश' मे उसे अविज्ञप्ति अर्थात रूपी व अप्रतिघ माना गया है। सौत्रातिक दशन कम को अरूपी मानकर जैन दशन के समान उसे सूक्ष्म मानता है। बौद्ध दशन मे कम को मानसिक, वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है। उन्हे 'सस्कार' भी कहा जाता है। वे वासना और अविज्ञप्ति रूप भी हैं। मानसिक सस्कार कम 'वासना' कहलाता है और वाचिक तथा कायिक सस्कार कम 'अविनप्ति' माना जाता है। ये दोना विज्ञप्ति और अविनप्ति कम भावो के अनुसार शुभ और अशुभ दोनो प्रकार क होते हैं। जैनधम क द्रव्यकम और भावकम की तुलना किसी सीमा तक इनसे की जा सकती है। वासना और अविज्ञप्ति कम जैनधम का द्रव्यकम (कार्माण शरीर) और सस्कार तथा विज्ञप्ति कम जनधम का भावकम माना जा सकता है। विज्ञप्तिवादी बौद्धधम को वासना के रूप मे स्वीकार करते हैं। प्रनाकर गुप्त के अनुसार सारे काय वासनाजन्य होते हैं। शून्यवादी बौद्धदशन मे वासना का स्थान माया या अविद्या को दिया गया है।

जनधम के समान बौद्धधम मे भी चेतनाकम को मुख्यकम माना गया है। उस चित्त सहगत धम कहा है। मानसिक धम उसकी अपर सज्ञा है। यह चेतना चित्त का आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसघि (जन्म) के योग्य बनाती है। चेतना के कारण ही शुभाशुभ कम होते हैं और तदनुसार ही उसका फल होता है। यह मनसिकार दो प्रकार का है—

(१) योनिशो मनसिकार (अनित्य को अनित्य तथा अनात्मा को अनात्म मानना)

(२) अयानिशो मनसिकार (अनित्य को नित्य तथा नित्य को अनित्य मानना।

इनम प्रथम सम्यक्त्व और द्वितीय मिथ्यात्व कम है जनधम की परिभाषा मे। मानसिक, वाचिक और कायिक कम को यहाँ 'योग' की सना दी गई है। जिससे आठ कर्मों का छेद हो वे कृतिकम हैं और जिनसे पुण्यकम का सचय हो वे चितकम हैं। बौद्धधम के समान जैनधम मे भी चेतनाकर्म है जिसे भाव विशेष

कहा गया है। वह कुशल-अकुशल के समान शुद्ध-अशुद्ध होती है। चेतना कर्म के दो रूप है—दर्शन और ज्ञान। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना ये सभी शब्द समानार्थक है। योनिशो मनसिकार को ज्ञानचेतना और अयोनिशो मनसिकार को अज्ञानचेतना कह सकते है। सम्यग्दृष्टि को ही ज्ञानचेतना होती है और मिथ्यादृष्टि को कर्म तथा कर्मफल चेतना होती है।

जैनधर्म के ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म जैसे कर्म बौद्धधर्म मे नही मिलते। ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण है। बौद्धधर्म आत्मा को मानता नही। अतः इन गुणो के विषय मे वहाँ अधिक स्पष्ट विवेचन नही मिलता। शोभन चैतसिक वेदनीय कर्म के अन्तर्गत रखे जा सकते है। मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एव विचिकित्सा ये चौदह अकुशल चैतसिक है। इन चैतसिको की तुलना जैनधर्म के भावकर्म से की जा सकती है। मोहनीय कर्म के अन्तर्गत ये सभी भावकर्म आ जाते है। बौद्धधर्म के अकुशल कर्म मोहनीय कर्म के भेद-प्रभेदो में समाहित हो जाते है। जीवितेन्द्रिय जैनधर्म का आयुकर्म है जिसे 'सर्वचित्त साधारण' कहा गया है। नामकर्म की प्रकृतिया भी बौद्धधर्म मे सरलतापूर्वक मिल सकती है।

शोभन चैतसिको मे श्रद्धा आदि शोभन साधारण, सम्मा वाचा आदि तीन विरतियाँ तथा करुणा, मुदिता दो अप्रामान्य चैतसिक जैनधर्म के सम्यग्दर्शन के गुणो मे देखे जा सकते है। अकुशल कर्मों की समाप्ति होने पर ही साधक श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपभाप्य, अलोभ, अद्वेप, तत्रमध्यस्थता आदि गुणो की प्राप्ति करता है। ऐसे ही समय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और सप्त तत्त्वो पर भली प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन हैं। दोनो धर्मो मे श्रद्धा को प्राथमिकता दी गई है। एक मे सम्यग्दर्शन है तो दूसरा उसे ही सम्मादिट्ठी कहता है। यहाँ 'सम्यक्' शब्द विशेषण के रूप मे जुडा हुआ है जो पदार्थो के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धा को प्रस्तुत करता है। सम्यग्दर्शन के नि शंकित, नि.काक्षित आदि आठ अंग शोभन चैतसिको को और स्पष्ट कर देते है। ये वस्तुतः सम्यग्दृष्टि के चित्त की निर्मलता को सूचित करते हुए उसकी विशेपताओ को बताते है।

अभिधम्मत्थसगहो के प्रकीर्णक संग्रह मे चित्त चैतसिको का सयुक्त वर्णन किया गया है। चित्त-चैतसिकों के विविध रूप किस-किस प्रकार से परस्पर मिश्रित हो सकते है, इसे यहाँ वेदना, हेतु, कृत्य, द्वार, आलबन तथा वस्तु का आधार लेकर स्पष्ट किया गया है। वेदना संग्रह के सुख, दु.ख, सौमनस्य, दौर्मनस्व और उपेक्षा को हम वेदनीय कर्म के भेद-प्रभेदो मे नियोजित कर सकते है। अनुकपा, दान, पूजा, प्रतिष्ठा, वैयावृत्ति आदि कर्म सात वेदनीय कर्म है और

दु ख, शोक ताप, आक्रन्दन, वध परिदेवन आदि कम असाता वदनीय कम है। कृत्य सग्रह मे निर्दिष्ट प्रतिसधि, भवग आवजन, दशन श्रवण घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, सवरिच्छन आदि सभी चित्त चतसिक के काय हैं। इन्हे जैनधम के शब्दो मे कमयुक्त आत्मा क परिस्पन्द कह सकते हैं।

बौद्धधम मे कम के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। भूमिचतुष्क और प्रतिसधि चतुष्क का सबध जीव अथवा चित्त के परिणामा पर आधारित अग्रिम गतिया म जन्म लेने से है। कुशल-अकुशल चेतना क आधार पर बौद्धधम मे जनककम, उपष्टम्भक कम (मरणान्तकाल मे भावो क अनुसार गति प्राप्तिक), उपपीडक कम (कम विपाक का गहरा करने वाला) तथा उपघातक कम (कमफल को समूल नष्ट करने वाला) ये चार भेद किये गय हैं। ये भेद वस्तुत कम की तरतमता पर आधारित हैं। किसी विषय विशेष से इनका सबध नही है। पाकदान पर्याय की दष्टि से गरुक, आसन्न आदि चतुष्क कम समय पर आधारित हैं। विपाक चतुष्क कम भी चार हैं—दृष्टधमवेदनीय उपपद्यवेदनीय, अपरपर्यायवेदनीय और अहोसिकम। इन्हे हम प्रकृतिबध, स्थितिबध और अनुभागबध के साथ तुलना कर सकते ह। जनधम मे वर्णित प्रदेशबध जसा विषय बौद्धधर्म म दिखाई नही देता।

जन-बौद्धधम मे अकुशल कर्मो मे मोह और तज्जन्य मिथ्यादृष्टि का स्थान प्रमुख है। मिथ्यादष्टि को ही दूसरे शब्दा मे 'शीलव्रत परामर्श कहा गया है। जनधम इसी को 'मिथ्यात्व' सज्ञा देता है। सबसे बडा अतर यह है कि जन धम आत्मवादी धम है जबकि बौद्धधम अनात्मवादी धम है। बौद्धधम आत्मवाद को मिथ्यात्व कहता है जबकि जनधम आत्मवाद को। इसके बावजूद अन्त मे चलकर दोना एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

जैनधम और बौद्धधम दोनो पूर्णत कमवादी धम हैं इसलिए दोना धर्मो और उनके दार्शनिकों न कम की सयुक्तिक और गभीर विवेचना की है। दोनो का कमसाहित्य भी काफी समृद्ध है। प्रस्तुत लघु निबध मे इतने विस्तृत विषय को समाहित नही किया जा सकता है। यह तो एक महाप्रबध का विषय है। अत यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत रहा है कि दोनो धर्मो के परिभाषित शब्दो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि उनके चिंतन का विषय तो एक है पर शली और भाषा भिन्न है।

• □ •

बौद्ध दृष्टिकोण .

बौद्ध दर्शन मे कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न १० प्रकार के पापो या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है :—[1]

(अ) **कायिक पाप** : १. प्राणातिपात–हिंसा, २. अदन्नादान–चोरी या स्तेय, ३. कामेसु–मिच्छाचार, कामभोग सम्बन्धी दुराचार,

(ब) **वाचिक पाप** : ४ मृषावाद–असत्य भाषण, ५. पिसुनावाचा–पिशुन वचन, ६. परुसावाचा–कठोर वचन, ७. सम्फलाप–व्यर्थ आलाप,

(स) **मानसिक पाप** : ८ अभिज्जा–लोभ, ९. व्यापाद–मानसिक हिंसा या अहित चिंतन, १०. मिच्छादिट्ठी–मिथ्या दृष्टिकोण ।

अभिधम्म सगाहो मे निम्न १४ अकुशल चैतसिक वताए गए है : १ मोह–चित्त का अन्धापन, मूढता, २. अहिरिक–निर्लज्जता, ३. अनोत्तपय–अ-भीक्ता (पाप कर्म मे भय न मानना)[2], ४. उद्धच्च–उद्धतपन, चचलता, ५. लोभो–तृष्णा, ६ दिट्ठि–मिथ्या–दृष्टि, ७ मानो–अहकार, ८. दोसो–द्वेष, ९. इस्सा–ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), १० मच्छरिय–मात्सर्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च–कौकृत्य (कृत-अकृत के वारे मे पश्चात्ताप), १२. थीन, १३. मिद्ध , १४. विचिकिच्छा–विचिकित्सा (सशयालुपल) ।

गोता का दृष्टिकोण :

गीता मे भी जैन और बौद्ध दर्शन मे स्वीकृत इन पापाचरणो या विकर्मो का उल्लेख सम्पदा के रूप मे किया गया है । 'गीता रहस्य' में तिलक ने मनु स्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है ।[3]

(अ) **कायिक** : १ हिंस, २ चोरी, ३. व्यभिचार ।

(व) **वाचिक** : ४. मिथ्या (असत्य), ५ ताना मारना, ६ कटुवचन, ७ असगत बोलना ।

(स) **मानसिक** : ८ परद्रव्य अभिलाषा, ९ अहित चिन्तन, १० व्यर्थ आग्रह ।

१—वौद्ध भा० व०, पृष्ठ ४८० ।

२—अभिवम्मत्थ सगहो, पृष्ठ १९-२० ।

३—मनुस्मृति १२/५-७ ।

पाप के कारण

जन विचारकों के अनुसार पापकम की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं — १ राग या स्वाथ, २ द्वेष या घृणा और ३ माह या अज्ञान। प्राणी राग, द्वेष और मोह से ही पाप कम करता है। बुद्ध के अनुसार भी पाप कम की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—१ लोभ (राग), २ द्वेष और ३ मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

पुण्य (कुशल कम)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एव भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश के मध्य सतुलन बनाना यह पुण्य का काय है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या मे तत्वाथ सूत्रकार कहते हैं—शुभास्रव पुण्य है।[1] लेकिन जैसा कि हमने देखा पुण्य मात्र आस्रव नही है वरन वह बन्ध और विपाक भी है। दूसरे वह मात्र बन्धन या हेय ही नही है वरन उपादय भी है। अत अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचाय हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[2] इस प्रकार आचाय हेमचन्द्र की दष्टि म पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि मे सहायक स्वरूप की व्याख्या आचाय अभयदेव की स्थानाग सूत्र की टीका म मिलती है। आचाय अभयदेव कहते है पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[3] आचाय की दृष्टि मे पुण्य आध्यात्मिक साधना मे सहायक तत्त्व है। मुनि सुशीलकुमार 'जन धम' नामक पुस्तक मे लिखते हैं—पुण्य मोक्षार्थियो की नौका के लिये अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार कर देती है। जैन कवि बनारसीदासजी कहते हैं जिससे भावो की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है अर्थात आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस ससार मे भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।[4]

जन तत्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कम के अनुसार पुण्य कम वे शुभ पुदगल परमाणु हैं जो शुभ वृत्तियो एव क्रियाओ के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायो, शुभ

१—तत्त्वाथ० पृष्ठ ६/४।
२—योगशास्त्र ४/१०७।
३—स्थानाग टी १/११ १२।
४—जन धम पृष्ठ ८४-१०।

विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एव क्रियाएँ भी जो शुभ पुद्‌गल परमाणु को आकर्षित करती है भी पुण्य कहलाती हैं। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्‌गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एव क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एव सयम के अवसर उपस्थित करते हैं पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्‌गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण :

भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण माना है।[1] स्थानांग सूत्र मे नव प्रकार के पुण्य बताए गए हैं।[2]

१ अन्न पुण्य : भोजनादि देकर क्षुधार्त्त की क्षुधा निवृत्ति करना।
२. पान पुण्य : तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
३. लयन पुण्य : निवास के लिये स्थान देना, धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
४. शयन पुण्य : शय्या, बिछौना आदि देना।
५ वस्त्र पुण्य : वस्त्र का दान देना।
६. मन पुण्य : मन से शुभ विचार करना। जगत के मंगल की शुभ कामना करना।
७ वचन पुण्य प्रशस्त एवं सतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।
८ काय पुण्य रोगी, दु.खित एव पूज्य जनो की सेवा करना।
९ नमस्कार पुण्य : गुरुजनो के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचार दर्शन मे भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। सयुक्त निकाय मे कहा गया है—अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष मे पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थ सगहो मे (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष-मैत्री, (७) समभाव, (८-९) मन और शरीर की प्रसन्नता, (१०-११) मन और शरीर का हलकापन, (१२-१३) मन और शरीर की मृदुता, (१४-१५) मन और शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[3]

१—भगवती, ७/१०/१२। २—स्थानाग ९।
३—अभिधम्मत्थ सगहो (चैतसिक विभाग)।

जैन और बौद्ध विचारणा मे पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अतर यह है। जन विचारणा मे सवर, निजरा और पुण्य मे अतर किया गया है। जबकि बौद्ध विचारणा मे ऐसा स्पष्ट अतर नही है। जनाचार दर्शन मे सम्यक् दशन, (श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान, (प्रज्ञा) और सम्यक चारित्र (शील) को सवर और निजरा के अतगत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दशन मे धम, सघ और बुद्ध के प्रति दृढ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशल कम) के अतगत माना गया है।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं। (१) कम का बाह्य स्वरूप तथा समाज पर उसका प्रभाव, (२) दूसरा कर्ता का अभिप्राय। इन दोनो मे कौन सा आधार यथाथ है यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दशन मे कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यो की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसम कर्तृत्व भाव नही है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगा को मार भी डाले तथापि यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कम से बन्धन मे आता है।[१] धम्मपद मे बुद्ध वचन भी ऐसा ही है। नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता पिता को, दो क्षत्रिय राजाओ को एव प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जीता है।[२] बौद्ध दशन मे कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृताग सूत्र के आद्रक बौद्ध सम्वाद मे भी मिलता है।[३] जहाँ तक जन मान्यता का प्रश्न है विद्वानो के अनुसार उसमे भी कर्ता के अभिप्राय को ही कम की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं—शुभ-अशुभ कम के बध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही है। एक डॉक्टर किसी को पीडा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए परन्तु डाक्टर तो पाप कम के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डॉक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[४] प्रज्ञाचक्षु पडित सुखलालजी भी यही कहते हैं—पुण्य बन्ध और पाप बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नही है, किन्तु उसकी यथाथ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[५]

१—गीता १८/१७।

२—धम्मपद २४६।

३—सूत्रकृताग २/६/२७ ४२।

४—जैन धम, पृष्ठ १६०।

५—दशन और चिन्तन खण्ड २, पृष्ठ २२६।

इन कथनो के आधार पर तो यह स्पष्ट है कि जैन विचारणा मे भी कर्मो की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियो ही है। फिर भी जैन विचारणा मे कर्म का वाह्य स्वरूप उपेक्षित नही है। यद्यपि निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से मनोवृत्तियाँ ही कर्मो की शुभाशुभता की निर्णायक है तथापि व्यवहार दृष्टि मे कर्म का बाह्य स्वरूप ही सामान्यतया शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृताग मे आर्द्रककुमार बौद्धो की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते है जो मास खाता हो चाहे न जानते हुए भी खाता हो तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नही खाते इसलिए हम को दोष (पाप) नही लगता ऐसा कहना एकदम असत्य नही तो क्या है ?[१]

इससे यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दृष्टि मे मनोवृत्ति के साथ ही कर्मो का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव मे सामाजिक दृष्टि या लोक व्यवहार मे तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का वाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है क्योकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है दूसरा नही। जैन दृष्टि एकांगी नही है। वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज सापेक्ष होकर कर्मो के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमे द्रव्य (वाह्य) और भाव (आंतरिक) दोनो का मूल्य है। उसमे योग (बाह्य क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनो ही बन्धन के कारण माने गये है, यद्यपि उसमे मनोवृत्ति ही प्रवल कारण है। वह वृत्ति और क्रिया मे विभेद नही मानती है। उसकी समन्वयवादी दृष्टि में मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नही है। मन मे शुभ भाव होते हुए पापाचरण सम्भव नही है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है मन मे सत्य को समझते हुए भी वाहर से दूसरी बाते (अशुभाचरण) करना क्या सयमी पुरुषो का लक्षण है ? उसकी दृष्टि मे सिद्धान्त और व्यवहार मे अन्तर आत्म-प्रवंचना और लोक छलना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृताग मे कहा गया है—कर्म बन्धन का सत्य ज्ञान नही बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग ससार मे फसते रहते है कि पाप लगने के तीन स्थान हैं स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप मुक्त हो तो इन तीनो के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नही माना जा सकता, क्योकि वह सयम (वासना निग्रह) मे शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बाते मानकर पाप मे पड़े रहते हैं।[२]

१—सूत्रकृताग २/६/२७–४२। २—सूत्रकृताग १/१/२४–२७–२९।

पाश्चात्य आचार दर्शन मे भी सुखवादी विचारक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं जबकि मार्टिन्यू कर्म प्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जन विचारणा के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओ मे अपूर्ण सत्य रहा हुआ है। एक का आधार लोक दृष्टि या समाज दृष्टि है। दूसरी का आधार परमार्थ दृष्टि या शुद्ध दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है अत उसमे दोनो का ही मूल्य है। कर्म के शुभाशुभत्व के निर्णय की दृष्टि से कर्म के हेतु और परिणाम के प्रश्न पर गहराई से विवेचन जन विचारणा मे किया गया है।

चाहे हम कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को। दोनो ही स्थितियो मे किस प्रकार का कर्म पुण्य कर्म या उचित कर्म कहा जावेगा और किस प्रकार का कर्म पाप कर्म या अनुचित कर्म कहा जावेगा यह विचार आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन मे पुण्य पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म अकर्म का विचार व्यक्ति सापेक्ष है, वहाँ पुण्य पाप का विचार समाज सापेक्ष है। जब हम कर्म, अकर्म या कर्म के बन्धनत्व का विचार करते हैं तो वयक्तिक कर्म प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुत भारतीय चिन्तन मे जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है उस सन्दर्भ मे वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धकत्व या अबन्धकत्व का प्रमापक है। लेकिन जहाँ तक शुभ अशुभ का सम्बन्ध है उसमे 'राग' या आसक्ति का तत्त्व तो रहा हुआ है। शुभ और अशुभ दोनों ही राग या आसक्ति तो होती ही है अन्यथा राग के अभाव मे कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक होगा। यहाँ प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नही वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्य बन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पाप बन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसम द्वेष के तत्त्व की कमी के आधार पर निर्भर होती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और कम तीव्र होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी वह उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेष विहीन विशुद्ध राग या प्रशस्त राग ही प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम

से परार्थ या परोपकार वृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक मंगलकारी प्रवृत्तियो के रूप मे पुण्य कर्म निसृत होते है। जबकि द्वेष युक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ वृत्ति का विकास करता है उससे अशुभ, अमगलकारी पाप कर्म निसृत होते हैं। सक्षेप मे जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होते हैं वह पुण्य कर्म और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होते है वह पाप कर्म।

जैन आचार दर्शन पुण्य कर्मो के वर्गीकरण मे जिन तथ्यो पर अधिक वल देता है वे सभी समाज सापेक्ष हैं। वस्तुत. शुभ-अशुभ के वर्गीकरण मे सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तको की दृष्टि मे पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का सार निम्न कथन मे समाया हुआ है कि "परोपकार पुण्य है और पर-पीड़न पाप है।" जैन विचारको ने पुण्य वन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणो का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्वन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप मे जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक अमगलकारी तत्त्व है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है हमे सामाजिक सन्दर्भ में ही उसे देखना होगा। यद्यपि वन्धन की दृष्टि से उस पर विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नही जा सकता है।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार :

यद्यपि यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गए व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे होता है। लेकिन अन्य प्राणियो के प्रति हमारा कौन सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाए? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ मे जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जिस प्रकार का व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते है वैसा आचरण दूसरे के प्रति नही करना और जैसा व्यवहार हमे अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है और इसके विपरीत जो व्यवहार हमे प्रतिकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमे अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरो के प्रति नही करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियो मात्र का यही सन्देश है कि "आत्मन. प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत" जिस आचरण को तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो वैसा आचरण दूसरो के प्रति मत करो। सक्षेप में सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

१—देखिये १८ पाप स्थान, प्रतिक्रमण सूत्र।

जैन दृष्टिकोण

जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है।[1] दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप कर्म का बंध नहीं करता है।[2] सूत्रकृतांग में धर्माकर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना यही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है।[3] सभी को जीवित रहने की इच्छा है, कोई भी मरना नहीं चाहता सभी को प्राण प्रिय है, सुख शान्तिप्रद है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[4]

बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण

बौद्ध विचारणा में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं—जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।[5] धम्मपद में भी बुद्ध ने यही कहा है कि—सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं मृत्यु से सभी भय खाते हैं सबको जीवन प्रिय है अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करें। सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह में जो दुःख देता है वह मरकर सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता वह मर कर सुख को प्राप्त होता है।[6]

गीता एवं महाभारत का दृष्टिकोण

मनुस्मृति, महाभारत और गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है वही परमयोगी है।[7] महाभारत में अनेक स्थानों पर इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें मिलता है।

१—अनुयोगद्वार सूत्र १२६।
२—दशवै० ४/६।
३—सूत्रकृतांग २/२/४ पृष्ठ १०४।
४—आचा० १/११।
५—सुत्तनिपात ३७/२७।
६—धम्मपद १२६-१३१-१३२।
७—गीता ६/३२।

उसमे कहा गया है कि जो जैसा अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे।[1] त्याग-दान-सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी मे दूसरे को अपनी आत्मा के समान मान कर व्यवहार करना चाहिए।[2] जो व्यक्ति दूसरे प्राणियो के प्रति अपने समान व्यवहार करता है वही स्वर्ग के सुखो को प्राप्त करता है।[3] जो व्यवहार स्वय को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरो के प्रति किया जाए। हे युधिष्ठर धर्म और अधर्म की पहिचान का यही लक्षण है।[4]

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य दर्शन मे भी सामाजिक जीवन मे दूसरो के प्रति व्यवहार करने का यही दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो। कान्ट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो। मानवता चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के सदैव से साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो।[5] कान्ट का इस कथन का आशय भी यही निकलता है कि नैतिक जीवन के सदर्भ मे सभी को समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर :

जैन विचारणा मे शुभ एव अशुभ अथवा मगल-अमगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र मे नव तत्त्व माने गये है जिसमें पुण्य और पाप को स्वतत्र तत्त्व के रूप मे गिना गया।[6] जबकि तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बध और मोक्ष इन सातो को ही तत्त्व कहा है। वहाँ पर पुण्य और पाप का स्वतत्र तत्त्व के रूप मे स्थान नही है।[7] लेकिन यह विवाद अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नही होता क्योकि जो परम्परा उन्हे स्वतत्र तत्त्व नही मानती है वह भी उनको आस्रव व बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत तो मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नही है वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है। अत: आस्रव के दो विभाग शुभास्रव और अशुभास्रव करने से काम पूर्ण नही होता वरन् बन्ध और विपाक मे भी दो-दो भेद करने होगे। इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एव पुण्य को दो स्वतत्र तत्त्व के रूप मे मान लिया है।

१—म० भा० शा० २५८/२१।
२-३—म० भा० अनु० ११३/६-१०।
४—म० भा० सुभाषित सग्रह से उद्धृत।
५—नीति सर्व, पृष्ठ २६८ से उद्धृत।
६—उत्तरा० २८/१४।
७—तत्त्वार्थ० १/४।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधन के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन का कारण हैं। वस्तुत नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण

ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-संतति के मूल हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेडी भी लोह बेडी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है। उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं।[2] आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण बेडी है और पाप लोह बेडी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेडी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।[3] इसी प्रकार प० जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

"पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुइ मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, वदूं चरन हित जानि ॥[4]

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण के लक्ष्य, दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोडना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन, वस्त्र के मल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है। उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है और मैल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है—

---

१ – इसि० ९/२।
२—समयसार १४५-१४६।
३—प्रवचनसार टीका १/७७।
४—समयसार टीका पृष्ठ २०७।

वैसे ही पुण्य भी पाप रूप मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वय भी अलग हो जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज व अन्य रेचक औषधि मल के रहने तक रहती है और मल निकल जाने पर वह भी निकल जाती है वैसे ही पाप की समाप्ति पर पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नव कर्म सतति को जन्म नहीं देते हैं। अत वस्तुत व्यक्ति को अशुभ कर्म से बचना है। जब वह अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नही रहता है अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निसृत होते हैं वे शुद्ध (इर्यापथिक) होते है।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपरोक्त क्रियाएँ जब अनासक्तभाव से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (सवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसी प्रकार सवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव फलाकाक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप मे किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं तो वे कर्म क्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते है। चाहे वह सुखद फल के रूप मे क्यो नही हो। जैनाचार दर्शन मे अनासक्त भाव या राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्ति से किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का ही कारण समझा गया। यहाँ पर गीता की अनासक्त कर्म योग की विचारणा जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाती है। जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ से शुद्ध कर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था मे पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है और इस प्रकार समान विचारो का प्रतिपादन करता है। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात मे कहते है जो पुण्य और पाप-को दूर कर शांत (सम) हो गया है, इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा कहलाता है।[१] सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वदना में पुनः इसी बात को दोहराया गया है। वह बुद्ध के प्रति कहता है 'जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी मे लिप्त नही होता उसी प्रकार शुद्ध पुण्य और पाप दोनो मे लिप्त नही होते।[२] इस प्रकार हम

१—सुत्तनिपात ३२/११।
२—सुत्तनिपात ३२/३८।

देखत हैं कि बौद्ध विचारणा का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

गीता का दृष्टिकोण

स्वय गीताकार ने भी यह सकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोना प्रकार के कम फलो से मुक्त होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण स्वय कहते है हे अजु न ! तू जो भी कुछ कम करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, अथवा तप करता है, वह सभी शुभाशुभ कम मुझे अर्पित कर दे अर्थात उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कत त्व भाव मत रख। इस प्रकार सन्यास याग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देने वाले कम बन्धन स छूट जावेगा और मुझे प्राप्त होवेगा।[1] गीताकार स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि शुभ कम और अशुभ कम दोनो ही बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। बुद्धिमान व्यक्ति शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनो को ही त्याग देता है।[2] सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए पुन कहा गया है कि जा शुभ और अशुभ दोना का परित्याग कर चुका है अर्थात जा दोनो स ऊपर उठ चुका है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझ प्रिय है।[3] डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के परिचयात्मक निब ध म भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया। वे आचाय कुन्दकुन्द के साथ सम स्वर ही कहते हैं—चाहे हम अच्छी इच्छाओ के ब धन मे ब धे हा या बुरी इच्छाओ के, ब धन तो दाना ही हैं। इसस क्या अन्तर पडता है कि जिन जजीरो मे हम बन्धे हैं वे सोने की हैं या लोह की।[4] जन दर्शन के समान गीता भी हमे यही बताती है कि प्रथमत जब पुण्य कर्मों के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाता है तदनन्तर वह पुरुष राग-द्वेष के द्वन्द्व स मुक्त हाकर दृढ निश्चय पूवक मेरी भक्ति करता है।[5] इस प्रकार गीता भी नतिक जीवन के लिए अशुभ कम से शुभ कम की ओर और शुभ कम स शुद्ध या निष्काम कम की ओर बढने का सकेत देती है। गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन-दृष्टि का निर्माण है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य आचार दशन म अनेक विचारको ने नतिक जीवन की पूर्णता क लिए शुभाशुभ स परे जाना आवश्यक माना है। ब्रेडले का कहना है कि

१—गीता ६/२८।
२—गीता २/५०।
३—गीता १२/१६।
४—भगवद् गीता (रा०) पृष्ठ ५६।
५—गीता ७/२८।

नैतिकता हमे उससे परे ले जाती है ।[1] नैतिक जीवन के क्षेत्र मे शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नही रहना चाहिए। अत. पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमे नैतिकता के क्षेत्र (शुभाशुभ के क्षेत्र) से ऊपर उठना होगा। ब्रे डले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है। उसके अनुसार नैतिकता का अन्त धर्म में होता है। जहाँ व्यक्ति शुभाशुभ के द्वन्द्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते है कि अन्त मे हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पर क्रिया एवं प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहाँ से ही आरम्भ होती है। यहाँ पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य मे चरम अवस्था मे फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमे विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।[2]

ब्रे डले ने जो भेद नैतिकता और धर्म मे किया वैसा ही भेद भारतीय दर्शनो ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता मे किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। यहाँ आचरण की दृष्टि समाज सापेक्ष होती है और लोक मगल ही उसका साध्य होता है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) का है, यह व्यक्ति सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म) :

शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमे क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती है तथा जो आत्मा को बन्धन मे नही डालता है। अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते है कि आचरण (क्रिया) एव बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है ? क्या कर्मणा बध्यते जन्तु की उक्ति सर्वांश सत्य है ? जैन, बौद्ध एव गीता की विचारणा में यह उक्ति कि कर्म से प्राणी बन्धन मे आता है सर्वांश या निरपेक्ष सत्य नही है। प्रथमत. कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नही है फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नही हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है। गीता कहती है कर्म (बन्धक कर्म) क्या है ? और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है ? इसके सम्बन्ध मे विद्वान् भी

१—इथिकल स्टडीज, पृष्ठ ३१४।
२—इथिकल स्टडीज, पृष्ठ ३४२।

मोहित हो जाते है।[1] कम के यथाथ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन विषय ह। यह कम समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्या ह, इस प्रश्न का उत्तर हमे जैनागम सूत्रकृताग में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि कम, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कम या पुरुषाथ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं होता है कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनो ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात समान रूप से कम करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सवथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषाथ) हो, पर वह अशुद्ध है और कम बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एव बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नही भोगना पडता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नही होता।[2] कम का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नही किया जा सकता है, उसम कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एव देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने म विद्वत वर्ग भी कठिनाई मे पड जाता है। कम मे कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नही होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है यह आवश्यक है कि कम और अकम का यथाथ स्वरूप समझे क्याकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नही है। गीता मे कृष्ण अजुन से कहते हैं कि मैं तुझे कम के उस रहस्य को बताऊगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा।[3] वास्तविकता यह है कि नतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कम के यथाथ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धकत्व की दृष्टि से कम के यथाथ स्वरूप क सम्बन्ध मे समालोच्य आचार दर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

जन दशन मे कम अकम विचार

कम के यथाथ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियो स विचार किया जा सकता है—(१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। कम का बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करन पर हम पाते हैं कि कुछ कम बन्धन मे डालते हैं जबकि कुछ कम बन्धन म नही डालते हैं। बन्धक कर्मों को कम और अबन्धक कर्मों को अकम कहा जाता है। जन विचारणा म कम और अकम के यथाथ स्वरूप की

१—गीता ४/१६।
२—सूत्रकृतांग १/८/२२-२४।
३—गीता ४/१६।

विवेचना सर्वप्रथम आचाराग एवं सूत्रकृतांग मे मिलती है। सूत्रकृतांग मे कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुपार्थ) कहते है, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि मे सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारको की दृष्टि मे निष्क्रियता ही पुरुपार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध मे महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एव अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नही मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दो मे कहते हैं। प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[2] प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते है कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नही, वह तो सतत जागरुकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म जागृति की दशा मे सक्रियता अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव मे निष्क्रियता भी कर्म (वन्धन) वन जाती है। वस्तुत किसी क्रिया का वन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने मे नही वरन् उसके पीछे रहे हुए कपाय भावो एव राग-द्वेप की स्थिति पर निर्भर है।

जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एव कपाय जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है किसी क्रिया को कर्म वना देते हैं। लेकिन कपाय एव आसक्ति से रहित किया हुआ कर्म-अकर्म वन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या वन्धन कारक क्रियाएँ है वे ही अनासक्ति एव विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती है।[3] इस प्रकार जैन विचारणा मे कर्म और अकर्म अपने वाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन विचारणा मे वन्धकत्व की दृष्टि से क्रियाओ को दो भागो मे वाटा गया है। (१) इर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म या विकर्म) इर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ है जो वन्धन कारक नही है जवकि साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ है जो वन्धन कारक है। सक्षेप मे वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं वन्ध का कारण है, कर्म है और वे समस्त क्रियाएँ जो सवर एव निर्जरा का हेतु है अकर्म है। जैन दृष्टि मे अकर्म या इर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एव मोह रहित होकर मात्र कर्तृत्व अथवा शरीर, निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एव मोह सहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है वन्धन मे डालता है और इसलिए वह कर्म है और जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य निर्वाह या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण

१—सूत्रकृताग १/८/१-२।
२—सूत्रकृताग-१/८/३।
३—आचाराग १/४/२/१।

नही है अत अकर्म है । जिन्हे जैन दर्शन मे ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हे बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हे जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती हैं उन्हे बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण शुक्ल कर्म कहती है । आएँ, जरा इस सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करें ।

बौद्ध दर्शन मे कर्म अकर्म का विचार

बौद्ध विचारणा मे भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभग मे विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती सूमादास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध "भारत मे नैतिक दर्शन का विकास" मे किया है ।[1] बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं । कर्म के उपचित से तात्पर्य सचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है । दूसरे शब्दो मे कर्म के बन्धन कारक होने से है । बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विपाकोदयी कर्म से और बौद्ध परम्परा का अनुपचित कर्म जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कर्म (ईर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है । महाकर्म विभग मे कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विद वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है ।

१ वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं—वासनाओ के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म सकल्प जो काय रूप मे परिणित न हो पाये हैं, इस वर्ग मे आते हैं । जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का सकल्प किया हो लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो ।

२ वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित भी हैं—वे समस्त ऐच्छिक कर्म जिनको सकल्प पूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि मे आते हैं । यहाँ हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं ।

३ वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं—अभिधम्मकोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नही होते हैं अर्थात अपना फल नही देते हैं —

(अ) वे कर्म जिन्हें सकल्प पूर्वक नही किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित नही होते हैं ।

१—डवलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इडिया पृष्ठ १६८ १७४ ।

(ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नही होते है। इन्हे हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान मे इन्हे विचार प्रेरित कर्म (आइडिया मोटर एक्टीविटी) कहा जा सकता है।

(स) भ्रान्ति वश किया गया कर्म भी उपचित नही होता।

(द) कृत कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो तो उसका प्रकटन करके पाप विरति का व्रत लेने से कृत कर्म उपचित नही होता।

(ई) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्ध के शरणागत हो जाने से) भी पाप कर्म उपचित नही होता।

४. **वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं है**—स्वप्नावस्था मे किए गए कर्म इसी प्रकार के होते है।

इस प्रकार हम देखते है प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन मे डालते है लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन मे नही डालते है।

बौद्ध आचार दर्शन मे भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बन्धन कारक माना जाता है जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धन कारक नही माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत के क्रिया व्यापार को बन्धन कारक नही मानता है। ऐसे कर्मों को अकृष्ण-अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

गीता मे कर्म-अकर्म का स्वरूप :

गीता भी इस सम्बन्ध मे गहराई से विचार करती है कि कौन सा कर्म बन्धन कारक और कौन सा कर्म बन्धन कारक नही है ? गीताकार कर्म को तीन भागो मे वर्गीकृत कर देता है। (१) कर्म, (२) विकर्म, (३) अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धन कारक है जबकि अकर्म बन्धन कारक नही है।

(१) कर्म—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते है, उसका नाम कर्म है।

(२) विकर्म—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओ की पूर्ति के लिए किए जाते है, विकर्म है। साथ ही फल की इच्छा एव अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते है वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता मे कहा गया

है जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तापस कहलाता है।[१] साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म भी कभी कर्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं। आसक्ति और अहंकार से रहित होकर शुद्ध भाव एवं मात्र कर्तव्य बुद्धि से किये जाने वाले हिंसादि कर्म (जो देखने में विकर्म से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही हैं।[२]

(३) अकर्म—फलासक्ति रहित हो अपना कर्तव्य समझ कर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है। गीता के अनुसार परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से अकर्म ही है।[३]

अकर्म की अर्थ विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैसा कि हमने देखा जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन, क्रिया व्यापार को बन्धकत्व की दृष्टि से दो भागों में बांट देते हैं। (१) बन्धक कर्म और (२) अबन्धक कर्म। अबन्धक क्रिया व्यापार को जैन दर्शन में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म। बौद्ध दर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म तथा गीता में अकर्म कहा गया है। प्रथमतः सभी समालोच्य आचार दर्शनों की दृष्टि में अकर्म कर्म-अभाव नहीं है। जैन विचारणा के शब्दों में कर्म प्रकृति के उदय को समझ कर बिना राग द्वेष के जो कर्म होता है, वह अकर्म ही है। मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं। गीता के अनुसार व्यक्ति की मनोदशा के आधार से क्रिया न करने वाले व्यक्तियों का क्रिया त्याग रूप अकर्म भी कर्म बन सकता है। और क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग, क्रिया रहित पुरुष जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रहने के कारण उससे वह त्याग रूप कर्म होता है। उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह अकर्म को भी कर्म बना देता है।[४] इसी प्रकार कर्तव्य प्राप्त

१—गीता १७/१९।
२—गीता १८/१७।
३—गीता ३/१०।
४—गीता ३/६।

होने पर भय या स्वार्थ वश कर्तव्य कर्म से मुंह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि में भी कर्म नही होते, परन्तु इस अकर्म दशा मे भी भय या राग भाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।[1] जबकि अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किया जाता है। वह राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नही होता। कर्ता के भावो के अनुसार ही कर्मो का स्वरूप बनता है।

इस रहस्य को सम्यक् रूपेण जानने वाला ही गीताकार की दृष्टि मे मनुष्यो मे बुद्धिमान योगी है।[2] सभी विवेच्य आचार दर्शनो में कर्म-अकर्म विचार मे वासना, इच्छा या कर्तृत्व भाव ही प्रमुख तत्त्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन मे वासना, इच्छा या कर्तृत्व बुद्धि का भाव नही है तो वह कर्म बन्धक कारक नही होता है। दूसरे शब्दो मे बन्धन की दृष्टि से वह कर्म-अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुत: कर्म-अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्त्व नही होती है, प्रमुख तत्त्व है, कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जाग्रत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासना शून्य हैं, यथार्थ दृष्टि सम्पन्न है तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नही रख सकता। पूज्यपाद कहते है "जो आत्म तत्त्व मे स्थिर है वह बोलते हुए भी नही बोलता है, चलते हुए भी नही चलता है, देखते हुए भी नही देखता है।[3]" आचार्य अमृतचन्द्र सूरी का कथन है रागादि (भावो) से मुक्त युक्त आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जावे तो वह हिंसा नही है।[4] अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य बाह्य परिणामो पर निर्भर नही होते है वरन् उसमे कर्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—भावो से विरक्त जीव शोक रहित हो जाता है, वह कमल पत्र की तरह संसार मे रहते हुए भी लिप्त नही होता।[5]

गीताकार भी इसी विचार दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है जिसने कर्म फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासना शून्य होने के कारण सदैव ही आकाक्षा रहित है और आत्म तत्त्व मे स्थिर होने के कारण आलम्बन रहित है, वह क्रियाओ को करते हुए भी कुछ नही करता है।[6] गीता का अकर्म जैन दर्शन के सवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जिस प्रकार जैन दर्शन मे संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है। उसी प्रकार गीता मे भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है वह अकर्म ही माना

---

१ - गीता १८/७। २—गीता ४/१८। ३—इष्टोपदेश ४१।
४—पुरुषार्थ० ४५। ५—उत्तरा० ३२/६६। ६—गीता ४/२०।

गया है। दोनो मे जो विचार साम्य है वह एक तुलनात्मक अध्येता के लिए काफी महत्त्वपूण है। गीता और, जनागम आचाराग मे मिलने वाला निम्न विचार साम्य भी विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। आचाराग सूत्र मे कहा गया है 'अग्रकम और मूल कम के भेदो मे विवेक रखकर ही कम कर।'-ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कम ही कहा जाता है। निष्कमता के जीवन मे उपाधियो का आधिक्य नही होता, लौकिक प्रदर्शन नही होता। उसका शरीर मात्र योग क्षेत्र का (शारीरिक क्रियाओ) वाहक होता है।[१] गीता कहती है आत्म विजेता, इन्द्रियजित सभी प्राणियो के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कम का कर्ता होने पर निष्कम कहा जाता है। वह कम से लिप्त नही होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कम करता है वह नैष्ठिक शाति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बधा हुआ है वह कुछ नही करता हुआ भी कर्म बधन से बध जाता है।[२] गीता का उपरोक्त कथन सूत्रकृताग के निम्न कथन स भी काफी निकटर्ती रखता है। सूत्रकृताग मे कहा गया है मिथ्या दष्टि व्यक्ति का सारा पुरुपाथ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बधन का हेतु है। लेकिन सम्यक दृष्टि वाले व्यक्ति का सारा पुरुषाथ शुद्ध है क्योकि वह निर्वाण का हेतु है।[३]

इस प्रकार हम देखते है कि दोनो ही आचार दर्शनो मे अकम का अथ निष्क्रियता तो विवक्षित नही है लेकिन फिर भी तिलकजी के अनुसार यदि इसका अथ निष्काम बुद्धि से किये गये प्रवत्तिमय सासारिक कम माना जाय तो वह बुद्धि सगत नही होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था मे सासारिक प्रवत्तिमय कम का किया जाना ही सम्भव नहीं। तिलकजी के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त हो युद्ध लडा जा सकता है।[४] लेकिन जन दशन को यह स्वीकार नही।[५] उसको दष्टि म अकम का अथ मात्र शारीरिक अनिवाय कम ही अभिप्रत है। जैन दर्शन की ईर्या पथिक क्रियाएँ प्रमुखतया अनिवाय शारीरिक क्रियाएँ ही हैं।[६] गीता मे भी अकम का अथ शारीरिक अनिवाय कम के रूप मे ग्रहित है (४/२१) आचाय शकर ने अपने गीता भाष्य मे अनिवाय शारीरिक कर्मों को अकम की कोटि मे माना है।

लेकिन थोडा अधिक गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जन विचारणा मे भी अकम अनिवाय शारीरिक क्रियाओ के अतिरिक्त निरपेक्ष रूप

१—आचाराग १/३/२/४, १/३/१/११०—देखिए आचाराग (सतवाल) परिशिष्ट पृष्ठ ३६ ३७।

२—गीता ५/७ ५/१२। ३—सूत्रकृताग १/८/२२-२३।

४—गीता रहस्य ४/१६ (टिप्पणी)।

५—सूत्रकृताग २/२/१२। ६—गीता (शां०) ४/२१।

से जनकल्याणार्थ किये जाने वाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जाने वाला तप, स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृताग के अनुसार जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद रहित हैं, वे अकर्म है। तीर्थंकरो की संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याण कारक प्रवृत्तियाँ एव सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म है। संक्षेप मे जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से वन्धन कारक नही हैं वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य मे भी तिलकजी ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक वद्ध करेगा, करने पर भी जो कर्म हमे वद्ध नही करता उसके विषय मे कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा वन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का वन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के वन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।[1] जैन और वौद्ध आचार दर्शन मे अर्हत के क्रिया व्यापार को तथा गीता में स्थितप्रज्ञ के क्रिया व्यापार को वन्धन और विपाक रहित माना गया है, क्योकि अर्हत या स्थितप्रज्ञ मे राग-द्वेष और मोह रूपी वासनाओ का पूर्णतया अभाव होता है अत. उसका क्रिया व्यापार वन्धन कारक नही होता है और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनो ही आचार दर्शन इस सम्बन्ध मे एक मत हैं कि वासना एव कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासना सहित सकाम कर्म ही कर्म है, वन्धन कारक है।

उपरोक्त आधारो पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म-अकर्म विवक्षा मे कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण रहता है। कौन सा कर्म बन्धन कारक है और कौन सा कर्म वन्धन कारक नही है इसका निर्णय क्रिया के बाह्य स्वरूप से नही वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्म ग्रथ की भूमिका मे लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नही लगेगा। इससे वे काम को छोड देते हैं पर वहुधा उनकी मानसिक क्रिया नही छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (वन्ध) से अपने को मुक्त नही कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नही है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को वन्धन में रखने मे समर्थ नही है। इससे उल्टा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को वन्धन से छुड़ा नही सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है, वह वन्धक नही होता है।[2] ○

१—गीता रहस्य, पृष्ठ ६८४।

२—कर्मग्रन्थ—प्रथम भाग की भूमिका, पृष्ठ २५–२६।

२५ | साख्यदर्शन में कर्म

□ श्री धर्मचन्द जन

साख्यदशन के प्रवतक थे महर्षि कपिल। कपिल ने साख्यदर्शन का प्रणयन करते हुए मूल रूप से जैनदर्शन के सदृश दो ही तत्त्व स्वीकार किए—पुरुष और प्रकृति। कपिल के पुरुष को जैनदर्शन मे जीव एव प्रकृति को अजीव शब्द से पुकारा जा सकता है। जिस प्रकार जैनदशन मे जीव एव अजीव के सम्बन्ध से ही अन्य समस्त तत्त्वो की उत्पत्ति स्वीकार की गई है, उसी प्रकार साख्यदर्शन मे पुरुष एव प्रकृति के सयोग से ही समस्त तत्त्वो की उत्पत्ति मानी गई है। साख्यदर्शन मे पच्चीस तत्त्व माने गए हैं—प्रकृति, बुद्धि, अहकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत एव पुरुष। सेश्वर साख्य के अनुयायी ईश्वर को भी छब्बीसवाँ तत्त्व मानते हैं।

कर्म-परिचय

यद्यपि साख्यदर्शन में 'कर्म' शब्द का प्रयोग कहीं नही हुआ है किन्तु जनदर्शन में प्रयुक्त 'कर्म' शब्द की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है। तभी तो ईश्वर-कृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ मे ही आध्यात्मिक, आधिदविक एव आधिभौतिक इन तीनो प्रकार के दुखों के आत्यन्तिक क्षय की बात कही गई है। जनदर्शन मे दुखो को कर्मों का फल माना गया है और कर्मों का विभाजन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वदनीय, मोहनीय आदि रूपा से आठ भागों मे किया गया है। साख्यदर्शन में भी जो कुछ सुख दुख होते हैं वे अविवेक अथवा अनादि अविद्या के कारण होते हैं। यह अविवेक ही कर्मों का अथवा ससार मे भ्रमण करने का मूल कारण है। इसकी समाप्ति होने पर कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और दुख सुख से पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है। फिर वह जीवनमुक्ति (अरिहन्तावस्था) एव विदेहमुक्ति (सिद्धावस्था) को भी प्राप्त कर लेता है। शरीर के रहते हुए जीवनमुक्ति की अवस्था रहती है तथा शरीर के छूटने के पश्चात् विदेहमुक्ति की अवस्था आजाती है।

पुरुष एव उसका सयोग

जनदर्शन तथा साख्यदशन म एक मूलभूत अन्तर यह है कि जनदर्शन जीव को ही समस्त सुख-दुखों (कर्मों) का कर्त्ता एव भोक्ता प्रतिपादित करता है जबकि साख्यदर्शन इसको अकर्ता एव द्रष्टा के रूप म प्रतिपादित करता है।

'साख्यकारिका' मे कहा गया है—'न प्रकृतिर्न न विकृतिः पुरुषः।' अर्थात् पुरुष न कारण है और न कार्य ही। वह त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, चेतन, अप्रसवधर्मी, अविकारी, कूटस्थ, नित्य, मध्यस्थ, द्रष्टा एव अकर्त्ता होता है। जो गुण एक कर्मरहित जीव मे जैनदर्शन वतलाता है वे ही गुण साख्यदर्शन एक पुरुष मे निरूपित करता है। 'साख्यकारिका' मे निरूपित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः यह चेतन पुरुष न कभी वन्ध को प्राप्त हुआ है और न होगा—

तस्मान्न वध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
ससरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

अर्थात् किसी पुरुष का न तो बन्धन होता है और न संसरण और मोक्ष ही। अनेक पुरुषो के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही ससरण, वन्धन और मोक्ष होता है। वास्तव मे प्रकृति ही समस्त सृष्टि का मूल कारण है। प्रकृति से ही बुद्धि, अहकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पचतन्त्रमात्राएँ एव पञ्चमहाभूत उद्भूत हुए है। प्रकृति ही समस्त दृश्य है। फिर भी प्रकृति एकाकिनी रहकर कुछ भी नही कर सकती। पुरुष का संयोग होने पर ही प्रकृति सृष्टि का निर्माण करने मे सक्षम होती है। प्रकृति का पुरुष के साथ वैसा ही संयोग है जैसा अन्धे एवं पगु व्यक्ति का सयोग होता है—'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृतः सर्गः।' पगु एव अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार मिलकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार प्रकृति के सयोग से पुरुष अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है। प्रकति का पुरुष के साथ यह सयोग कैवल्य की प्राप्ति के लिए ही होता है, किन्तु यह सयोग अनादिकाल से चला आ रहा है।

बन्धन-प्रक्रिया :

प्रकृति एव पुरुष का सयोग ही बन्धन है। यह बन्धन अविवेक के कारण होता है। वास्तव मे तो पुरुष निर्विकार, अकर्ता एव द्रष्टा है और प्रकृति कर्त्री है किन्तु प्रकृति पुरुष का सयोग पाकर ही कार्य करती है। प्रश्न तो तब उपस्थित होता है जब पुरुष अकर्ता, द्रष्टा एव निर्विकार होते हुए भी अपने को सुखी, दुःखी एव बन्धन मे बँधा हुआ अनुभव करता है। साख्यदर्शनशास्त्री इसका समाधान करते हुए कहते है—बुद्धि एक ऐसा तत्त्व है जिसमे चेतन पुरुष भी सक्रान्त होता है और अनुभूयमान वस्तु भी सक्रांत होती है। फलस्वरूप चेतन पुरुष उस वस्तु से प्रभावित अनुभव होता है और बधन को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि पुरुष एवं प्रकृति अत्यन्त भिन्न हैं तथापि पुरुष को इस पार्थक्य का वोध नही रहता, इसलिए वह अपने को बँधा हुआ अनुभव करता है। 'साख्यकारिका' मे कहा है—

तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

अर्थात् दोनों के सयोग से अचेतन बुद्धि आदि प्रकृति चेतन सदृश प्रतीत होते हैं और उसी प्रकार प्रकृति गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत होता है। यही बधन है। जब तक यह सयोग चलता रहता है, भोग होता रहता है। लेकिन जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष एव प्रकृति का भेद ज्ञात हो जाता है तब बधन समाप्त हो जाता है, कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

असत्कार्यवाद

साख्यदर्शन का मूल सिद्धान्त असत्कार्यवाद है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण मे अव्यक्तावस्था मे विद्यमान रहता है, नया उत्पन्न नही होता। तिलो मे तेल पहले से अव्यक्तावस्था मे विद्यमान रहता है तभी तो उसमे से तेल निकलता है। रेत मे से तेल नही निकलता क्योकि उसमे पहले से विद्यमान नहीं होता। सक्षेप मे किसी कार्य की अव्यक्तावस्था कारण एव कारण की व्यक्तावस्था कार्य कही जा सकती है।

यही कारण है कि पुरुष को अकर्ता एव द्रष्टा प्रतिपादित किया गया है। उसको सदैव निर्विकार बतलाया गया है। वह न बन्धन को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है—यह बात भी इसीलिए कही गयी है।

प्रकृति का उपकार

प्रकृति पुरुष के भोग एव कैवल्य के लिए प्रवृत्त होती है। वह प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए सृष्टि का निर्माण करती है। ईश्वरकृष्ण ने कहा है—'जैसे बछड़े के बढ़ने के लिए अचेतन दुग्ध स्वत निकलता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति भी स्वत प्रवृत्त होती है।' प्रकृति के विषय मे यहाँ तक कह दिया गया कि जिस प्रकार अपनी इच्छा पूर्ति के लिए व्यक्ति कार्य मे प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

कैवल्य

पुरुष एव प्रकृति का पार्थक्य-बोध ही कैवल्य का कारण है। इस पार्थक्य-बोध को विवेकख्याति नाम दिया जाता है। इसमे तत्त्वो के अभ्यास को भी कारण माना गया है। 'साख्यकारिका' में कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

> एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
> अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

अर्थात तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने से 'न मैं (क्रियावान्) हूँ, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं कर्ता हूँ—इस प्रकार सम्पूर्ण एव विपर्ययरहित होने

से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तब विमग्न एव द्रष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष विवेकज्ञान के सामर्थ्य से प्रकृति को देखता है। चेतन पुरुष 'मैंने उसे देख लिया है'—यह विचार करके उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी 'उसने मुझे देख लिया है'—यह सोचकर व्यापार शून्य हो जाती है।

जैसे नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के बाद फिर नृत्य नही करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उस विषय मे प्रवृत्त नही होती। यथा—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुपस्य तथाऽऽत्मान प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ।।

विदेह मुक्ति :

विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) होने के पश्चात् भी शरीर का विनाश नही होता। शरीर का विनाश होते ही विदेहमुक्ति हो जाती है। किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रकृति का पृथक् रूप से दर्शन कर लेने के पश्चात् एवं उसका व्यापार समाप्त हो जाने के पश्चात् भी शरीर के रहने का क्या औचित्य है ? साख्य-कारिकाकार ने उसका समाधान करते हुए कहा है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठतिसस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्घृतशरीर. ।।

अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से सञ्चित धर्म, अधर्म इत्यादि कर्मो का बीजभाव तो नष्ट हो जाता है किन्तु प्रारव्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारो के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक फिर दण्ड-चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग नामक सस्कार से घूमती रहती है।

जिस प्रकार जैनदर्शन मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय नामक चार घनघाति कर्मो का क्षय करने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, किन्तु फिर भी शरीर बना रहता है। अन्य चार कर्मो के समाप्त होने पर ही आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त करती है, उसी प्रकार साख्यदर्शन मे सञ्चित कर्मो का विनाश हो जाने के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मो के बल पर शरीर बना रहता है, उसके विनाश होते ही विदेहावस्था प्राप्त हो जाती है।

उपसहार :

सत्य एक ही है किन्तु उसका प्रस्तुतीकरण भिन्न-भिन्न हो सकता है। जैनदर्शन मे बधन एव मुक्ति की प्रक्रिया तथा कर्मो का स्वरूप जिस सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित किया गया है, साँख्यदर्शन मे उसको भिन्न रूप मे प्रतिपादित करने

का प्रयास किया गया है। जीव (पुरुष) को सांख्यदर्शन अकर्ता मानता हुआ भी बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया से गुजरता है।

जैनदर्शन की भांति सांख्यदर्शन भी पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। जैनदार्शनिक जिसे कार्मणशरीर कहते हैं, सांख्यदार्शनिक उसे लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। विदेहमुक्ति होने पर यह लिङ्गशरीर समाप्त हो जाता है।

सत्व, रजस्, तमस इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति को सांख्यदर्शन कर्त्री मानता है तथा इसे ही पुरुष की मुक्ति दिलाने में सहायक भी मानता है। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही कर्म (संस्कार) को उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप भोग प्राप्त होता है। अंत में कैवल्य की प्राप्ति विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) से होती है।

आतमराम

राग—माढ

अष्ट करम म्हारो काँई करसी जी, मैं म्हारे घर राखूं राम।
इन्द्री द्वारे चित्त दौरत है तिन वश ह्वै नहीं करस्यूं काम॥ अष्ट०॥१॥

इनको जोर इतोही मुझपै, दुःख दिखलावै इन्द्री ग्राम।
जाको जानूं मैं नहीं मानूं, भेदविज्ञान करूं विश्राम॥ अष्ट०॥२॥

कहू राग कहु दोष करत थो तब विधि आते मेरे धाम।
सो विभाव नहीं धारूं कबहूं शुद्ध स्वभाव रहूं अभिराम॥ अष्ट०॥३॥

जिनवर मुनि गुरु की बलि जाऊँ, जिन बतलाया मेरा ठाम।
सुखी रहत हूं दुख नहिं व्यापत 'बुधजन' हरषत आठों याम॥ अष्ट०॥४॥

—बुधजन

२६

मीमांसा-दर्शन में कर्म का स्वरूप

□ डॉ० के० एल० शर्मा

'मीमांसा' शब्द 'मान' धातु से जिज्ञासा अर्थ मे 'सन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'जिज्ञासा' रूप विशेष अर्थ मे ही मीमांसा पद की निष्पत्ति सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मीमासा शब्द का अर्थ होता है— जिज्ञासा और जानने की इच्छा। जैमिनी ऋषि ने तत्कालीन मत-मतान्तरों को सकलित किया तथा उन पर अपने विचारो को जोडकर सूत्रो की रचना की। जैमिनी के मीमासा-सूत्र मे १६ अध्याय है। 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इसका प्रथम सूत्र है और "विद्यते वाऽन्यकालत्वाद्यथायाज्या सम्प्रैषो यथा याज्या सम्प्रैष·" अन्तिम सूत्र है। प्रथम बारह अध्यायो की विषयवस्तु अन्तिम चार अध्यायो (१३ से १६ तक) की विषयवस्तु से बिलकुल भिन्न है तथा ये अन्तिम चार अध्याय 'सकर्पण काण्ड' के नाम से जाने जाते हैं। शवर स्वामी ने प्रथम १२ अध्यायो पर ही अपना भाष्य लिखा है। अत. मीमासा का यह भाग (अन्तिम चार अध्याय) उत्सन्नप्राय हो चुका है। मीमांसा सूत्र (प्रथम १२ अध्याय) की कुल सूत्र सख्या २६२१ है जो शेष पांच दर्शन-तन्त्रो (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त) के सूत्रो की सम्मिलित सख्या के बराबर है।

मीमासा-दर्शन मे चार बिन्दुओ पर प्रमुख रूपेण चर्चा की गई है: (१) धर्म का स्वरूप; (२) कर्म एव इसका धर्म से सम्बन्ध, (३) वेदो की विषयवस्तु (विशेष रूप से धर्म और कर्म के प्रत्यय) तथा (४) वेदो का विश्लेषण करने की पद्धति का सोदाहरण प्रस्तुतिकरण (जिससे हम उन्हे सही-सही समझ सके)।

जैमिनी ने धर्म की परिभाषा 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' (१.१.२) कहकर दी है। जैमिनी के अनुसार क्रिया मे प्रेरक वचन से लक्षित होने वाला अर्थ धर्म कहलाता है।[1] दूसरे शब्दो मे, चोदना द्वारा विश्लेषित अर्थ ही धर्म है। धर्म

१. जैमिनी सूत्र मे धर्म की चर्चा हेतु निम्न सूत्र द्रष्टव्य है :—

अध्याय	पाद	सूत्र सख्या
१	१	१-५; २४-२६
१	३	१-१४,
२	१	६-१२
२	४	१-२
६	१	१-४

स्वय मे लक्ष्य है जो कि स्वय मे शुभ और अशुभ नही है। स्पष्टता के लिये एक उदाहरण लें। मान लीजिये कि एक कानून या आदेश है जो कहता है कि 'किसी की हत्या नही करनी चाहिये' या सफाई रखो, या सफाई रखना चाहिये आदि आदि। लेकिन अगर कानून की अवज्ञा करने पर दण्ड का विधान न हो तो कोई भी व्यक्ति उस कानून या राज्यादेश का पालन नही करेगा। जिस प्रकार सभी नागरिक मामलो मे राज्यादेश सवशक्तिमान है उसी प्रकार धार्मिक कृत्यो मे वदिक आदेश[1] हमे बाधता है क्योकि इस आदेश को मानने पर भावी जीवन म पुरस्कार मिलेगा। इस दृष्टि से चोदना पद का अथ हुआ वदिक आदेश (या ईश्वरीय आदेश) जो किसी व्यक्ति को कम करने के लिए प्रेरित करता है अथवा किसी विशिष्ट प्रकार का कम करने से रोकता है। अत चोदना वैदिक आज्ञा या निर्देश है जो वैदिक ग्रथो मे निहित है।

धम की उत्पत्ति कम[2], जो कि जीवन का नियम है, के द्वारा होती है। अत यहा कम के स्वरूप, कम के भेद, कम का कारण, उद्दश्य एव उपकरणो आदि पर चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है। मीमासा दशन मे कम का तात्पय वदिक यज्ञ सम्बन्धी कमकाण्ड के अनुष्ठान के रूप मे समझा जाता है। वैसे कम हमारी प्रकृति का अविभाज्य अग है। यह नित्य एव सावजनीन है। कम के प्रत्यय मे भौतिक वस्तुएँ तथा स्थान या दिक् अनिवाय रूप से पूवकल्पित होता ह। कम को उद्दश्य के आधार पर भी विशेषित कर सकते हैं तथा यह अशो से युक्त होता है।[3] कम मे दहिक अगो की गति अनिवाय है। मानसिक कर्मों

---

१ वेदो क रचनाकार के बारे में प्रमुख रूप स दो मत हैं—(१) वद ईश्वर प्रणीत हैं और द्वितीय अपौरुषय। हम वेदो को परम्परा से चले आ रहे आदेशो के रूप म समझना चाहिये। इस दृष्टि से इनके रचनाकार के बारे मे प्रश्न उठाना निरर्थक है। उदाहरण के रूप म हम किसी पारिवारिक परम्परा को ले सकते हैं। यह परम्परा किसने डाली ? यह प्रश्न निरथक है। प्रश्न यह अधिक समीचीन है कि यह परम्परा कितनी समयानुकूल है। इस परम्परा क मूलभूत आधार क्या हैं ? वेदो म तीन प्रकार के कर्मों—नित्य-नमित्तिक निषिद्ध एवं काम्य कर्मों की बात की गई है। जिनका आधार है कि व्यक्ति के विकास के साथ सामाजिक समायोजन। वेदों क आदशो को आधार के रूप म लेना चाहिये और उसम विषयवस्तु समयानुकूल भर सकते हैं। लेकिन ध्यान यह रह कि यह व्यक्ति के और समाज के विकास म सहायक होनी चाहिये।

२ कम के बारे मे चर्चा मीमासा-सूत्र के लगभग सभी अध्याया म हुई हैं।

३ यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मीमांसा एक प्रमुख कर्म में कम श्रृखलाओ को स्वीकार करता है। अत प्रश्न होता है कि मौलिक या प्राथमिक कम शृखला क्या है ? इस प्रकार की चर्चा अमरीकी दाशनिक आर्थर सी डाण्टो ने की है। इस सदभ म मेरा लेख— आर्थर सी डाण्टो के 'मूल क्रिया में प्रत्यय का विश्लेषण", दाशनिक त्रमासिक वष २४/अप्रेल १६७८, अक २, द्रष्टव्य है।

जैसे कि विचार करना, कल्पना करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि को भी समग्र एव खण्डो के रूप मे समझा जा सकता है।

वेद प्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के है—(१) काम्य कर्म, (२) निषिद्ध कर्म तथा (३) नित्य-नैमित्तिक कर्म। जो कर्म स्वर्ग आदि सुख को देने वाले पदार्थों के साधक हो उन्हे काम्य कर्म कहा जाता है। स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा ज्योतिष्टोमेन यज्ञ करने को काम्य कर्म के उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। श्रुति वाक्यो मे कामना विशेष की सिद्धि के लिये यागादि कर्म का विधान है अत: इन्हे 'काम्य कर्म' कहा गया है। जिन कर्मो को करने से अनिष्ट हो जैसे कि मृत्योपरान्त नरक की प्राप्ति आदि उन्हे निषिद्ध कर्म कहा गया है। उदाहरण के रूप मे मास का भक्षण, ब्राह्मण की हत्या, आदि निषिद्ध कर्म कहे गये है। नित्य-नैमित्तिक कर्म वे है जिन्हे करने पर कोई पुरस्कार या लाभ तो नही मिलता मगर न करने पर दोष लगता है। उदाहरण के रूप मे सध्योपासना करना, कर्म परम्परा के पालन हेतु श्राद्ध करना आदि को ले सकते है।

वेद प्रतिपाद्य इन तीनो प्रकार के कर्मो को तीन प्रकार के कर्त्तव्यो के रूप मे समझ सकते है: क्योकि इनमे 'चाहिये' का भाव छिपा हुआ है। कुछ कर्मो को नही करना चाहिये (निषिद्ध कर्म), कुछ कर्मो को अनिवार्य रूप से करना चाहिये (नित्य-नैमित्तिक कर्म) तथा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिये धार्मिक कर्मो का अनुष्ठान करना चाहिये (काम्य कर्म)। प्रथम दो प्रकार के कर्त्तव्य सामाजिक एवं व्यक्तिगत प्रकार के है और तृतीय प्रकार का कर्त्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है। विधि की दृष्टि से अर्थात् याज्ञादि कर्मो के निष्पादन मे अन्य व्यक्तियो का सदर्भ आवश्यक हो सकता है लेकिन फल की दृष्टि से यह कर्त्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है।

इन कर्मो के करने पर मिलने वाले फल के बारे मे जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उदाहरण के रूप मे 'यजेत् स्वर्गकाम:' आदि आदेश वाक्यो के आधार पर कर्म करने पर यज्ञ (कारण) और स्वर्ग (उद्देश्य या फल) के बीच कोई साक्षात् सम्बन्ध दिखाई नही देता और कहा जा रहा है कि फल की निष्पत्ति तत्काल न होकर बाद मे होती है, तब प्रश्न यह है कि फल काल मे कर्म की सत्ता के अभाव मे फलोत्पादम किस प्रकार होता है ?

मीमासको ने इस समस्या के समाधान हेतु 'अपूर्व' के प्रत्यय को स्वीकार किया है। इन विचारको के अनुसार अपूर्व क्षणिक कर्म का कालान्तर मे भावी

फल के साथ कार्य कारणभाव के उपपत्यर्थ एक शक्ति है[1] जो कर्म से उत्पन्न होती है और व्यक्ति की आत्मा में रहती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है।

कुमारिल ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' में अपूर्व के स्वरूप पर चर्चा की है। उनके अनुसार अपूर्व प्रधान कर्म में अथवा कर्त्ता में एक योग्यता है जो कर्म करने से पूर्व नहीं थी और जिसका अस्तित्व शास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचती है, अपूर्व है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। कर्त्ता द्वारा किया गया यत्न कर्त्ता में साक्षात् शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर अन्यान्य शक्तियों की भांति जन्म भर विद्यमान रहती है और जीवन के अन्त में प्रतिज्ञात पुरस्कार प्रदान करती है।

लेकिन दूसरी ओर प्रभाकर और उनके अनुयायी यह स्वीकार नहीं करते कि कर्म कर्त्ता के अन्दर एक निश्चित क्षमता उत्पन्न करता है जो अन्तिम परिणाम का निकटतम कारण है। कर्त्ता में इस प्रकार की क्षमता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं होती। दूसरे शब्दों में प्रभाकर के अनुसार क्षमता की कल्पना कर्म में करना चाहिये न कि कर्त्ता में।

मीमांसकों ने अपूर्व के चार प्रकारों की चर्चा की है—(१) परमापूर्व, (२) समुदायापूर्व (३) उत्पत्त्यपूर्व एवं (४) अंगापूर्व। साक्षात फल को उत्पन्न करने वाले अपूर्व को परमापूर्व या फलापूर्व कहते हैं। यह अन्तिम फल की प्राप्ति कराता है। जहाँ कई भाग मिलकर एक कर्म कहा जाता है वहाँ समुदायापूर्व

---

१ कर्म और फल के बीच सम्बन्ध की व्याख्या कई प्रकार से की गई है—

(१) कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव में किसी न किसी रूप में सुरक्षित रहती है और समयानुसार स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है (यह मत जैन, बौद्ध और मीमांसकों का है।)

(२) स्वयं इस शक्ति में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता, इसके अनुरूप फल उत्पन्न करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है (यह मत नैयायिकों एवं वेदान्तियों का है)।

प्रथम मत के अनुसार कर्म अदृष्ट अपूर्व या संस्कार आदि प्राकृतिक कारण काम नियम की भांति फल उत्पन्न करता है। कर्मोत्पन्न शक्ति और फल में सीधा सम्बन्ध रहता है। दूसरे मत के अनुसार शक्ति या नियम में कारणात्मक सामर्थ्य नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य केवल चेतन सत्ता में हो सकता है। यह सत्ता ईश्वर है।

२ कुमारिल

होता है। उदाहरण के रूप में दर्श पूर्णमास याग को ले सकते हैं। समुदाय के प्रत्येक यज्ञ का अपना अपूर्व होता है जिसे उत्पत्यपूर्व अपूर्व कहते हैं। अगो से उत्पन्न होने वाला अपूर्व अंगापूर्व कहलाता है।

मीमांसा-दर्शन मे कर्म सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के बाद यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये दार्शनिक मात्र कर्म काण्ड (अर्थात् व्यक्ति को क्या करना चाहिये) के बारे मे चर्चा करने के अतिरिक्त कुछ नही कहते ? उनके द्वारा कार्म-काण्ड का किया गया विवेचन कर्म से सम्बन्धित क्या दृष्टि प्रदान करता है ? इन प्रश्नो पर विवेचन सम्भवतः हमे उनके कर्म सम्बन्धी विचारो को उचित प्रकार से समझने मे सहायक हो सकता है।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि कर्म हमारे स्वाभाविक अग हैं, इन्हे त्यागा नही जा सकता। मीमांसक दो प्रकार के कर्मो मे भेद करते हैं। प्रथम सहजकर्म और द्वितीय ऐच्छिक कर्म। ऐच्छिक कर्मो से बुद्धि का सम्बन्ध होता है। ऐच्छिक कर्म एक काल मे एक ही हो सकता है। क्रिया का अर्थ है विषय या वस्तु का देश के साथ सयोग। लेकिन इससे कर्म का प्रत्यय सीमित एवं स्थानीय नही कहा जा सकता क्योकि एक ही विषय दो अलग-अलग कालों में अलग-अलग स्थानों पर हो सकता है। उदाहरण के रूप मे अगर हम यह कहे कि 'यह व्यक्ति मथुरा का रहने वाला है' तो हम उसे एक ही स्थान मे सीमित नही कर सकते। (देखिये जैमिनी सूत्र अध्याय १, पाद ३, सूत्र १६-२५) कर्म का कारण कोई उद्देश्य--संतोप या सुख प्राप्ति की इच्छा—होता है। केवल जीवित प्राणियो के कर्मो का उद्देश्य होता है। अकर्म मे भी उद्देश्य होता है। कर्म, उद्देश्य एवं परिणाम मे उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का विभिन्न अगो का शरीर के साथ होता है। इच्छा जो कर्मो का आधार है, का सम्बन्ध ज्ञान से होता है। इच्छा को मनस् के गुण के रूप मे ले सकते हैं।

मीमासा मत के अनुसार कर्म क्रिया पद द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्रिया पद के अर्थ के लिये कर्त्ता और विषय की पूर्व कल्पना करनी पड़ती है। प्रत्येक क्रिया मे आदेश छिपा रहता है। क्रिया को सार्थक तभी कहा जा सकता है जबकि उसमे आदेश निहित हो जैसे कि यजेत स्वर्गकामः।[1] कर्म (गति) के ज्ञान के बारे मे प्रभाकर का मत है कि हमे इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है और कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा। प्रभाकर का मत है कि हम वस्तु का केवल किसी स्थान विशेष से जुडना और अलग होना देखते हैं और उसके आधार पर कर्म या गति का अनुभव करते हैं। कुमारिल कहते है कि हमे गति-

---

१. इस विन्दु की व्याख्या यहाँ सम्भव नही है। देखें मेरा लेख—भावना का तत्त्व-मीमासीय स्वरूप · ३१ वी ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस, जयपुर, १९८२।

कम का प्रत्यक्ष होता है क्योकि यह वस्तु मे ही होती है इसी से वह स्थान के किसी एक बिन्दु से जुडती है और अन्य से विलग होती है ।

कुमारिल कर्त्ता को ही कम का कारण मानता है जबकि प्रभाकर का यह मत है कि कर्मों को किसी विशिष्टकर्त्ता, उसकी इच्छाओ और प्रेरणाओ से स्वतत्र करके विश्लेपित किया जा सकता है । प्रभाकर कम के विश्लेपण मे निम्न पदो की चर्चा करते हैं—(१) कायता ज्ञान (२) चिकीर्षा, (३) कृति, (५) चेष्टा और (६) बाह्य व्यवहार । दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हैं कि कुमारिल कम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि प्रभाकर कम की व्याख्या मे हेतु उपागम की सहायता लेते हैं ।[1]

दोहे

सुख दुख आते ही रहे ज्यो भाटा ज्या ज्वार ।
मन विचलित होवे नही, देख चढाव-उतार ।।

कपट रहे ना कुटिलता, रहे न मिथ्याचार ।
शुद्ध धम ऐसा जगे, होय स्वच्छ व्यवहार ।।

सहज सरल मृदु नीर-सा, मन निमल हो जाय ।
त्यागे कुलिश, कठोरता, गाठ न बधने पाय ।।

जो ना देखे स्वय को, वही बाधता बध ।
जिसने देखा स्वय को, काट लिए दुख द्वद्व ।।

राग द्वेष की, मोह की, जब तक मन मे खान ।
तब तक सुख का, शान्ति का, जरा न नाम निशान ।।

भोक्ता बनकर भोगते, बधन बधत जाय ।
द्रष्टा बनकर देखते, बधन खुलते जाय ।।

पाप होय झट रोक ल, करे न बारम्बार ।
धमवान जाग्रत रहे, अपनी भूल सुधार ।।

—सत्यनारायण गोयनका

---

१ विस्तृत विवेचना के लिय मेरे निम्न लख द्रष्टव्य हैं—

१ Kumarila & Prabhakara s understanding of actions Indian Philosophical Quarterly Vol XI No 1 January 1984

२ मीमासा का अथवाद और कुछ दाशनिक समस्याए परामश खण्ड ५ अक ३ १९८४,

२७

मसीही धर्म में कर्म की मान्यता

☐ डॉ. ए. वी. शिवाजी

समस्त धर्मों मे कर्म के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है किन्तु उसकी मान्यता प्रत्येक धर्म मे विभिन्न प्रकार की है। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म मे कर्म की प्रधानता इतनी अधिक है कि उसी के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यदि तीनो धर्मों का निष्कर्ष निकाला जावे तो यह विदित होता है कि कर्मों से छुटकारा पाना ही मोक्ष, निर्वाण और कैवल्य है। दूसरे शब्दो मे कर्म की विवेचना यह हो सकती है कि कर्म, कार्य और कारण का ही रूप है जो कभी भी समाप्त नही होता। इसी कारण कर्मो का विभाजन शुभ और अशुभ रूप से यह ध्यान मे रखकर किया जाता है कि मनुष्य जो कुछ बोता है, वही काटता है।

मसीही धर्म मे यद्यपि कर्म को मान्यता दी है जैसा कि पौलुस लिखता है—"वह हर एक को उसके कामो के अनुसार बदला देगा।"[1] नये नियम मे ही एक अन्य स्थान पर पौलुस लिखता है—"धोखा न खाओ, परमेश्वर ठट्टो मे नही उडाया जाता, क्योकि मनुष्य जो कुछ बोता है वही काटेगा।"[2] अर्थात् कर्म मनुष्य करता है और कर्म का न्याय कोई अदृष्ट शक्ति करती है, जिसको परमेश्वर, ईश्वर, भगवान् कहते है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म मे तो ईश्वर को भी मान्यता प्राप्त नही है। इस कारण मनुष्य ही अपने कर्मो को स्वतत्र रूप से करता है और उनके परिणामो को भोगता है, किन्तु मसीही धर्म मे कर्म के साथ विश्वास और ईश्वर के अनुग्रह पर जो प्रभु यीशु मसीह के द्वारा प्राप्त होता है, जोर दिया जाता है जिसका हम आगे चलकर अध्ययन करेगे।

हिन्दू धर्म और जैन धर्म मे कर्म विषयक भिन्नता :

हिन्दू धर्मावलम्बी की मान्यता यह है कि कर्म अमूर्त्त है जबकि जैन धर्म की विचारधारा के अनुसार कर्म मूर्त्त है।

हिन्दू धर्म और जैन धर्म मे कर्मो की मान्यता विषयक दूसरी भिन्नता स्मृति से सम्बन्ध रखती है। हिन्दू धर्मावलम्बी यह मानते है कि माया के कारण पूर्वजन्म मे किये हुए कर्म याद नही रहते जबकि जैन धर्म के मतानुसार स्मृति अज्ञान

---

१. रोमियो २ . ६ २ गलतियो ६ : ७

के कारण से नही होती। यदि जीव तप और शुभ कर्मों के द्वारा प्रयास करे तो जीव अज्ञान से छुटकारा पा लेता है और उसे समस्त पूव जन्मो और कृतियो की स्मति हो जाती है।[१] भारतीय दर्शन के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू धम जैन धम और बौद्ध धम मे भले ही कम विषयक एव उसकी मान्यता के सबध मे भिन्नता हो, किन्तु वे सभी कम ही को प्रधानता देते हैं और नतिकता का आधार कम ही को मानते हैं। भारतीय विद्वानों ने कम सिद्धान्त पर बल देते हुए यह दर्शाया है कि मसीही धम मे कम विचार की कमी है जसा कि आचाय रजनीश ने 'महावीर वाणी' मे कहा है कि इस्लाम और ईसाइयत मे बहुत मौलिक आचार की कमी है, कम के विचार की।'[२]

हिन्दू धम म ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है किन्तु ईश्वर कम के व्यापार मे हस्तक्षप नहीं करता। कम की मान्यता को बताते हुए लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने लिखा है कि "कम का यह चक्र जब एक बार आरम्भ हो जाता है तब उसे फिर परमेश्वर भी नही रोक सकता।'[३] एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "कम अनादि है, और उसके अखड व्यापार मे परमेश्वर भी हस्तक्षप नही करता।"[४] इसका अथ यह हुआ कि कम की अपनी पृथक सत्ता है व ईश्वर की अलग पृथक् सत्ता है। इस प्रकार द्वत की विचारधारा जन्म लेती है। कम को अनादि कहना और परमश्वर का हस्त क्षेप न मानने के कारण ही पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय दर्शन एव धम मे मान्यता प्राप्त कम के प्रत्यय की आलोचना की है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आलोचना

फरक्यूअर ने अपनी पुस्तक दी क्राउन आफ हिन्दूइज्म' मे कम की आलोचना करते हुए लिखा है कि कम और पुनजन्म ने एक नये सिद्धान्त को रूप

---

१ The other point of difference they stress on is that while Hindus think Karma as formless Jains believe Karma to have shape Karma according to its origin does inflict hurt or benefit it Must have a form Some Hindus believe that it is owing to maya (Illusion) that all remembrance of the deeds done in previous birth which led to the accumulation of Karma is forgotten but Jains hold that it is owing to Ajnana (Ignorance) and when the soul by means of austerity and good actions has got rid of Ajnana it attains omniscience and remembers all the births it has under gone and all that happened in them Heart of Jainism—Stevenson P 175

२ महावीर वाणी—आचाय रजनीश पृ ५०५

३ गीता रहस्य—बालगगाधर तिलक, पृ २७१ (हिन्दी अनुवाद) ४ वही—पृ २८८

दिया है जब कि धरातल पर वह जन्म और मृत्यु का सिद्धान्त है, वह एक हिन्दू नैतिक सिद्धान्त है ।[1]

हॉग महोदय ने कर्म के विषय मे एक ही प्रश्न उठाया है कि क्या कर्म नैतिक रूप से सतुष्टि देना है ?

ए सी बोक्वेट का मत है कि सासारिक न्याय के रूप में कर्म सिद्धान्त अपने आप मे निन्दनीय है ।[2]

डॉ ए एस थियोडोर का मत है कि कर्म सिद्धान्त के न्यायतावाद में दया, पश्चात्ताप, क्षमा, पापो का शोधन करने का स्थान नही है ।[3]

'गीता रहस्य' मे बाल गगाधर तिलक एवं अन्य भारतीय विद्वानों द्वारा कर्म के प्रत्यय के प्रतिपादन के द्वारा जो तथ्य सामने आते हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्म का यह विचार ईश्वर और मनुष्य की स्वतन्त्रता दोनों को छीन लेता है । इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वान् सिडनी केव ने अपनी पुस्तक 'रिडेम्पशन—हिन्दूइज्म एण्ड क्रिश्चियनिटि' मे तीन बाते प्रकट की हैं कि इस सिद्धान्त के कारण ससार बुरे से बहुत बुरा होता जा रहा है । अछूत, अछूत ही रहेगे और कोढी, कोढी ही । शुभ कर्म जो अर्जित किये गये, उनका परिणाम अगले जीवन में होगा जिसका सम्बन्ध वर्तमान के जीवन और उसकी चेतना से सम्बन्धित नही है । दूसरा तथ्य यह कि यदि कर्म दृष्टिकोण ठीक है तो कोढी, लगडे, अन्धे और दु.खी व्यक्ति सभी को अभियुक्त (Criminals) गिना जाना चाहिए क्योकि वे अपने पूर्व जन्म के किये गये अशुभ कर्मो का दण्ड (Punishment) भोग रहे है । तीसरा तथ्य यह कि कर्म सिद्धान्त भूतकाल के पाप और वर्तमान के दुःख सम्बन्ध बताने मे असफल रहा है क्योकि भूतकाल की हमे स्मृति नही है और कर्म सिद्धान्त हमे कोई आशा नही दिलाता कि नैतिक सघर्ष के द्वारा पाप और बुराई से छुटकारा हो जावेगा ।[4]

स्टीफन नेल गाधी जी की हत्या को लेकर प्रश्न उठाते हैं और लिखते हैं—

"The heaviest blow at the traditional doctrine of Karma was dealt by Mr Gandhi, not by his teaching but by the manner of his death at the hand of an assessin. If all misfortune is the fruit of

---

१ The crown of Hinduism—Farquhar, P 212

२ Christian Faith and Non-Christian Religion–A C Bonquet, P. 196

३ Religon and Society vol No XIV, No 4, 1967

४ Redemption · Hinduism and Christianity—Sydney Cave. P 185, 186, 187

ancient deeds then such a violent death should be evidence of gravely sinful part [1]

इसी प्रकार एक भारतीय मसीह लेखक ने अपने विचारा को निम्न रूप से प्रगट किया है—

"जब रामचन्द्रजी को १४ वष का वनवास दिया गया, तो उन्होने उसे क्यो ग्रहण कर लिया ? क्या वे अपने प्रारब्ध के कारण उसे ग्रहण करने को बाध्य थे, या अपनी माता कौशल्या के कारण ?"[2]

मसीही धम मे कम

मसीही धम मे कम, विश्वास और पश्चात्ताप पर अधिक बल दिया गया है। केवल एक हो प्रत्यय मनुष्य को उद्धार दिलाने मे सहायक नही हो सकता। एक स्थान पर कम की महत्ता पर बल देते हुए याकूब जो प्रभु यीशु मसीह का भाई था, अपनी पत्री मे लिखता है कि 'सो तुमने देख लिया कि मनुष्य कवल विश्वास से ही नही कर्मों से भी धर्मी ठहरता है।"[3] अर्थात कर्मों के साथ विश्वास भी आवश्यक है और विश्वास कर्मों के द्वारा सिद्ध होता है जैसा कि एक अन्य स्थान पर याकूब का ही कथन है कि "सो तुमने देख लिया कि विश्वास ने उसके कर्मों के साथ मिलकर प्रभाव डाला है और कर्मों से विश्वास सिद्ध हुआ।[4] याकूब विश्वास और कम दोनो को साथ-साथ लेकर चलता है परन्तु उसका झुकाव कम की ओर है।

उपरोक्त कथन के तारतम्य मे ही वह कहता है-"जसे देह आत्मा बिना मरी है, वसा ही विश्वास भी कम बिना मरा हुआ है।"[5] एक अन्य स्थान पर वह लिखता है कि "हे निकम्मे मनुष्य क्या तू यह भी नही जानता कि कम बिना विश्वास व्यथ है ?"[6] इन कथना से स्पष्ट है कि मसीह धम मे कम और विश्वास व्यक्ति क सहायक है। जहाँ याकूब ने कम के ऊपर बल दिया, पौलुस विश्वास पर बल देता है। उसका कथन है कि "मनुष्य विश्वास से धर्मी ठहरता है कर्मों से नही।"[7] यह तथ्य स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य के कम उसका उद्धार नहीं कर सकते। वह अपने कर्मो पर घमण्ड नही कर सकता। पौलुस की विचारधारा मे कम की अपक्षा विश्वास का महत्त्व है। इसी कारण रोमियो की पत्री मे वह कहता है कि "यदि इब्राहीम कर्मो से धर्मी ठहराया जाता तो उसे घमण्ड करने

१ Christian Faith and other faiths-Stephen Neill P 86

२ कर्म और बाइबल-आचार्य जम्न दयाल गीत्नान पृ ५३

३ याकूब की पत्री २ २४ ४ याकूब की पत्री २ २२

५ याकूब की पत्री २ २६

६ याकूब की पत्री २ २० ७ रोमियो ५ १

की जगह होती, परन्तु परमेश्वर के निकट नही ।"[१] यह कथन करने वाला वही पौलुस है जो प्रभु यीशु मसीह का आरम्भ मे शत्रु था किन्तु दर्शन पाने के बाद वह मसीह धर्म का अनन्य भक्त हुआ और अन्य शिष्यों के साथ यह विश्वास करने वाला हुआ कि "प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास कर तो तू और तेरा घराना उद्धार पायेगा"[२] प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास ही उसका जीवन दर्शन था। नये नियम मे उसके द्वारा लिखित कई पत्रियो मे इस बात के प्रमाण हैं। जीवन मे मोक्ष का आधार कर्म नही, विश्वास है। एक स्थान पर पौलुस कहता है कि "विश्वास से धर्मी जन-जीवित रहेगा ।"[३] एक अन्य स्थान पर वह कहता है कि "यह बात प्रगट है कि व्यवस्था के द्वारा परमेश्वर के यहाँ कोई धर्मी नही ठहरता क्योकि धर्मीजन विश्वास से जीवित रहेगा ।"[४]

प्रभु यीशु मसीह के अन्य शिष्यो ने भी विश्वास पर बल दिया है। इसी विश्वास को लेकर यूहन्ना प्रभु यीशु मसीह के शब्दो को लिखता है कि "यदि तुम विश्वास न करोगे कि मैं वही हूँ तो अपने पापो मे मरोगे ।"[५]

मसीह धर्म मे शरीर और आत्मा के कर्म :

मसीही धर्म मे शरीर और आत्मा के कर्मो को गिनाया गया है। पवित्र शास्त्र बाइबल का दृष्टिकोण हमारे धार्मिक कार्यो के प्रति जो बिना विश्वास के है, मैले चिथडो के समान है। पुराने नियम मे यशय्याह नबी की पुस्तक में बताया गया है कि "हम तो सब के सब अशुद्ध मनुष्य के से हैं और हमारे धर्म के काम सब के सब मैले चिथड़ो के समान है ।"[६] फिर भी शरीर और आत्मा के कर्मो मे भेद किये गये है। इन भेदो का वर्णन पौलुस ने किया है। वह लिखता है—"शरीर के काम तो प्रकट हैं अर्थात् व्यभिचार, गन्दे काम, लुचपन, मूर्ति पूजा, टोना, बैर, झगडा, ईर्षा, क्रोध, विरोध, फूट, विधर्म, डाह, मतवलापन, लीला, क्रीडा, ऐसे-ऐसे काम करने वाले परमेश्वर के राज्य के वारिस न होंगे। पर आत्मा का फल प्रेम, आनन्द, मेल, धीरज, कृपा, भलाई, विश्वास, नम्रता और सयम है, ऐसे-ऐसे कामो के विरोध मे कोई व्यवस्था नही ।"[७]

कर्मो के द्वारा ईश्वर की महिमा :

कभी-कभी शुभ कर्म करने वाला व्यक्ति अर्थात् धर्मी व्यक्ति भी ईश्वर पर दोष लगाता है कि उसे अच्छे कर्म करते हुए भी विपत्ति, दुःख उठाने पडते हैं। बाइबल मे ऐसे तीन उदाहरण हैं। एक पुराने नियम मे और दो नये नियम मे।

---

१ रोमियो ४ . २
२ प्रेरितो के काम १६ ३१
३ रोमियो १ : १७
४. गलतियो ३ . ११
५ यूहन्ना ८ . २४
६. यशय्याह ६४ : ६
७ गलतियो ५ . १९-२३

जिसके द्वारा मसीह धम मे कम का ज्ञान होता है कि अच्छे कम करने पर भी विपत्ति आती है, बिना कम किये भी जन्म से अधा होना पडता है और अशुभ कम करने के बाद भी उद्धार हो जाता है। पुराने नियम (old testament) मे अय्यूब नामक एक धर्मी व्यक्ति का बयान है। परमेश्वर उसे शैतान के हाथ सौंपता है और उस पर विपत्ति आती है फिर भी अय्यूब ईश्वर पर दोष नही लगाता जसा कि लिखा है—"इन सब बातो म भी अय्यूब ने न तो पाप किया और न परमेश्वर पर मूखता से दोष लगाया"[1] और शतान परमेश्वर के भक्त क सामने पराजित होता है क्योकि जसा कहा गया है कि "धर्मी पर बहुत सी विपत्तिया पडती तो हैं परन्तु यहोवा उनको उन सब से मुक्त करता है।"[2] विपत्ति पडने पर भी अय्यूब विचलित नही हुआ और उसक कर्मों के द्वारा परमेश्वर की महिमा हुई।[3]

दूसरा वणन एक जन्म क अधे का है जो नये नियम मे यूहन्ना के नौव अध्याय म वर्णित है। प्रभु यीशु मसीह के चेले उससे पूछते हैं "रब्बी किस ने पाप किया था कि यह अन्धा जन्मा, इस मनुष्य ने, या उसके माता पिता ने ?" यीशु ने उत्तर दिया कि न तो इसन पाप किया था, न इसके माता पिता न, परन्तु यह इसलिये हुआ कि परमेश्वर क काम उसमे प्रकट हो।" इसी कारण मसीही धम पुनजन्म क सिद्धान्त मे विश्वास नही करता।

तीसरा वणन प्रभु यीशु मसीह के एक मित्र लाजर का है जो यूहन्ना रचित सुसमाचार क ग्यारहवें अध्याय म वर्णित है कि प्रभु यीशु मसीह को लाजर की बीमारी का सदेश भेजा जाता है और उस समय वे कहते हैं कि "यह बीमारी मृत्यु की नही परन्तु परमेश्वर की महिमा के लिए है कि उसके द्वारा परमेश्वर क पुत्र की महिमा हो।"

एक अन्य उदाहरण डाकू का है जिसने जीवन भर अशुभ कम किये, प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु के समय दो डाकू भी उनके साथ क्रूस पर लटकाय गय थे। एक प्रभु यीशु मसीह की निन्दा कर कह रहा था कि अपने आप को और हमे बचा। दूसरा डाकू पहिले डाकू को डांटता है कि हम तो अपने कुकम का दण्ड पा रहे हैं किन्तु इस पवित्र मनुष्य ने क्या किया ? और तब वह यीशु मसीह से कहता है कि "जब तू अपने राज्य मे आए, तो मेरी सुधि लना।" प्रभु यीशु मसीह ने उस डाकू से कहा कि "आज ही तू मेरे साथ स्वग लोक म होगा।"[4]

इन उदाहरणा से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने पूव जन्म के कर्मों को नही भोगता और न ही पूवजन्म के कर्मों का कोई उत्तरदायित्व है।

---

१ अय्यूब १ २२ २ भजन संहिता ३४ १९
३ सम्पूण अध्ययन के लिए पढ़िये अय्यूब १ और २
४ लूका २३ ३९-४३

कर्म और अनुग्रह :

मसीही धर्म मे कर्म के साथ ही अनुग्रह का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि उद्धार अनुग्रह के ही कारण है । यदि ईश्वर अनुग्रह न करे तो कर्म व्यर्थ है । बाइबल मे लिखा है—"जो मुझ से, हे प्रभु, हे प्रभु कहता है, उनमे से हर एक स्वर्ग के राज्य मे प्रवेश न करेगा ।"[१] मसीही धर्म इसीलिए अनुग्रह का प्रचार करता है क्योंकि लिखा है—"क्योंकि विश्वास के द्वारा अनुग्रह ही से तुम्हारा उद्धार हुआ है, और यह तुम्हारी ओर से नही, वरन् परमेश्वर का दान है और न कर्मों के कारण, ऐसा न हो कि कोई घमण्ड करे ।"[२] जीवन में पवित्रता अनुग्रह के ही द्वारा आती है । पौलुस लिखता है कि "मैं परमेश्वर के अनुग्रह को व्यर्थ नही ठहराता, क्योंकि यदि व्यवस्था के द्वारा धार्मिकता होती तो मसीह का मरना व्यर्थ होता ।"[३] पौलुस का पूर्ण विश्वास था कि प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु ही अनुग्रह को पृथ्वी पर मानवता के लिए लाई है ।

अनुग्रह को कभी भी क्रय नही किया जा सकता और न ही धार्मिक कर्मों के द्वारा अर्जित किया जा सकता है किन्तु अनुग्रह उन्ही पर होता है जो परमेश्वर की आज्ञा मानता है । पौलुस समझाते हुए लिखता है "पाप की मजदूरी तो मृत्यु है परन्तु परमेश्वर का वरदान हमारे प्रभु यीशु मसीह मे अनन्त जीवन है ।"[४] इसी अनुग्रह के बारे मे वह आगे कहता है—"तो उसने हमारा उद्धार किया; और यह धर्म के कार्यों के कारण नही, जो हमने आप किए, पर अपनी दया के अनुसार नए जन्म के स्नान, और पवित्र आत्मा के हमें नया बनाने के द्वारा हुआ ।"[५]

उपसंहार :

मसीही धर्म मे कर्म की मान्यता होते हुए भी अनुग्रह का महत्त्व है । वास्तव मे परमेश्वर का प्रेम मनुष्य जाति के लिए उसका अनुग्रह है जिसके द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है । एक गुजराती लेखक धनजी भाई फकीर भाई अनुग्रह के बारे मे लिखते हैं कि "अनुग्रह कोई जादू का प्रभाव नही है अथवा कोई तत्त्व अथवा कोई दान नही है किन्तु अनुग्रह एक व्यक्ति है जो प्रभु यीशु मसीह स्वयं है ।"[६] इस कारण मसीही धर्म मे कर्म, विश्वास और अनुग्रह का एक संगम है ।

□

---

१ मत्ती ७ : २१
२. इफिसियो २ : ८-९
३. गलतियो २ : २१
४. रोमियो ६ . २३
५ तीतुस ३ : ५
६ Kristopanished—Dhanji Bhai Fakir Bhai, P 21

२८ इस्लाम धर्म मे कर्म का स्वरूप

☐ डॉ० निजाम उद्दीन

इस्लाम धम ससार के परित्याग की, विरक्ति की ओर ले जाने वाला धम नही, तर्क दुनिया या रहबानियत का सदेश देने वाला नही। वह कम का सदेश देता है, सयम मे जीवन व्यतीत करने का माग प्रशस्त करता है। इस लोक के साथ परलोक पर भी उसकी दृष्टि रहती है और परलोक को इहलोक पर प्राथमिकता देता है। मनुष्य कम करने मे पूणत स्वतन्त्र है, उसे अपने कर्मों का फल भी निश्चित रूप मे भोगना है और 'रोजे-मशहर' मे—'अन्तिम निणय' के दिन उसे अल्लाह के दरबार मे हाजिर होकर अपने कर्मों का हिसाब देना होता है—"जो व्यक्ति सत्कम करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि वह मोमिन हो, उसे हम ससार मे पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और परलोक मे ऐसे व्यक्तियो को उनके प्रतिकार, पुण्य, उत्तम कर्मों के अनुसार प्रदान किये जायेंगे।"[१]

जैसा कम वसा फल मिलेगा। स्वग और नरक का—जन्नत व दोजख का निणय लोगो के हक मे कर्मों के आधार पर ही होगा—डॉ० इकबाल ने ठीक फरमाया है—

> अमल से जिदगी बनती है जन्नत भी जहन्नुम भी,
> यह खाकी अपनी फितरत मे, न नूरी है न नारी है।

कुरआन म बार-बार यह घोषणा की गई है—"व बश्शिरिल्लजीना आमनू व आमिलुस्सुआलिहाति अन्नालाहुम जन्नातिन तजरी मिन-तहतिहल अन्हार।"[२]

ए पैग़म्बर! खुशखबरी सुना दीजिए उन लोगो को जो ईमान लाए और काम किये अच्छे, इस बात की कि निसदेह उनके लिए जन्नतें (स्वग) हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं।

१—कुरआन, नहल—१२५

२—अलबकर २५

लेकिन कर्मों का दारोमदार नीयत पर है। जो जैसी नीयत करेगा उसे वैसा ही मिलेगा। पैगम्बरे-इस्लाम का फरमाना है—"कर्म का दारोमदार नीयत पर है और प्रत्येक आदमी को वही मिलेगा जिसकी उसने नीयत की।" अल्लाह कण-भर बुराई, कण-भर भलाई को देखने वाला है। 'सूरे अलजलजाल' मे अल्लाह ने फरमाया है—"जो कोई एक कण समान नेकी करेगा, उसे देखेगा और जो कण समान कुकर्म करेगा, उसे देखेगा"। 'सूरे अलहज' मे उल्लेख है—"वअबुदू रब्बाकुम वफअलू ला अल्लाकुम तुफलिहून"[1] अर्थात् अपने रब की बदगी करो और भलाई के कर्म करो ताकि हित-कल्याण प्राप्त करो। इस प्रकार कुरआन मे तथा अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद साहब (सन् ५७१–६३२) ने बार-बार सत्कर्म करने का आदेश दिया है और साथ ही उस व्यक्ति को श्रेष्ठ माना है जो सयमी है—

"इन्ना अकरामाकुम इन्दल्लाहि अतकाकुम" (अलहजारात, १२/१२) तुम में सर्वाधिक आदरणीय वह है जो तुम मे सबसे अधिक सयमी है। इस प्रकार नेक कर्म करना तथा सयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना कुरआन का सदेश है और इस्लाम धर्म का एक बुनियादी सिद्धान्त है। ईमान वालो मे सबसे अच्छा उस व्यक्ति का ईमान है जिसका आचरण, व्यवहार सबसे अच्छा हो, और जो अपने घरवालो के साथ भी सद्व्यवहार करने मे उत्तम हो। अल्लाह ने उस व्यक्ति को नापसन्द किया है जो संसार मे दगा-फसाद पैदा करता है। कुरआन मे कहा गया है—"वल्लाहु ला युहिब्बुल मुफसिदीन" (अल-माइदा, ६४) और अल्लाह फसाद करने वालो से प्रेम नही करता 'ला इकराहा फिद्दीन' (अल-बकर) दीन, धर्म के मामले मे कोई ज़ोर-जबरदस्ती नही। इस प्रकार यहाँ अनावश्यक हिंसा को मान्यता भी नही दी गई। इस्लाम बल का नही, शान्ति का धर्म है। 'इस्लाम' शब्द का अर्थ है अमन व सलामती। यह शाति, सुरक्षा प्रदान करने वाला धर्म है और इसमे किसी एक जाति या सम्प्रदाय के लिए मार्गदर्शन नही, वरन् सकल मानवजाति के लिए मार्गदर्शन है। यहाँ रगो-नस्ल का कोई भेदभाव नही। नेक अमल और तकवा या संयम पर यहाँ विशेष बल दिया गया है। नेक कर्म, सत्कर्म को यहाँ व्यापक रूप मे रेखाकित किया गया है। कुरआन मे फरमाया गया है—

"नेकी यह नही है कि तुमने अपने मुख पूर्व की ओर कर लिए या पश्चिम की ओर, वरन् नेकी यह है कि मनुष्य अल्लाह को, कयामत या अन्तिम दिन को, फरिश्तो (देवदूतो) को, अल्लाह द्वारा अवतरित पुस्तक को, और उसके पैगम्बरो को हृदय से—सच्चे मन से स्वीकार करे और अल्लाह के प्रेम में अपना प्रिय धन सम्बन्धियो, अनाथो, याचको, भिक्षुको पर, सहायता के लिए हाथ फैलाने

१—कुरआन, अलहज, ७७

वालो पर और दासो की—बधको की मुक्ति पर खच करे, नमाज़ कायम करे, जकात (वार्षिक लाभ का २½ प्रतिशत) दे। और नेक वे लोग हैं जो प्रण करें, वायदा करें तो उसे पूण करें, और तगी एव मुसीबत के समय म, सत्य और असत्य के सघष मे सब्र करें। यह है सत्यवादी लाग, और यही लोग मुत्तकी हैं, सयमी हैं।[१]"

'तक्वा' क्या है? इस पर भी विचार करना आवश्यक है। कुरआन मे तकवा करने वाले को, सयमी को इस रूप मे व्यजित किया गया है—"जो अदृश्य या गब पर विश्वास करते हैं, ईमान लाते हैं, नमाज़ कायम करते हैं—नियमित रूप मे नमाज़ पढते हैं, और जो अन्न हमने उनको दिया है उसमे से व्यय करते हैं, जो किताब (कुरआन) तुम पर उतारी गई है और जो किताबें तुमसे पहले उतारी गई हैं उन सब पर ईमान लाते हैं और आखिरत पर विश्वास करते है ऐसे लोग अपने रब की तरफ से सदमाग पर हैं और वही पुण्य, लाभ प्राप्त करने वाले हैं।" 'सूरे आले इमरान' मे फरमाया गया है—'जो प्रत्येक दशा मे अपना धन खच करते हैं, चाहे अच्छी दशा म हो या चाहे दुदशा म हो, जो क्रोध को पी जाते हैं और दूसरो के दोष क्षमा कर देते हैं, ऐसे नेक लोग अल्लाह को बहुत पसन्द हैं और जिनकी दशा यह है कि यदि कोई अश्लील काय उनसे हो जाये या किसी गुनाह को करके अपने ऊपर अत्याचार कर बठते हैं तो अल्लाह उन्हें याद आता है और उससे वे अपने दावो की क्षमा चाहते हैं और अल्लाह के अतिरिक्त और कौन है जो गुनाह क्षमा कर सकता है? और वह कभी जानबूझकर अपने किये पर आग्रह नहीं करते। ऐसे लोगो का प्रत्युपकार उनके रब के पास यह है कि वह उन्हें क्षमा कर देगा और ऐसे उपवनो मे उन्ह दाखिल करेगा, जिनके नीचे नहरें बहती होंगी और वहाँ वह सदव रहगे।" क्या अच्छा बदला है नेक, सत्कम करने वालो के लिए।

इस्लाम धम मे कर्मों के स्वरूप पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है—

(१) ऐसे कम जिनका समाज से सम्बन्ध है, उन्ह लौकिक कम कह सकते हैं। मनुष्य परस्पर अन्य मनुष्यों से जो व्यवहार करता है वे कम इसी श्रेणी मे आयेंगे।

(२) आध्यात्मिक कम वे हैं जिनका सबध नमाज, रोजा, हज और जकात स है। मनुष्य को अल्लाह के अतिरिक्त किसी की पूजा-इबादत नही करनी चाहिए, अल्लाह के अतिरिक्त कोई आराध्य नहीं, यह इस्लाम धम का प्रमुख सिद्धान्त है और इस पर अमल करना प्रत्येक मुसलमान का कत्तव्य है। इसी को

१—कुरआन अलबकर—१७७

'तौहीद' कहते है और इसी मे इस्लाम धर्म का मूलमंत्र (कलमा) समाहित है— "ला इलाहा इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह।" अर्थात् अल्लाह के सिवाय कोई पूज्य नही—इबादत के योग्य नही, मुहम्मद अल्लाह के रसूल है—सदेश-वाहक है।

जब हम सामाजिक कर्मो की ओर ध्यान देते है तो निम्न बाते सामने आती है। इन्हे भी अल्लाह का आदेश मानना चाहिए—

(१) माता-पिता के साथ, सद्व्यवहार करो; यदि तुम्हारे पास उनमे से कोई एक या दोनो वृद्ध होकर रहे तो उन्हे उफ तक न कहो, न उन्हे झिड़क कर उत्तर दो, वरन् उनसे सादर बाते करो, नम्रता और दया के साथ उनके सामने झुक कर रहो और दुआ करो—परवरदिगार ! उन पर दया-कृपा कर, जिस तरह प्रेम, दया, करुणा के साथ उन्होने मेरा पालन-पोषण किया है।

(२) अपने सम्बन्धियो को, याचको को, अनाथो को, दीन-निर्धन को अपना हक—अधिकार दो।

(३) मितव्ययी बनो, अधिक या फजूल व्यय करने वाले शैतान के भाई है और शैतान ने अपने परमात्मा का एहसान नही माना।

(४) बलात्कार के पास भी न फटको, यह बहुत ही बुरा कर्म है और बहुत ही बुरा मार्ग है।

(५) अनाथ के माल-सम्पत्ति के पास मत जाओ, एक उत्तम अच्छा मार्ग अपनाओ जब तक कि वह वयस्कता को प्राप्त न हो।

(६) प्रण या वचन की पाबन्दी करो, निःसदेह वचन के बारे मे तुम्हे उत्तरदायी होना पड़ेगा।

(७) पृथ्वी पर अकड कर मत चलो, न तुम पृथ्वी को विदीर्ण कर सकते हो, न पर्वतो की उच्चता तक पहुँच सकते हो।

(८) न तो अपना हाथ गरदन से बांध कर रखो और न उसे बिल्कुल ही खुला छोड दो कि भर्त्सना, निन्दा, विवशता का शिकार बनो। तेरा रब जिसके लिए चाहता है, रोजी का विस्तार करता है और जिसके लिए चाहता है उसे सीमित कर देता है।

(९) अपनी सन्तान की दरिद्रता के कारण हत्या न करो, अल्लाह सबको अन्न देने वाला है, उनकी हत्या एक बड़ा अपराध है।

(१०) किसी को नाहक कत्ल मत करो।

(११) किसी ऐसी वस्तु का अनुकरण मत करो जिसका तुम्हे ज्ञान न हो। नि सदेह आंख, नाक, कान, हाथ, दिल—सब की पूछ-गछ होनी है।

(१२) मजदूर की मजदूरी उसका श्रम सूखने से पहले दे दो।

(१३) अपने नौकर के साथ समानता का व्यवहार करो, जो स्वय खाओ वही उसे खिलाओ, जैसा स्वय पहनो वसा उसे भी पहनाओ।

(१४) नाप कर दो तो पूरा भर कर दो, तोल कर दो तो पूरा, ठीक तराजू से तोल कर दो।

(१५) अमानत मे खियानत—बेईमानी मत करो। कुरआन मे कहा गया है—

मन अमिला सालिहन मिन जिकरिन अव उन्सा व हुवा मुमिनुन फला नुहयीयन्नाहू हयातन तय्यिबा। वला नजजियन्नाहुम अजराहुम बिअहसनि माकानू यअमालून।[1]

अर्थात् व्यक्ति जो नेक अमल करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि हो वह मोमिन (ईमान, विश्वास रखने वाला) उसे हम ससार मे पवित्र जीवन व्यतीत करायेंग और आखिरत में—परलोक मे ऐसे लोगो को उनके उत्तम कर्मों के अनुसार प्रत्युपकार या प्रतिफल प्रदान किया जायेगा।

'सूरे कहफ' मे अकित है—"इन्नल्लजीना आमनू व अमिलुस्सालिहाति इन्ना ला नुजीउ अजरामन अहसना अमाला"—जो ईमान लायें और नेक काम करें तो नि सदेह हम सत्कम करने वाला के फल नष्ट नही किया करते।

एव सच्चा मुसलमान यह आस्था रखता है कि मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करन के लिए अल्लाह के निर्देशन मे कम करना चाहिए, मुक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य को आस्था के साथ कमशील रहना होगा। यह आस्था और कम दोनो का सयोग आवश्यक है। जीवन को आस्थामय बनाना होगा, बिना आस्था के कम और बिना कम के आस्था बेकार है। केवल कम, केवल आस्था का आश्रय लेकर मुक्ति प्राप्त नही की जा सकती। इस्लाम मे अधानुकरण को पसद नही किया गया। ईमान के पाँच तत्त्व हैं—(१) अल्लाह (२) पगम्बरो की परम्परा (३) धम ग्रन्थ (कुरआन, बाइबिल आदि) (४) देवदूत (५) आखिरत या परलोक। इन पर विश्वास, आस्था रखने पर ही एक व्यक्ति मुसलमान माना जा सकता है।

१—नहल ९७

जहाँ तक धार्मिक या आध्यात्मिक कर्मों का सम्बन्ध है उन्हे 'हक्कुल्लाह' कहा जाता है। रोजा, नमाज आदि इन्हीं मे सम्मिलित है। इस्लाम धर्म के अनुयायियो पर यह फर्ज है कि (१) वे दिन मे पाँच समय नमाज अदा करें, (२) साल मे एक महीने तक (रमजान के महीने में ही) रोजा रखे, (३) अर्थ-सम्पन्न हो तो जीवन मे एक बार अवश्य 'हज' करे, (४) अपनी वार्षिक आय का २½ प्रतिशत दान करे। इन आवश्यक कर्मो के द्वारा आध्यात्मिक उद्देश्यो की प्राप्ति हो जाती है। ये इस्लाम के चार प्रमुख कर्म-स्तम्भ हैं।

खुदा हमारी नमाज का भूखा नही, नमाज के द्वारा मनुष्य के जीवन मे, व्यवहार मे परिवर्तन होना आवश्यक है। नमाज द्वारा निम्न बातें जीवन में आनी चाहिए—(१) इसके द्वारा अल्लाह के अस्तित्व और उसके गुणों के विषय मे मनुष्य की आस्था दृढ होती है। आस्था प्राणो मे घुलमिल जाती है, आत्मा का एक अंग बन जाती है। (२) नमाज ईमान को जीवित, ताजा रखती है। (३) इसके द्वारा मनुष्य की महानता, उच्चाचरण, श्रेष्ठता, सदाचार का विकास, सौंदर्य की तथा प्रकृति की आशा-उमगो को पूरा करने मे मनुष्य को सहायता करती है। (४) नमाज हृदय को पवित्र करती है, बुद्धि का विकास करती है, अन्तरात्मा को सचेत तथा जीवित रखती है, आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। (५) नमाज के द्वारा मनुष्य की अच्छाइयाँ प्रकट होती है और अशुभ, अपवित्र बाते समाप्त हो जाती हैं।

रोजा मनुष्य को अल्लाह से प्रेम करना सिखाता है क्योंकि रोजा केवल अल्लाह की खुशनूदी—प्रसन्नता के लिए रखा जाता है। इसके द्वारा अल्लाह की सन्निकटता का अनुभव होता है। यह मनुष्य की आत्मा को पवित्रता प्रदान करता है, उसे सतुलित जीवन व्यतीत करने का पाठ सिखाता है, सब्र-सन्तोष तथा निःस्वार्थता का भाव उत्पन्न करता है। इच्छाओ का, इन्द्रियों का दमन करना, उन्हे नियन्त्रित करना आता है। भूख-प्यास की अनुभूति से सहानुभूति, दया, करुणा के भाव मनुष्य में उत्पन्न होते हैं। इसके द्वारा मनुष्य अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता है, सामाजिकता की भावना उत्पन्न होती है।

'जकात' इस्लाम का प्रमुख स्तम्भ है। इस शब्द का भाव तो 'पावनता' है, लेकिन व्यवहार मे वार्षिक दान—चाहे रुपयो-पैसो के रूप मे हो, चाहे वस्तुओ के—पदार्थो के रूप मे हो, गरीबो को देना है। लेकिन इसमे दानशीलता के साथ खुदा-प्रेम, आध्यात्मिक उद्देश्य, नैतिक भावना भी शामिल है। यह स्वेच्छा से दिया जाता है, कोई सरकारी दबाव नही जैसे आयकर मे है। मानव-प्रेम की यह एक सच्ची अभिव्यक्ति है। वार्षिक आय का कम से कम ढाई प्रतिशत दान देना, खैरात करना अनिवार्य है। जकात हकदार को देनी चाहिए—जिसके पास अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कुछ भी न हो। अनाथ, विकलाग

को जकात देने मे प्राथमिकता देनी चाहिए। जकात देने मे गव या प्रदशन नही करना चाहिए।

'हज' इस्लाम का अंतिम प्रमुख स्तम्भ है। हज प्रत्येक मुसलमान स्त्री पुरुष पर फज है जिसके पास आर्थिक, शारीरिक, मानसिक सम्पन्नता-समथता है। इसे इस्लाम धम का सर्वोत्तम और महान सम्मेलन समझना चाहिए, अमन व शान्ति की अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस है। इसके द्वारा इस्लाम का सावभौम स्वरूप उभर कर सामने आता है। मानव प्रेम का, समानता का, विश्व बन्धुता का इससे उत्तम रूप अन्यत्र नही मिलता। हज के द्वारा मक्का, मदीना आदि की यात्रा करके हाजी लोग उस युग का भी स्मरण करते है जिस युग मे हजरत इब्राहीम ने मक्का का निर्माण किया था। पैगम्बर मुहम्मद साहब ने जीवन व्यतीत किया था, सकल समाज मे आध्यात्मिकता की ज्योति जलाई थी।

इस्लाम धम के अनुसार मनुष्य को अपने कम करने मे पूण स्वतन्त्रता है, उसे माग दर्शाया गया है, अल्लाह की किताब कुरआन के द्वारा और पगम्बर मुहम्मद साहब क जीवन के द्वारा। उसे अच्छे बुरे की सजा अवश्य मिलेगी। खुदा की ओर से नियुक्त फरिश्ते उसके प्रत्येक कम का लेखा जोखा दज करते रहते हैं और कयामत के दिन, योमे महशर मे उसके कर्मों का विवरण—'एमालनामा' उसके हाथ मे होगा और तदनुसार, उसे स्वग, नरक मे डाला जायगा, उसे कर्मों का पूरा पूरा बदला दिया जायगा। यह अवश्य स्मरणीय है कि यदि कोई अपने किए पर पश्चात्ताप करे, क्षमा मागे और वसा गुनाह न करे तो अल्लाह उसे क्षमा कर देता है क्योकि वह 'रहीम' और 'रहमान' है वह दयानिधि है, कृपासागर है। यो अल्लाह सवशक्तिमान है, उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नही हिल सकता। मनुष्य को अपने आपको अल्लाह के अधीन समझकर उसकी खुशनूदी के लिए कम करने चाहिए और उस मनुष्य को सव-श्रेष्ठ मनुष्य कुरआन व इस्लाम की दृष्टि मे समझा जायगा जिसके कम उत्तम हैं, जिसका आचरण श्रेष्ठ है। "इन्नलाहा ला युगयिरुमा वि कौमिन हत्ता युगयिर मा वि अनफुसिहिम।[1]

नि सदेह अल्लाह किसी जाति की दशा को उस समय तक परिवर्तित नहीं करता जब तक कि वह अपनी दशा को नही परिवर्तित करती।

□□□

१—कुरआन, अरमद (१३, ११)

२६ पाश्चात्य दर्शन में क्रिया-सिद्धान्त*

☐ डॉ० के० एल० शर्मा

भारतीय दर्शन मे कर्म के प्रत्यय का प्रयोग जिस अर्थ में मिलता है उस अर्थ मे पाश्चात्य-दर्शन मे नही मिलता। ऐसा इसलिये है कि भारतीय दर्शन मे चार्वाको को छोड़कर सभी दार्शनिक पुनर्जन्म मे विश्वास करते हैं। अतः पुनर्जन्म की व्याख्या के रूप मे 'कर्म' के प्रत्यय को भारतीय दर्शन मे समझा गया है जबकि पाश्चात्य-दर्शन मे ऐसा नही है।

क्रिया-दर्शन पाश्चात्य दर्शन शास्त्र की एक नवीन शाखा है। तत्त्व-मीमासको के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं विधिशास्त्री भी क्रिया कर्म के प्रत्यय की व्याख्या मे रुचि रखते है। तत्त्वमीमांसको की रुचि मानव स्वतत्रता एव उत्तरदायित्व आदि कर्म से सम्बन्धित समस्याओं तक ही सीमित थी। समकालीन दार्शनिको की रुचि इसमे है कि कर्म 'की व्याख्या कारण-कार्य के रूप मे की जा सकती है या नही ? कुछ दार्शनिक मानव-क्रिया की व्याख्या कारण-कार्य के रूप मे करते है तो दूसरी ओर अन्य दार्शनिक मानव-क्रिया/कर्म को अन्य प्रकार की घटनाओ से बचाये रखने के लिये क्रिया अथवा कर्म की व्याख्या अभिप्राय एवं हेतु आदि प्रत्ययो द्वारा करते हैं।

इस सक्षिप्त लेख मे हम मानव क्रिया/कर्म (Human action) के स्वरूप एवं उसकी कुछ समस्याओ तथा व्याख्या करने वाले कुछ सिद्धान्तो का अति सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेगे।

प्रत्येक व्यक्ति 'क्रिया' करता है चाहे वह दैहिक हो (जैसा कि मांसपेशीय गति, हाथ उठाना, कोई चीज खरीदना, पुल बनाना, दूसरे व्यक्ति की प्रशसा करना या उसकी हँसी उड़ाना आदि) या मानसिक (उदाहरणतः गणितीय समस्या का समाधान करना, किसी रहस्य को छुपाये रखना आदि)। लेकिन यह तथ्य कि "मनुष्य क्रिया करते है" इस दावे की ओर इगित नही करता कि

---

*यद्यपि पाश्चात्य दर्शन मे भारतीय दर्शनो की भाँति कर्म-सिद्धान्त का विवेचन नही मिलता, पर वहाँ क्रिया-सिद्धान्त के रूप मे क्रिया पर व्यापक चिन्तन किया गया है। चूँकि 'कर्म' के मूल मे क्रिया अन्तर्निहित है अत द्रव्य कर्म और भावकर्म के स्वरूप को समझने मे पाश्चात्य क्रिया-सिद्धान्त सहायक हो सकता है। इसी दृष्टि से यह निबन्ध यहाँ दिया जा रहा है। —सम्पादक

मानव क्रिया को लेकर कोई समस्या नही है। मनोवैज्ञानिकों, विधिशास्त्रियो, समाजशास्त्रियो, के लिये 'क्रिया' वह व्यवहार है जो किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है। लेकिन 'क्रिया' के बारे मे प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिक विभिन्न प्रकार के प्रश्न उठाते आये हैं। क्रिया के सम्बन्ध मे प्रमुख रूप से पाच प्रकार के प्रश्न दार्शनिकों ने उठाये हैं। ये प्रश्न हैं —

१ प्रत्ययात्मक प्रश्न (Conceptual)—जैसा कि 'मानव क्रिया क्या है, 'व्यक्ति (Persons) क्या कर सकते हैं ?' अथवा 'व्यक्ति ने क्रिया की' ऐसा कहने का क्या अर्थ है ? तथा 'ऐसा कहने का क्या अर्थ है कि एक व्यक्ति क्रिया कर सकता है ?'

२ व्याख्यात्मक प्रश्न—मानव क्रिया की व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्न जैसे कि 'क्या भौतिक शास्त्र, जीवविज्ञान, के सिद्धान्त एव पद्धति मानव क्रिया को समझने के लिए पर्याप्त हैं ?' 'क्या वैज्ञानिक प्रत्ययो से इतर किन्ही अन्य प्रत्ययों जैसे कि मोद्देश्यता (purposiveness) एव लक्ष्योन्मुखता (goal directedness) जैसे प्रत्ययो की मानव क्रिया की व्याख्या के लिए क्या अनिवार्यता है ?

३ तत्त्वमीमांसीय प्रश्न—जैसे कि 'क्या सभी मानव क्रियाएँ उत्पन्न की जाती हैं (are caused) ? क्या मानव क्रिया उत्पन्न की जा सकती है ? इस प्रकार के प्रश्नो का सम्बन्ध इच्छा स्वातन्त्र्य की जटिल समस्याओ से है

४ ज्ञानमीमांसीय प्रश्न—जैसे कि क्या निरीक्षण या किन्ही अन्य साधनो के द्वारा हम यह जानते हैं कि हम क्रिया कर रहे हैं ? "हम कैसे जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रिया करते हैं ?"

५ नीतिशास्त्रीय एव परा नीतिशास्त्रीय प्रश्न—इस कोटि मे जो प्रश्न आते हैं वे हैं—क्या क्रियाए अथवा उनके परिणाम अच्छे या बुरे होते हैं ? तथा ऐसा कहने का क्या अर्थ है कि व्यक्ति अपनी क्रिया या उनके परिणाम के लिए उत्तरदायी है ?'

यह बात स्पष्ट है कि क्रिया से सम्बन्धित प्रत्ययात्मक प्रश्न (Conceptual questions) ही प्रमुख प्रश्न हैं। क्रियाओ की व्याख्या, क्रियाओ के कारण, क्रियाओ का ज्ञान, क्रियाओ एव उनके परिणामो व मूल्याकन के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि 'क्रिया' का क्या अर्थ है ? दूसरे शब्दो म, क्रिया के स्वरूप से सम्बन्धित सिद्धान्त का स्थान तार्किक दृष्टि से क्रिया के व्याख्यात्मक तत्त्वमीमासीय, ज्ञानमीमासीय, नैतिक एव परा-नैतिक (meta ethical) सिद्धान्तो से पहले आता है। अत हम सर्वप्रथम क्रिया के स्वरूप एव विवरण (descriptions) से सम्बन्धित समस्याओ पर विचार करेंगे।

मानव क्रिया का स्वरूप :

मानव क्रिया के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए हम इस प्रश्न पर विचार करे कि हमारी क्रियाएँ प्रकृति मे होने वाले विभिन्न परिवर्तनो (Changes) से कैसे महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मानव स्वय गति करने वाला (self-mover) है तथा वह स्वय से अपनी गतियो (क्रियाओ) को प्रारम्भ (initiate) करता है, निर्देशित (direct) करता है एव नियन्त्रित करता है। जबकि पर्वत, मिट्टी, फूल आदि चीजे स्वय से गति नही करती अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही जा सकती। लेकिन केवल 'स्वय गति करना' पद से मानव क्रियाओ को अन्य परिवर्तनो या गतियो से विभेदित नही कर सकते क्योकि राकेट, जो जीवित प्राणियो की कोटि मे नही आता, भी स्वय से गति करता (self-propelled) है, अपने व्यवहार को निर्देशित भी करता है, अत. क्रिया को समझने के लिए किसी अन्य मानदण्ड की आवश्यकता है।

मनुष्यो की गतियाँ इसलिए क्रिया को कोटि मे आती है कि उन्हे कर्त्ता (agent) अक्सर अभिप्रायपूर्वक (intentionally) करता है। जबकि पेड पौधे, राकेट आदि वैसा नही कर सकते। उन पर क्रिया की जाती है। वे अभिप्रायपूर्वक स्वय से क्रिया नहीं कर सकते। मानव अपनी क्रिया का नियंत्रण (Control) स्वेच्छा से कर सकता है।

हमारे कहने का तात्पर्य यह नही है कि मनुष्य सदैव सक्रिय रहता है वल्कि कभी-कभी वह निष्क्रिय (passive) भी होता है तथा उस पर क्रिया की जाती है। उस स्थिति मे मनुष्य एव निम्न प्राणियो के व्यवहार मे अन्तर स्पष्ट दिखाई नही देता। कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि मनुष्य सदैव अपने व्यवहार को नियन्त्रित नही कर सकता अतः वह निर्जीव व्यक्ति के समान है। उदाहरण के रूप मे कोई व्यक्ति पाँचवी मजिल की खिड़की से गिरता है तो वह उसी प्रकार नीचे गिरेगा जैसे कि कोई वेजानदार वस्तु नीचे गिरती है। वह अपने गिरने के व्यवहार को बीच मे नियन्त्रित नही कर सकता। लेकिन यहाँ हमे दो वातो मे भेद करना चाहिए—(१) क्या व्यक्ति को किसी ने धक्का दिया या (२) वह स्वय से नीचे कूदा। उदाहरण के लिए आत्महत्या हेतु स्वय से नीचे कूदा। प्रथम स्थिति मे वह निर्जीव वस्तु के समान है लेकिन द्वितीय स्थिति वह स्थिति हैं जो मनुष्य को निर्जीव वस्तुओ से विभेदित करती है। यह बात सही है कि वह दोनो ही स्थितियो मे अपने गिरने के व्यवहार को नियन्त्रित नही कर सकता लेकिन गिरने का कारण ही उसके व्यवहार को विभेदित कर देता है। 'क्रिया के आन्तरिक कारण' एव 'वाह्य कारण' कहकर इस भेद की व्याख्या करना समस्या का अतिसरलीकरण कहा जायेगा। उदाहरणत: ऐसी वहुत सी मानव गतिया (Human movements) है जिनका कारण

आन्तरिक होना है लेकिन हम यह नही कह सकते हैं कि वे ऐच्छिक एव अभिप्रायात्मक क्रियाएँ है तथा वे कर्त्ता के नियन्त्रण मे हैं। उदाहरण के लिए हाथ का कांपना, मिर्गी आना आदि सहज क्रियाओ का कारण आन्तरिक (नाडीतन्त्र से सम्बन्धित) है लेकिन उनको नियन्त्रित नही किया जा सकता।

यह बात सही है कि उस चीज को जो अभिप्रायात्मक क्रियाओ को अन्य क्रियाओ से विभेदित करती है, को बताना अत्यन्त कठिन है। लेकिन विभेदीकरण मे कठिनाई के आधार पर अभिप्रायात्मक क्रियाओ को नकारा नही जा सकता। इनके अतिरिक्त अगर अभिप्रायात्मक क्रियाओ एव अन्य प्रकार की क्रियाओ म भेद नहीं माना गया तो इसके परिणाम मानव दर्शन, नीतिशास्त्र के लिए अच्छे नहीं होगे। जिस सीमा तक अभिप्रायात्मक (intentional) एव अन अभिप्रायात्मक क्रियाओ (non intentional) मे भेद नही है उसी सीमा तक मनस युक्त प्राणियो मे एव मनस रहित प्राणियो म भेद नही कहा जायेगा। अभिप्रायात्मकता का उत्तरदायित्व (responsibility) मे सम्बन्ध होने के कारण किसी क्रिया को शुभ और अशुभ कहा जाता है। यह हम जानते हैं कि पेड-पौधे एव निर्जीव वस्तुएँ अपने व्यवहार को नियन्त्रित नही कर सकते अत हम उन्हे उत्तरदायी भी नही ठहरा सकते और न ही उनके व्यवहार को शुभ और अशुभ कह सकते हैं।

मनस और शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए वे अभिप्रायात्मक क्रियाएँ जिनका सम्बन्ध अनिवार्यत दैहिक गति (जैसे कि खिडकी से बाहर कूदना) से होता है, महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ ऐसी भी क्रियाएँ होती हैं जिन्हें मानसिक क्रियाएँ कहा जाता है (जैसे कि स्मरण करना, प्रतिमा (image) बनाना, दार्शनिक समस्या पर चिन्तन करना आदि)। इनका दैहिक गति से अनिवार्य सम्बन्ध नही होता। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह सबका सब क्रिया की कोटि मे नही आता क्योंकि गति एव निश्चलता क्रिया एव अक्रिया मे भेद बताने के लिए भी 'मानव क्रिया' पद का प्रयोग किया जाता है।

'क्रिया क्या है' इस प्रश्न की व्याख्या इस दृष्टि से कि 'क्रिया को कैसे वर्णित किया जा सकता' के द्वारा भी की जा सकती है। क्रिया वर्णन (action description) के द्वारा क्रिया के स्वरूप पर प्रकाश डालने से पूर्व हम कुछ क्रिया सदृश्य लगने वाले प्रत्ययों पर विचार करना चाहेंगे।

क्रियाए (actions) बनाम प्रक्रियाएँ (processes)

क्रिया का कोई न कोई कर्त्ता (agent) अवश्य होता है। जैसे कि "उसने (कर्त्ता ने) 'अ' (क्रिया) को किया।' यही बात क्रियाओ (जैसे कि मेरा हाथ

उठाना) को प्रकृति की प्रक्रियाओं (जैसे कि बूदो का वाष्पीकृत होना) से विभेदित करती है। क्योकि उनमे कर्त्ता के बारे में बताना आवश्यक नही है और न वहाँ उत्तरदायित्व की बात उठती है।

क्रियाएँ बनाम भावावेश (Passions) :

क्रिया वह है जिसे कोई कर्त्ता करता है। इस कथन मे यह भाव है कि हम क्रिया को उसके कर्त्तापन (agency) के एक उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत कर रहे है। क्रिया इसी कारण कुछ घटित होने (happens to) से भिन्न है। उदाहरण के रूप मे उसका नीचे बैठना (क्योकि वह कमजोरी का अनुभव करता है) से उसके गिर पडने से (क्योकि उसका पैर केले के छिलके पर पड़ गया था) भिन्न है। कुछ अन्य बाते ऐसी है जिन्हे कर्त्ता करता है लेकिन वे क्रियाओ की कोटि मे नही आती। इस बात को समझने के लिए निम्न विभेदीकरणो पर विचार कीजिए :—

क्रियाएँ बनाम मात्र व्यवहार (mere-behaviour) :

व्यक्ति ऐसे बहुत से व्यवहार करता है जिनके कर्त्ता के बारे मे विचार नही किया जाता। इस प्रकार के करने (doings) को क्रिया की कोटि मे नही रखा जाता। क्रिया किसी के साथ घटित होती है (happens to some one) अथवा कुछ करना पडता है (just happens to do) से विपरीत-व्यवहार की एक प्रकरण (item) है जिसके होने पर (व्यक्ति) नियत्रण कर सकता है।

क्रियाएँ बनाम पर्यवसान (terminations) .

कर्त्ता क्रियाएँ (activity verbs : listening for, looking at, searching for) तथा उपलब्धि क्रियाएँ (achievement verbs : hearing, seeing, finding) मे भेद है। प्रथम प्रकार की कोटि, क्रियाओ का प्रतिनिधित्व करती है लेकिन द्वितीय कोटि (जो केवल क्रिया का परिणाम है) नही करती। उदाहरण के रूप मे वैवाहिक सस्कारो मे भाग लेना क्रिया है लेकिन गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना क्रिया नही (सस्कारो को करने का परिणाम है।)

संयम रखना (refraining) बनाम क्रिया न करना (non-action)

निर्व्यापारत्व या अक्रियता (inaction) के दो महत्त्वपूर्ण पर्याय है। प्रथम है सयम रखना। किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से वार्तालाप करते समय मच्छर के काटने से उत्पन्न पीडा वाले अग को न सहलाना सयम रखने का उदाहरण है। दूसरे प्रकार का निर्व्यापारत्व क्रिया न करने (non-action) की कोटि मे आता है। उदाहरण के रूप मे जब मैं कुर्सी पर बैठकर पढ रहा होता हूँ तो मै बहुत-सी बाते जैसे कि लेख लिखना, मित्र से गप लगाना, आदि नही

कर रहा होता हूँ। यह निर्व्यापार किसी प्रकार का 'करना' (doing) नही है। इनके करने में मैं किसी प्रकार सक्रिय नही होता। अतः संयम से भिन्न है।

क्रियाएँ बनाम मानसिक क्रियाएँ

क्रिया में दैहिक पहलू भावात्मक रूप में कुछ करने के रूप में या अभावात्मक रूप में संयम रखने के रूप में अवश्य होना चाहिए। अतः विशुद्ध रूप से मानसिक क्रियाएँ जो पूर्णतः आन्तरिक (internal) होती हैं, क्रिया की कोटि में नही आती। बाह्य मौखिक स्वीकृति देना क्रिया है लेकिन स्वयं में 'मौन स्वीकृति देना' (tacit assent) क्रिया नही है। चिंतित होना स्वयं में क्रिया नही है यद्यपि परिकल्पित रूप से कदम बढाना क्रिया है। प्रत्येक क्रिया का बाह्य शारीरिक पहलू (Component) होता है तथा इसमें किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया निहित होती है। क्रियाएँ व्यक्ति अर्थात् दैहिक (Corporeal) शरीर युक्त कर्त्ता क्रिया करता है।

क्रिया का वर्णन[1] करने के लिए क्रिया को वर्णित करने वाले निम्न तत्त्वों पर विचार करना चाहिऐ —

१ कर्त्ता (agent) इसे (क्रिया को) किसने किया?

२ क्रिया प्रकार (act type) उसने क्या किया?

३ क्रिया करने की प्रकारता (modality of action) उसने किस प्रकार से किया?

(अ) प्रकारता की विधि (modality of manners) किस प्रकारता की विधि से उसने किया।

(ब) प्रकारता का साधन (modality of means) उसने किस साधन द्वारा इसे किया।

४ क्रिया की परिस्थिति (setting of action) किस संदर्भ में उसने इसे किया।

(अ) कालिक पहलू—उसने इसे कब किया?

(ब) दैशिक पहलू—इसे उसने कहाँ किया?

(स) परिस्थित्यात्मक पहलू (Circumstantial aspect) किन परिस्थितियों में उसने इसे किया?

---

१ Nicholas Rescher— On the Characterization of Actions The Nature of Human Action Edited by Myles Brand पृष्ठ २४७–५४

२ कर्त्ता क्रिया प्रकार तथा क्रिया करने का समय तीनों ही क्रिया के वर्णन के लिए पर्याप्त हैं लेकिन पूर्णरूप से नहीं।

५. क्रिया की युक्तियुक्तता (rationale of Actiom) : इसे उसने क्यों किया ?

(अ) कारणता—इसे करने के पीछे क्या कारण था ?

(ब) पूर्णता (finality)-किस उद्देश्य (aim) से उसने इसे किया ?

(स) अभिप्रायात्मक (intentionality)—किस प्रेरणा से उसने इसे किया ?

किसी क्रिया का कर्त्ता व्यक्ति या समूह (भीड़, संस्था, पार्लियामेण्ट) जो क्रिया करने के योग्य है, हो सकता है। समूह विभाजित रूप से (distributively) या व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से क्रिया कर सकता है।

क्रिया के प्रकार :

पूर्णरूपेण जाति प्रकार (fully generic type) की क्रियाएँ जैसे कि खिडकी खोलना, पेंसिल की नोक को तेज करना। लेकिन जब ये क्रियाएँ किसी विशिष्ट विषय की ओर इंगित करती हैं तो **विशिष्ट प्रकार** (specific type) की कहलाती है जैसे कि 'इस खिडकी को खोलना' 'उस पेंसिल की नोक को तेज करना' आदि। जाति के विभिन्न स्तरो मे भी किसी विशिष्ट क्रिया का वर्णन किया जा सकता है। उदाहरण के रूप मे 'उसने एक हाथ उठाया' अथवा 'उसने अपना दाहिना हाथ उठाया'। जब भी क्रिया प्रकार की बात की जाती है उसमें जिसे व्याकरण मे उद्देश्य कहा जाता है, को सम्मिलित किया जाता है। जैसे कि 'राम मोहन को पुस्तक देता है' इस कथन मे 'देना' क्रिया प्रकार नही है बल्कि **'मोहन को पुस्तक देना'** (जो **विशिष्ट प्रकार** का उदाहरण है) अथवा **'किसी को पुस्तक देना'** (जो **जाति प्रकार** का उदाहरण है) क्रिया प्रकार है।

क्रिया की प्रकारता क्रिया के विशेषणो से ज्ञात होती है (जैसे कि तेजी से हाथ मिलाना, हल्के से हाथ मिलाना) **प्रकारता** के आधार पर कर्त्ता की **मानसिक स्थिति** का पता चलता है।

परिस्थिति का पर्यावरण, काल, स्थान एवं परिस्थिति क्रिया के सदर्भ (setting) को निर्धारित करते है।

कर्त्ता ने क्रिया क्यों की ?' इस प्रश्न की व्याख्या में कारणता, पूर्णता (finality) एव प्रेरणा का ध्यान रखा जाता है जैसे कि ऐच्छिक/अनैच्छिक/जानकर/अनजाने आदि।

क्रिया की युक्तिसंगतता के विरोधी युग्म (जैसे कि ऐच्छिक/अनैच्छिक) और क्रिया के प्रकार, प्रकारता (modality) एवं परिस्थिति क्रिया प्रत्यय के उभयात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालते है। 'व्यक्ति' के प्रत्यय, (जिसके

दैहिक एव मानसिक परस्पर सम्बन्धित पहलू हैं) के समान क्रिया के वाह्य (दहिक एव निरीक्षणीय) तथा आन्तरिक (मानसिक एव अनिरीक्षणीय) परस्पर सम्बन्धित पहलू हैं । क्रिया के 'वाह्य' पहलू का सम्बन्ध उसने क्या (What) किया तथा कैसे तथा किस परिस्थिति मे किया, से ह जबकि आन्तरिक पहलू का सम्बन्ध उसकी मानसिक स्थिति (विचार, अभिप्राय, प्ररणा आदि) से ह।

कर्त्ता ने 'क्या किया' और 'क्यो किया' मे भेद की बात उठायी जाती ह। दूसरे शब्दो म क्रिया के वरान (description) एव मूल्याकन (evaluation) के बीच एव विभाजन रेखा खीचना, सिद्धान्तत सम्भव भी ह तथा व्यावहारिक रूप से वाछनीय भी।

असीमित विभाजनशीलता

सामान्य भाषा मे व्यक्तिगत क्रियाओ (individual actions) जसे 'ताले मे चाबी घुमाना' तथा जटिल क्रिया म भेद सवविदित ह। क्या यह भेद स्वीकार करने योग्य ह ? क्या प्रत्येक क्रिया वास्तव मे क्रियाओ का एक सिलसिला नही ह ? क्या सभी क्रियाओ को खण्ड इकाइया (Components) म विभाजित किया जा सकता ह ? क्या विविधता (जसा कि जीवो के विरोधाभास मे ह) सीमा रहित नही ह ? सभी क्रियाओ का विभाजित नही किया जा सकता। विभाजन की भी एक सीमा होती ह जो कर्त्ता की मानसिक स्थिति पर आधारित ह।

दो प्रमुख क्रिया उक्तियो एक व्यक्ति ने क्रिया की' तथा एक व्यक्ति क्रिया कर सकता ह' के अर्थ को विश्लेषित करने या निर्धारण करने की दो विधिया हैं। प्रथम प्रयास मे मानव क्रिया को किन्ही प्रकार के परिवतनो या घटनाओ म घटित' किया जाता ह। भाषायी दृष्टि से इस बात को इस प्रकार कहेगे—क्रिया उक्तियो (action talks) को अक्रिया उक्तियो (non action talks) मे विश्लेषित करने का प्रयास करना। क्रिया उक्तियो को इस प्रकार विश्लेषित करने के उपागम को इतर तन्त्रीय विधि (extra systemic) कहते हैं। 'व्यवहारवाद' (यहाँ व्यवहार का मोटे रूप मे अथ ह कोई भी दैहिक परिवतन या प्रक्रिया) जो मानव क्रियाओ को व्यावहारिक घटनाओ से तादात्म्य करता है, इस उपागम का उदाहरण ह।

द्वितीय उपागम के अनुसार मानव क्रिया की व्याख्या क्रमबद्ध रूप से (systematically) की जाती ह। दूसरे शब्दो मे इस उपागम के अनुसार क्रिया युक्तियो की सरचनात्मक तन्त्र अथवा कलन (calculus) द्वारा व्याख्या की जाती ह।

क्रियाओ की व्याख्या करने वाले कुछ सिद्धान्त

क्रिया से सम्बन्धित सिद्धान्तो का सक्षिप्त परिचय देने से पूव हम विटगन्स्टीन के इस कथन को लें–"मैं अपना ... ।" "इस तथ्य से अगर

हम इस तथ्य को कि **मेरा हाथ ऊपर जाता है या उठता है** को घटा दे (या निकाल दे) तो क्या शेष रहता है ?" यह कथन समस्यापूर्ण है। दूसरे शब्दो मे, 'मेरे हाथ की दैहिक गति एव मेरे हाथ की साभिप्राय क्रिया' मे क्या अन्तर है, यह विन्दु विवादास्पद है।

उपर्युक्त समस्या को समझने मे निम्न पाँच सिद्धान्त सहायक हैं—

(१) **मानसिक घटनाएँ क्रियाओं के कारण के रूप में** (Mental events as the causes of actions) इस दृष्टिकोण के अनुसार अभिप्रायात्मक क्रियाएँ (intentional actions) वे गतियाँ है जो विशिष्ट प्रकार की मानसिक घटनाओं या व्यवस्थाओ द्वारा उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार 'मेरे द्वारा मेरा हाथ उठाना' क्रिया को इससे पहले की कारणात्मक घटना या स्थिति द्वारा विभेदित किया जा सकता है। ये कारणात्मक घटनाएँ किस प्रकार की घटनाएँ है, इस प्रश्न का उत्तर इस सिद्धान्त द्वारा यह कहकर दिया जा सकता है कि कुछ युक्तियाँ देना, निर्णय लेना, चुनाव करना अथवा क्रिया के बारे मे तय करना ही कारणात्मक घटनाएँ है।

(२) **कर्त्ता सिद्धान्त** (Agency theory) इस सिद्धान्त के अनुसार गति का कारण घटना न होकर स्वय कर्त्ता होता है। जब मैं क्रिया करता हूँ तब मै ही गति का कारण होता हूँ।

(३) **निष्पादन सिद्धान्त** (Performative theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार इस कथन —'गति एक अभिप्रायात्मक क्रिया है'—का तात्पर्य क्रिया का वर्णन करना नही है और न ही यह बताना है कि वस्तुएँ कैसी है अथवा किसने किसे उत्पन्न किया। बल्कि इसका तात्पर्य गति के लिये कर्त्ता पर दायित्व लागू करने की क्रिया का निष्पादन करता है।

(४) **लक्ष्य क्रियाओं की व्याख्या के रूप में** (Goals as the explanation of actions) : कुछ दार्शनिक यह मानते है कि कुछ ऐसी बाते हैं जो किसी गति को क्रिया बनाती है। इन विचारको के अनुसार गति की व्याख्या लक्ष्य को ध्यान मे रखकर करनी चाहिये। पूर्व स्थित कारण जैसे कि अवस्था या घटना अथवा कर्त्ता द्वारा क्रिया की व्याख्या करना ठीक नही है।

(५) **क्रियाओ का संदर्भात्मक वर्णन** (Contextual account of actions)—इस सिद्धान्त के अनुसार गति अभिप्रायात्मक तब होती है जब इसका वर्णन नियमो, मानकों अथवा चली आ रही रीतियो के द्वारा किया जाता है।

३०

जैन कर्म साहित्य का संक्षिप्त विवरण

☐ श्री अगरचन्द नाहटा

विश्व मे प्राणीमात्र मे जो अनेक विविधताएँ दिखाई देती हैं, जैन धर्म के अनुसार उसका कारण स्वकृत कर्म हैं। जीवो के परिणाम व प्रवृत्तियो मे जो बहुत अन्तर होता है, उसी के अनुसार कर्मबन्ध भी अनेक प्रकार का होता रहता है। उसी के परिणामस्वरूप सब जीवों व भावो आदि की विविधता है। जैन धर्म का कर्म-साहित्य बहुत विशाल है। विश्व भर मे अन्य किसी धर्म या दर्शन का कर्म-साहित्य इतना विशाल व मौलिकतापूर्ण नही मिलता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय मे कर्म-साहित्य समान रूप से प्राप्त है। क्योंकि मूलत १४ पूर्वों म जो आठवा कर्म प्रवाद पूर्व था, उसी के आधार से दोनो का कर्म साहित्य रचा गया है। यद्यपि श्वेताम्बर आगमो मे यह फुटकर रूप से व सक्षिप्त विवरण रूप से मिलता है। पर कर्म प्रवाद पूर्व आदि जिन पूर्वों के आधार से मुख्य रूप से श्वेताम्बर एव दिगम्बर साहित्य रचा गया है वे पूर्व ग्रन्थ लम्बे समय से प्राप्त नही हैं। दिगम्बरो मे षट् खण्डागम, कषाय प्राभृत, महाबंध आदि प्राचीनतम कर्म साहित्य के ग्रन्थ हैं तो श्वेताम्बरो मे बंध शतक, कर्म प्रकृति, पच सग्रह आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं। इन सबके आधार से पीछे के अनेक आचार्यों एव मुनियो ने समय-समय पर नये-नये ग्रन्थ बनाये और प्राचीन ग्रन्थो पर चूर्णी, टीका आदि विवेचन लिखा। आज भी यह क्रम जारी है। हिन्दी और गुजराती मे अनेक प्राचीन कर्म शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो का अनुवाद एव विवेचन छपता रहा है। और नये कर्म-साहित्य का निर्माण भी प्राकृत एव सस्कृत म लाखो श्लोक परिमित हो रहा है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे गम्भीरता पूर्वक मनन और अनुभवपूर्ण अभिव्यक्ति की बहुत बडी आवश्यकता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्म विषयक ग्रन्थों की एक सूची सन् १६१६ के जुलाई अगस्त के 'जैन हितैषी' के अक में प्रकाशित हुयी थी। श्री कान्ति विजयजी के शिष्य श्री चतुर विजयजी और उनके शिष्य श्री पुण्य विजयजी ने ऐसी सूची तैयार करने में काफी श्रम किया था। उस सूची को पण्डित सुखलालजी ने कर्म विपाक प्रथम कर्म ग्रन्थ सानुवाद के परिशिष्ट मे प्रकाशित की थी। इसके बाद कर्म साहित्य सम्बन्धी एक बहुत ही उल्लेखनीय बड़ा ग्रन्थ प्रो० हीरालाल कापडिया ने पन्याम निपुण मुनिजी और श्री भक्ति मुनिजी की प्रेरणा से लिखना प्रारम्भ किया था, पर वह कर्म मीमांसा नामक ग्रन्थ शायद पूरा नही लिखा गया।

उस ग्रन्थ का एक अश 'कर्म सिद्धात सम्वन्धी साहित्य' के नाम से सं० २०२१ मे श्री मोहनलालजी जैन ज्ञान भण्डार सूरत से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ मे श्वेताम्वर और दिगम्वर परम्परा के ज्ञात और प्रकाशित कर्म-साहित्य का अच्छा विवरण १८० पृष्ठो मे दिया गया है। इनमें से ११६ पृष्ठ तो श्वेताम्वर साहित्य सम्वन्धी विवरण के हैं। उसके वाद के पृष्ठो मे दिगम्वर कर्म-साहित्य का विवरण है। विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए यह गुजराती ग्रन्थ पढना चाहिये। यहाँ तो उसी के आधार से मुनि श्री नित्यानन्द विजयजी ने 'कर्म साहित्य नु सक्षिप्त इतिहास' नामक लघु पुस्तिका तैयार की थी, उसी के मुख्य आधार से सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

(१) बंध शतक :

श्री शिवशर्म सूरि रचित इस ग्रन्थ पर ४ भाष्य नामक विवरण हैं, जिनमे वृहद भाष्य १४१३ श्लोक परिमित है। उसके अतिरिक्त चक्रेश्वर सूरि रचित ३ चूर्णी (?), हेमचन्द्र सूरिकृत विनयहितावृत्ति, उदय प्रभ कृत टिप्पण, मुनि चन्द्रसूरिकृत टिप्पण, गुणरत्न सूरिकृत अवचूरी प्राप्त हैं।

(२) कर्म प्रकृति (सग्रहणी) :

शिवशर्म सूरि रचित इस ग्रन्थ पर एक अज्ञात वार्तिक चूर्णी, मलय गिरि और उपाध्याय यशोविजय कृत टीकाएँ, चूर्णी पर मुनि चन्द्रसूरि कृत टिप्पण है। प० चन्दूलाल नानचन्द कृत मलयगिरि टीका सहित मूल का भाषान्तर छप गया है।

(३) सप्ततिका (सप्तति) :

अज्ञात रचित इस ग्रन्थ पर अन्तर भास, चूर्णियो, अभय देव कृत भाष्य, मेरु तु ग सूरि कृत भाष्य टीका, मलयगिरि कृत विवृति, रामदेव कृत टिप्पण, देवेन्द्र सूरिकृत सस्कृत टीका, गुणरत्न सूरि कृत अवचूर्णी, सोमसुन्दर सूरिकृत चूर्णी, मुनि शेखर (?) कृत ४१५० श्लोक परिमित वृत्ति, कुशल भुवन गणि तथा देवचन्द्र कृत वालाववोध, धन विजय गणि रचित टव्वा है। फूलचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी गाथार्थ — विशेषार्थ प्रकाशित है।

(४) कर्म प्रकृति प्राभृत :

इस ग्रन्थ की साक्षी मुनिचन्द्र ग्रन्थ कृत टिप्पण मे चार स्थानो पर मिलती है। पर यह कर्म ग्रन्थ प्राप्त नही है।

(५) संतकम्भ (सत्कर्मनृट) :

पंच सग्रह की टीका (मलयगिरि) मे दो स्थानों पर इसके अवतरण दिये हैं।

(६) पचसग्रह प्रकरण

इसे चन्द्रर्षि महत्तर ने पाच ग्रन्थो के सग्रह रूप ९९३ गाथा म रचा है। इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी मानी जाती है। दूसरी वृत्ति मलयगिरि की है। इसके उपरान्त दीपक नाम की वृत्ति २५०० श्लोक परिमित है।

मलयगिरि की टीका व मूल का गुजराती सानुवाद व सस्कृत छाया प० हीरालाल देवचन्द ने प्रकाशित की है।

(७) प्राचीन चार कर्म ग्रन्थ

(१) कम विपाक गग ऋषि कृत—मूल गाथा १६८। उसके ऊपर अज्ञात रचित भाष्य, परमानन्द सूरिकृत ९६० श्लोक परिमित सस्कृत वृत्ति, हरिभद्र सूरि रचित वृत्तिका, मलयगिरि कृत टीका, अज्ञात रचित व्याख्या व टीका, उदय प्रभ सूरि कृत टिप्पण प्राप्त हैं।

(२) कम स्तव—मूल गाथा ५७, गोविन्द गणिकृत, १०९० श्लोक परिमित टीका, हरि भद्र कृत टीका, अज्ञात रचित भाष्य द्वय, महेन्द्र सूरि कृत भाष्य, उदय प्रभ सूरि कृत २९२ श्लोका का टिप्पण, कमल सयम उपाध्याय कृत सस्कृत विवरण, अज्ञात रचित चूर्णी या अवचूर्णी।

(३) बध स्वामित्व—मूल गाथा ५४, अज्ञात कृतक टिप्पण और टीका, हरिभद्र सूरिकृत ५६० श्लोक परिमित्त टीका प्राचीन टिप्पणक पर आधारित है।

(४) षडशीति—जिनवल्लभ गणि कृत, भाष्य द्वय, हरिभद्र सूरि कृत ८५० श्लोक परिमित टीका। मलयगिरि कृत २१४० श्लोक परिमित वृत्ति, यशोभद्र सूरि कृत वृत्ति, मेरु वाचक कृत विवरण, अज्ञात रचित टीका और अवचूरी, १६०० श्लोक परिमित उद्धार।

प्राचीन ६ कम ग्रन्थ, मान जाते हैं, उनम पाँचवाँ बध शतक और छठा सप्ततिका माना जाता है।

(८) पाँच नव्य कर्मग्रन्थ—देवेन्द्र सूरि कृत

इन पर स्वोपज्ञ टीका, अन्य कइयो के विवरण बालावबोध आदि प्राप्त हैं। सबसे अधिक प्रचार इन्ही कर्मग्रन्थों का रहा। हिन्दी में चार ग्रन्था का अनुवाद प० सुखलालजी ने और पाँचवें का प० कैलाशचन्दजी ने किया है। गुजराती म भी इनके कई बालावबोध व विवेचन छप चुके हैं।

जिनवल्लभ सूरि कृत सूक्ष्मार्थ विचारसार अथवा सार्ध शतक भी काफी प्रसिद्ध रहा है। इस पर उनके शिष्य रामदेव गणि कृत टीका तथा अन्य कई टीकाए प्राप्त हैं। जिनका उल्लेख 'वल्लभ भारती' आदि मे किया गया है।

जयतिलक सूरि ने संस्कृत मे ४ कर्म ग्रन्थ ५६६ श्लोकों मे लिखे हैं और भी छोटे-मोटे प्रकरण बहुत से रचे गये हैं जिनमे से १८वी शताब्दी के श्रीमद् देवचन्दजी रचित कर्मग्रन्थ सम्बन्धी ग्रन्थों के सम्बन्ध मे मेरा लेख 'श्रमण' में प्रकाशित हो चुका है ।

दिगम्बर ग्रन्थो मे षटखण्डागम, कषाय पाहुड़, महाबंध, पंच संग्रह, गोम्मटसार, लब्धिसार और क्षपणासार, त्रिभंगीसार आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। पच सग्रह तीन कर्ताओ के रचित अलग-अलग प्राप्त हैं । इस सम्बन्ध में प० कैलाशचन्दजी ने 'जैन साहित्य के इतिहास' आदि में काफी विस्तार से प्रकाश डाला है ।

वर्तमान शताब्दी में श्वेताम्बर आचार्यो में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्व. विजय प्रेमसूरि कर्म सिद्धान्त के मर्मज्ञ माने जाते रहे हैं । उन्होंने सप्तम प्रकरण एवं मार्गणाद्वार आदि ग्रन्थो की रचना की । उनके प्रयत्न व प्रेरणा से उनके समुदाय मे कर्म शास्त्र के विशेषज्ञ रूप में उनकी पूरी शिष्य मण्डली तैयार हो गयी है । जिन्होंने प्राकृत, संस्कृत मे करीब दो लाख श्लोक परिमित खवगसेढ़ी, ठईबधो, रसबंधो, पयेशबधो, पयडीबंधो, आदि महान् ग्रन्थो की रचना की है। ये सभी ग्रन्थ और कुछ प्राचीन कर्म साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ श्री भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाड़ा, राजस्थान से प्रकाशित हैं । इसी के लिए स्वतन्त्र ज्ञानोदय प्रिंटिग प्रेस चालू करके बहुत से ग्रन्थों का प्रकाशन करवा दिया है। इस शताब्दी मे तो इतना बड़ा काम पूज्य विजय प्रेम सूरि के शिष्य मण्डल द्वारा सम्पादन हुआ है, यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। करीब १५ मुनि तो कई वर्षो से इसी काम मे लगे हुए हैं। प्राप्त समस्त श्वेताम्बर व दिगम्बर कर्म साहित्य का मनन्, पाठन, मन्थन करके उन्होंने नये कर्म साहित्य का सृजन लाखो श्लोक परिमित किया है और उसे प्रकाशित भी करवा दिया है ।

स्वतन्त्र रूप से हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी में भी छोटी-बड़ी अनेक पुस्तिकाएँ कई मुनियो एव विद्वानों की प्रकाशित हो चुकी है । कुछ शोध कार्य भी हुआ है पर अभी बहुत कुछ कार्य होना शेष है । इस मे तो बहुत ही सक्षेप मे विवरण दिया है । वास्तव में इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र वृहद् ग्रन्थ लिखे जाने की आवश्यकता है ।

सवैया

ज्ञान घटे नर मूढ़ की संगत, ध्यान घटे चित्त को भरमाया ।
सोच घटे कछु साधु की सगत, रोग घटे कछु औषध खाया ।।
रूप घटे पर नारी की सगत, बुद्धि घटे बहु भोजन खाया ।
'गग' भणे सुणो शाह अकबर, कर्म घटे प्रभु के गुण गाया ।।

२१

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में कर्म एव पुनर्जन्म की अवधारणा

☐ डॉ० देवदत्त शर्मा

जैन दर्शन म कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कम अनन्त परमाणुओ के स्कन्ध ह। वे समूचे लोक मे जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवत्तियो के द्वारा उसके साथ बध जाते हैं। यह उनकी बध्यमान अवस्था है। बधने के बाद उनका परिपाक होता है। यह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख दु ख एव कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल मिलता है। यह कर्मों की उदयमान (उदय) अवस्था है।

जन दर्शन की मान्यताओ के अनुसार जीव कम करने मे स्वतत्र है किन्तु कमफल भोगने मे परतत्र है। अर्थात् फल देन की सत्ता कम अपने पास सुरक्षित रखता है। इस प्रकार जीव जो भी शुभाशुभ कम करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है।

पुदगल द्रव्य की अनेक जातियाँ हैं जिन्हें जन दर्शन मे वगणाएँ कहत हैं। उनमे एक कामरण वर्गणा भी है और वही कम द्रव्य है। कम द्रव्य सम्पूण लोक मे सूक्ष्म रज के रूप मे व्याप्त है। वही कम द्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते है और कम कहलाने लगते हैं। य जीव के अध्यवसायो और मनोविकारो की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। परन्तु स्वभाव के आधार पर कम के आठ विभाग किये जा सकते हैं जो इस प्रकार है—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६ नाम, ७ गोत्र तथा ८ अन्तराय।

जो कम पुदगल हमारे ज्ञान तन्तुओ को सुप्त और चेतना को मूच्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरणीय कम कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण। जो कम आत्मा के दशन गुण का बाधक हो वह दर्शनावरण कहलाता है। यह नौ प्रकार का होता है। सुख दु खानुभूति वेदनीय कम के द्वारा होती है। सम्यक् दशन का प्रादुर्भाव न होने दना या उसम विकृति उत्पन्न करना मोहनीय कम का काम है। इसके अट्ठाईस भेद हैं। आयु कम जीव का मनुष्य, तियञ्च, देव और नारकी के शरीर म नियत अवधि तक कद रखता है। प्राणी

सृष्टि मे जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य परिलक्षित होता है, वह नाम कर्म के कारण है तथा जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल मे जन्म लेता है, वह गोत्रकर्म है। अभीष्ट की प्राप्ति मे व्यवधान डालने वाला अन्तराय कर्म है।

जैन दर्शन मे कर्मो की दस मुख्य अवस्थाएँ या कर्मों मे होने वाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई गई हैं जिन्हे 'करण' कहते है। ये दस अवस्थाएँ हैं—बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

कर्म पुद्गलो का जीव के साथ सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। कर्म की यह प्रथम अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था नही हो सकती। इसके चार भेद है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। स्थिति और अनुभाग के बढने को उत्कर्षण कहते है और स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म शीघ्र तो कोई विलम्ब से, कोई तीव्र तो कोई मन्द फल प्रदान करता है। यदि कोई जीव बुरे कर्मो का बन्ध हो जाने के उपरान्त भी अच्छे कर्म करता है तो पूर्व मे बधे बुरे कर्मो की फलदान शक्ति अच्छे कर्मों के प्रभाव से घट जाती है। यदि कोई जीव बुरे कर्मो का बन्ध करके और बुरे कर्म करता है तो पहले बांधे हुए बुरे कर्मो की शक्ति अधिक बढ जाती है। इसी प्रकार यदि पहले अच्छे कर्मों का बध करके बुरे कर्म करता है तो शुभ कर्मों का फल घट जाता है।

कर्मो का बन्धन हो जाने के तुरन्त बाद ही कोई कर्म अपना फल प्रदान नही करता। इसका कारण यह है कि बन्धने के बाद कर्म सत्ता मे रहता है। दूसरे शब्दो मे कर्मों के बन्ध होने और उनके फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा मे विद्यमान रहते है। जैन शास्त्रो मे इस अवस्था को 'सत्ता' कहा गया है। कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। यह दो तरह का होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय होता है और जब कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते है।

नियत समय से पहले कर्मों का विपाक हो जाना उदीरणा कहलाता है। जैसे अकाल मृत्यु आयुकर्म की उदीरणा है। एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाने को संक्रमण कहते है तथा कर्म को उदय मे आ सकने के अयोग्य कर देना उपशम है। कर्मो का सक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है तथा उसमे उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण और उदीरणा का न हो सकना निकाचना है।

जो कर्म आत्मा की जिस शक्ति को नष्ट करता है उसके क्षय से वही

शक्ति प्रकट होती है। यथा—ज्ञानावरण के हटने से अनन्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्रिया का कोई न-कोई फल अवश्य होता है। यदि किसी प्राणी को वर्तमान जीवन में किसी क्रिया का फल प्राप्त नहीं होता तो भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है। कर्म का कर्ता एवं भोक्ता निरन्तर अपने पूर्व कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्ध करता रहता है। कर्मों की इस परम्परा को वह सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के द्वारा तोड़ भी सकता है। जन्मजात व्यक्ति भेद, सुख दुःख तथा असमानता सब कर्मजन्य है। कर्म बन्ध का कारण प्राणी की रागद्वेष जन्य प्रवृत्ति है। अतः कर्मबन्ध एवं कर्मयोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध तथा पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करके कर्मबन्ध से मुक्त हुआ जा सकता है।

कर्म प्रवाह रूप से अनादि है। जब से जीव है तब से कर्म हैं। दोनों अनादि हैं। परिपाक काल के बाद वे जीव से अलग हो जाते हैं। आत्म संयम से नये कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पिछले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीरे धीरे निर्जीर्ण हो जाते हैं। नये कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब यह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। जब तक आत्मा कर्म मुक्त नहीं होती है तब तक उसकी जन्म मरण की परम्परा नहीं रुकती।

जैन दर्शन की इन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में यदि हम आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों पर दृष्टि निक्षेप करें तो हम पाते हैं कि इस कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से, जो भारतीय संस्कृति का एक अंग है, महाकाव्यकार भी अछूते नहीं रहे। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का निरूपण अनेक महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर हुआ। उदाहरण के लिए मैथिली शरण गुप्त 'जय भारत' में कहते हैं—

'कर्मों के अनुसार जीव जग में फल पाता।"

(पृ० २६४)

ताराचन्द हारीत अपने महाकाव्य 'दमयन्ती' में उक्त स्वर को ही भास्वरता प्रदान करते हुए कहते हैं—

"निज कर्मों के अनुसार जीव फल पाता।"

(पृ० २५६)

जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है। 'परम ज्योति महावीर' महाकाव्य में कर्मवाद के इसी तथ्य को निरूपित करता हुआ कवि कहता है—

"उसको वैसी गति मिलती है,
जो कर्म वान्धता जैसा है ।
होता है जैसा वीज वपन,
फल भी तो मिलता वैसा है ।" (पृ० ४६६)

जीव के शुभाशुभ कर्म ही जन्म जन्मान्तर तक उसके साथ रहते है। इस परि-सन्दर्भ मे डॉ० रत्नचन्द्र शर्मा अपने महाकाव्य **'निषाद राज'** मे कहते हैं—

"पाप पुण्य दोनो को कहते,
मुनिवर जन्म-जन्म का साथी ।" (पृ० २०)

इस संदर्भ मे **'शिवचरित'** महाकाव्यकार निरंजनसिंह योगमणि की स्पष्टोक्ति तो और भी ध्यातव्य है—

"जन्म-जन्म का कारण कर्म,
शुभाशुभ कर्मो का फल देत्र ।
होते ये निश्चय ही प्राप्त,
ब्रह्म शक्ति से देय सदैव ।।" (पृ० ६२)

पुण्य कर्मो का फल सुख प्रदायक होता है वहाँ पाप कर्मों का फल अशुभ एवं दुःख प्रदायक होता है। इस तथ्य को पडित अनूप शर्मा अपने महाकाव्य **'सिद्धार्थ'** मे निरूपित करते हुए कहते हैं—

"मनुष्य की जो गति है शुभाशुभ,
विपाक है सो सब पूर्व कर्म का ।" (पृ० २३५)

त्रिवेदी रामानन्द शास्त्री अपने महाकाव्य **'मृगदाव'** मे उक्त अभिमत की ही सपुष्टि करते हुए कहते हैं—

"पर अब पछताने से न है लाभ कोई,
सब निज कृतकर्मो को यहाँ भोगते हैं ।
(पृ० २०१)

महाकवि पोद्दार रामावतार **'अरुण'** का तो स्पष्ट अभिमत है कि वर्तमान जीवन पूर्व जन्म के कर्मो का ही प्रतिफलन है। वे अपने महाकाव्य **'महाभारती'** मे कहते है—

"मनुज का वर्तमान अस्तित्व,
पूर्व का प्रतिबिम्बित परिणाम ।"
(पृ० १११)

किसी भी कर्म का फल जीव को वर्तमान जीवन मे नहीं तो दूसरे जन्म मे अवश्य मिलता है। ये फल जीव को जन्म-जन्मान्तर तब तक मिलते रहते हैं जब तक कि वह अपनी आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त न करले। पूर्व-पूर्व जन्मो मे किये गये कर्मो के फलों को भोगने के लिए ही बराबर इस संसार मे जीव का आना होता है। जीव अपने कर्मो का फल भोगने के लिए निरन्तर जन्म लेता रहता

है। इसी मान्यता को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए नन्दकिशोर झा अपने महाकाव्य 'प्रिय मिलन' में कहते हैं—

"क्लेश-मूल कर्माशय, बन्धन में बंधा जीव।
जन्मता औ मरता, उसे कभी न विराम है॥"
(पृ० ३१०)

जब तक जीवात्मा कर्म बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाती उसे बार बार जन्म लेना पड़ता है—

"जब तक न कर्म हो जाते हैं,
सम्पूर्णतया निर्मूल यहां।
तब तक होता है पुनर्जन्म,
निज कर्मों के अनुकूल यहाँ।"
(परम ज्योति महावीर, पृ० ४६१)

रघुवीर शरण 'मित्र' पुनर्जन्म विषयक उक्त अवधारणा में ही आस्था प्रकट करते, हुए कहते हैं—

"जब तक कर्मों के बन्धन हैं,
मिलता रहता है जन्म नया।"
(वीरायन, पृ० १३८)

जीव को जीवन मरण से तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने कर्मों का क्षय नहीं कर लेता—

"जब-तक न कर्म क्षय होते हैं,
तब तक होता अवतरण-मरण।
कर्मों के क्षय होते ही तो,
कर लेती इसको मुक्ति वरण॥"
(परम ज्योति महावीर, पृ० ४७८)

दिनकर के 'उर्वशी' महाकाव्य की निम्नांकित पंक्ति भी कवि की पुनर्जन्म में आस्था की द्योतक है—

"कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था।"
(पृ० ३१)

कर्म एवं पुनर्जन्म की उक्त अवधारणा का भारतीय जन जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि प्रत्येक महाकाव्यकार ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश महाकाव्यों में उक्त अवधारणा का निरूपण हुआ है। उक्त विवेचित महाकाव्यों के अतिरिक्त 'नल नरेश' (पृ० २३२), 'विदेह' (पृ० ६६), 'आजनेय' (पृ० २०-२२) 'कल्पान्त' (पृ० ६२), 'जानकी जीवन' (पृ० १६६ ६७), विरहिणी' (पृ० २६), मीरा' (पृ० ३०) तथा 'तीर्थंकर महावीर' (पृ० १०५) प्रभृति महाकाव्यों में भी कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति आस्था की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है। □

मुक्तक

अपने उपार्जित कर्म फल को, जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवाय कोई किसी को, कुछ नहीं देता कभी ।
ऐसा समझना चाहिये, एकाग्रमन होकर सदा ।
दाता अपर है भोग का, इस बुद्धि को खोकर सदा ।

दोहा

चिट्ठी लायो चून की, माँगे घी नै दाल,
दास कबीरा यूँ कहे, थारी चिट्ठी सामी माल ।

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागुव्व मट्टियं ।।

—उत्तराध्ययन ५।१०

अर्थ—काया से, वचन से और मन से मदान्ध बना हुआ तथा धन और स्त्रियों मे आसक्त बना हुआ अज्ञानी दोनो प्रकार से (राग-द्वेषमयी बाह्य और आभ्यन्तर प्रवृत्तियो द्वारा) कर्म मल का सचय करता है । जैसे अलसिया मिट्टी खाता है और उसे शरीर पर भी लगाता है ।

जह मिडलेवलित्त गरुयं तुम्बं अहे वयइ,
एवं आसव कय कम्म जीवा वच्चति अहरगइं ।
तं चेव तव्विमुक्कं जलोवरि गइ जाय लहुभावं,
जह तह कम्म विमुक्का लोयगा पइठिया होंति ।।

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तुम्बा भारी होकर नीचे चला जाता है उसी प्रकार जीव कर्मो के लेप से लिप्त हो भारी बन कर अधोगति को प्राप्त होता है । वही तुम्बा मिट्टी के लेप से मुक्त होकर लघुता को प्राप्त होता हुआ जल के ऊपरी सतह पर आ जाता है । जीव भी इसी प्रकार कर्म मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हो जाता है ।

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्व कृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति ।।

अर्थ—जिस प्रकार गौ वत्स हजारो गायो मे भी अपनी माता को पहिचान लेता है, उसी प्रकार कर्ता के पूर्व कृत कर्म भी उसका ही अनुसरण करते है (अन्य का नही) अर्थात् कर्मो का कर्ता ही उसके फल का भोक्ता है ।

द्वितीय खण्ड

●

कर्म सिद्धान्त
और
सामाजिक चिन्तन

३२ वैयक्तिक एव सामूहिक कर्म

☐ प० सुखलाल सघवी

अच्छी-बुरी स्थिति, चढती उतरती कला और सुख दु ख की सार्वत्रिक विषमता का पूरा स्पष्टीकरण केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद मे मिल ही नही सकता था। इसलिये कैसा भी प्रगतिशीलवाद स्वीकार करने के बावजूद स्वाभाविक रीति से ही परम्परा से चला आने वाला वयक्तिक कर्मफल का सिद्धान्त अधिकाधिक दृढ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हर एक का नसीब जुदा है, 'जो बोता है वह काटता है', 'काटने वाला और फल चखने वाला एक हो और बोने वाला दूसरा हो यह बात असभव है'—ऐसे ऐसे ख्याल केवल वयक्तिक कर्मफल के सिद्धान्त पर ही रूढ हुए हैं। और सामान्यत उन्होने प्रजा जीवन के हर क्षेत्र में इतनी गहरी जडें जमा ली हैं कि अगर कोई यह कहे कि किसी व्यक्ति का कर्म केवल उसी मे फल या परिणाम उत्पन्न नही करता, परन्तु उसका असर उस कर्म करने वाले व्यक्ति के सिवाय सामूहिक जीवन मे भी ज्ञात अज्ञात रूप से फलता है, तो वह समझदार माने जाने वाले वर्ग को भी चौंका देता है। और हरएक सम्प्रदाय के विद्वान या विचारक इसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणो का ढेर लगा देते हैं। इसके कारण कर्म फल का नियम वयक्तिक होने के साथ ही सामूहिक भी है या नही, यदि न हो तो किस किस तरह की असगतियाँ और अनुपपत्तियाँ खडी होती हैं और यदि हो तो उस दृष्टि से ही समग्र मानव-जीवन का व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नहीं, इस विषय मे कोई गहरा विचार करने के लिये रुकता नही है। सामूहिक कर्म फल के नियम की दृष्टि से रहित, कर्म फल के नियम ने मानव-जीवन के इतिहास मे आज तक कौन-कौनसी कठिनाइया खडी की हैं और किस दृष्टि से कर्म फल का नियम स्वीकार करके तथा उसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे दूर की जा सकती हैं कोई एक भी प्राणी दु खी हो, तो मेरा सुखी होना असभव है। जब तक जगत दु ख मुक्त नही होता, तब तक अरसिक मोक्ष से क्या फायदा? इस विचार को महायान भावना बौद्ध परम्परा मे उदय हुई थी। इसी तरह हर एक सम्प्रदाय सर्व जगत् के क्षेम कल्याण की प्रार्थना करता है और सारे जगत के साथ मैत्री करने की ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महायान भावना या ब्रह्मवार्ता अत मे वयक्तिक कर्म फल वाद के दृढ सस्कार के साथ टकराकर जीवन जीने मे ज्यादा उपयोगी सिद्ध नही हुई है।

श्री केदार नाथजी और श्री मशरूवाला दोनो कर्म फल के नियम के बारे मे सामूहिक जीवन की दृष्टि से विचार करते है। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफलवाद के होने से मैं भी इसी तरह सोचता था। परन्तु जैसे-जैसे इस पर गहरा विचार करता गया, वैसे-वैसे मुझे लगने लगा कि कर्मफल का नियम सामूहिक जीवन की दृष्टि मे ही विचारा जाना चाहिए और सामूहिक जीवन की जिम्मेदारी के ख्याल से ही जीवन का हरएक व्यवहार व्यवस्थित किया तथा चलाया जाना चाहिये। जिस समय वैयक्तिक दृष्टि की प्रधानता हो, उस समय के चिन्तक उसी दृष्टि से अमुक नियमो की रचना करें, यह स्वाभाविक है। परन्तु उन नियमो मे अर्थ विस्तार की संभावना ही नही है, ऐसा मानना देश-काल की मर्यादा मे सर्वथा जकड जाने जैसा है। जब हम सामूहिक दृष्टि से कर्म फल का नियम विचारते या घटाते हैं, तब भी वैयक्तिक दृष्टि का लोप तो होता ही नही, उलटे सामूहिक जीवन मे वैयक्तिक जीवन के पूर्ण रूप से समा जाने के कारण वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक फैलती है और अधिक शुद्ध बनती है।

कर्मफल के नियम की सच्ची आत्मा तो यही है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता और कोई भी परिणाम कारण के बिना उत्पन्न नही होता। जैसा परिणाम वैसा ही उसका कारण भी होना चाहिये। यदि अच्छे परिणाम की इच्छा करने वाला अच्छे कर्म नही करता, तो वह वैसा परिणाम नहीं पा सकता। कर्म फल नियम की यह आत्मा सामूहिक दृष्टि से कर्मफल का विचार करने पर बिल्कुल लोप नही होती। केवल वैयक्तिक सीमा के बन्धन से मुक्त होकर वह जीवन-व्यवहार गढने मे सहायक बनती है। आत्म समानता के सिद्धान्त के अनुसार विचार करे या आत्माद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार विचार करे, एक बात तो सुनिश्चित है कि कोई व्यक्ति समूह से बिल्कुल अलग न तो है और न उससे अलग रह सकता है। एक व्यक्ति के जीवन इतिहास के लंबे पट पर नजर दौडा कर विचार करें तो हमे तुरन्त दिखाई देगा कि उसके ऊपर पडे हुए और पड़ने वाले सस्कारो मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे असख्य व्यक्तियो के सस्कारो का हाथ है। और वह व्यक्ति जिन संस्कारो का निर्माण करता है, वे भी केवल उसमे ही मर्यादित न रहकर समूहगत अन्य व्यक्तियो मे प्रत्यक्ष या परम्परा से सचरित होते रहते हैं। वस्तुतः समूह या समष्टि का अर्थ है व्यक्ति या व्यष्टि का सम्पूर्ण जोड।

यदि हर एक व्यक्ति अपने कर्म और फल के लिये पूरी तरह से जिम्मेदार हो और अन्य व्यक्तियों से बिल्कुल स्वतन्त्र उसके श्रेय-अश्रेय का विचार केवल उसी के साथ जुड़ा हो, तो सामूहिक जीवन का क्या अर्थ है ? क्योंकि बिल्कुल अलग, स्वतन्त्र और एक-दूसरे के असर से मुक्त व्यक्तियो का सामूहिक जीवन मे प्रवेश केवल आकस्मिक ही हो सकता है। यदि ऐसा अनुभव होता हो कि सामूहिक

जीवन से वयक्तिक जीवन बिल्कुल स्वत त्र रूप मे जिया नही जाता, तो तत्वज्ञान भी इसी अनुभव के आधार पर कहता है कि व्यक्ति व्यक्ति के बीच चाहे जितना भेद दिखाई दे फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ऐसे जीवन सूत्र स ओत प्रोत है कि उसके द्वारा वे सब व्यक्ति आस पास एक दूसरे मे जुडे हुए हैं। यदि ऐसा है तो कम फल का नियम भी किसी दृष्टि मे विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेय का विचार भी हरएक सम्प्रदाय ने वैयक्तिक दृष्टि से हा किया है। व्यावहारिक लाभालाभ का विचार भी इस दृष्टि के अनुसार ही हुआ है। इसके कारण जिस सामूहिक जीवन का जिये बिना काम चल नही सकता उसे लक्ष्य म रखकर श्रेय या प्रेय का मूलगत विचार या आचार हो ही नही पाया। कदम-कदम पर सामूहिक कल्याण को लक्ष्य में रख कर बनाई हुई योजनाए इसी कारण से या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशा मे बदल जाती हैं। विश्व शान्ति का सिद्धा त निश्चित तो होता है परन्तु बाद मे उसकी हिमायत करने वाला हर एक राष्ट्र वयक्तिक दृष्टि से ही उस पर विचार करता है। इससे न तो विश्व शान्ति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हरएक समाज पर भी लागू होता है। अब यदि सामहिक जीवन की विशाल और अखण्ड दृष्टि का विकास किया जाये और उस दृष्टि के अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी की मर्यादा बढावे तो उसके हिताहित दूसरे के हिताहितो क साथ टकराने न पावें और जहा वयक्तिक नुकसान दिखाई देता हो वहा भी सामूहिक जीवन के लाभ की दृष्टि उसे सतुष्ट रखे, उसका कत्त व्य क्षत्र विस्तृत बने और उसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपने म एक भूमा का देखे।

दु ख से मुक्त होने क विचार मे से ही उसका कारण माने गये कम स मुक्त होने का विचार पदा हुआ। ऐसा माना गया कि कम, प्रवत्ति या जीवन व्यवहार की जिम्मेदारी स्वय ही बन्धन रूप है। जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक पूण मुक्ति सवथा असभव है। इसी धारणा मे स पदा हुए कममात्र की निवत्ति के विचार स श्रमण परम्परा का अनगार माग और सन्यास परम्परा का वर्ण-कम धम-सन्यास माग अस्तित्व म आया। परन्तु इस विचार मे जो दोष था, वह धीरे धीरे ही सामूहिक जीवन की निबलता और लापरवाही के रास्त से प्रकट हुआ। जो अनगार होत हैं या वर्ण कम धम छोडते हैं, उन्ह भी जीना होता है। इसका फल यह हुआ कि ऐसा का जीवन अधिक मात्रा म परावलम्बी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवन की कडियाँ टूटने और अस्त-व्यस्त हान लगा। इस अनुभव ने यह सुझाया कि केवल कम बधन नही है। परन्तु उसक पीछे रही हुई तृष्णावृत्ति या दृष्टि की सकुचितता और चित्त की अशुद्धि ही बधन रूप है। केवल वही दु ख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवाद के द्वारा प्रतिपादित हुआ है।

हर एक सम्प्रदाय में सव भूतहित पर भार दिया गया है । परन्तु व्यवहार मे मानव समाज के हित का भी शायद ही पूरी तरह से अमल देखने मे आता है । इसलिए प्रश्न यह है कि पहले मुख्य लक्ष्य किस दिशा मे और किस ध्येय की तरफ दिया जाय ? स्पष्ट है कि पहले मानवता के विकास की ओर लक्ष्य दिया जाय और उसके मुताबिक जीवन बिताया जाय । मानवता के विकास का अर्थ है—आज तक उसने जो-जो सद्‌गुण जितनी मात्रा मे साधे हैं, उनकी पूर्ण रूप से रक्षा करना और उनकी मदद से उन्ही सदगुणो में ज्यादा शुद्धि करके नवीन सद्‌गुणो का विकास करना जिससे मानव मानव के बीच द्वन्द्व और शत्रुता के तामस बल प्रकट न होने पावें । इस तरह जितनी मात्रा में मानव-विकास का ध्येय सिद्ध होता जायेगा उतनी मात्रा में समाज-जीवन सुसवादी और सुरीला बनता जावगा । उनका प्रासगिक फल सवभूतहित में ही आने वाला है । इसलिये हर एक साधक के प्रयत्न की मुख्य दिशा तो मानवता के सदगुणो के विकास की ही रहनी चाहिये । यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवन की दृष्टि से कर्म फल का नियम लागू करने के विचार मे से ही फलित होता है ।

ऊपर की विचार सरणी गृहस्थाश्रम को केन्द्र में रखकर ही सामुदायिक जीवन के साथ वयक्तिक जीवन का सुमेल साधने की बात कहती है । यह ऐसी सूचना है जिसका अमल करने से गृहस्थाश्रम में ही बाकी के सब आश्रमो के सदगुण साधने का मौका मिल सकता है । क्योकि उसमें गृहस्थाश्रम का आदर्श इस तरह बदल जाता है कि वह केवल भोग का धाम न रहकर भोग और योग के सुमेल का धाम बन जाता है इसलिये गृहस्थाश्रम से अलग अन्य आश्रमों का विचार करने की गुजाइश ही नही रहता । गृहस्थाश्रम ही सारा आश्रमा के समग्र जीवन का प्रतीक बन जाता है और वही नसर्गिक भी है ।

□ □ □

रे जीवा साहस आदरो, मत थाओ तुम दीन ।
सुख-दुख आपद-सपदा, पूरव कम अधीन ।।
कम हीण को ना मिले, भली वस्तु का योग ।
जब दाखें पकने लगीं, काग कठ भयो रोग ।।

---

३३ कर्म और कार्य-मर्यादा

□ पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री

कर्म की कार्य-मर्यादा :

कर्म का मोटा काम जीव को संसार मे रोके रखना है। परावर्तन संसार का दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से वह पांच प्रकार का है। कर्म के कारण ही जीव इन पाँच प्रकार के परावर्तनो में घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमे रहते हुए जीव की जो विविध अवस्थाएँ होती है उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र 'आप्त मीमासा' मे कर्म के कार्य का निर्देश करते हुए लिखते है—

"कामादिप्रभवश्चित्र: कर्मवन्धानुरूपत.।"

"जीव की काम, क्रोध आदि रूप विविध अवस्थाएँ अपने-अपने कर्म के अनुरूप होती हैं।"

वात यह है कि मुक्त दशा मे जीव की प्रति समय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग-अलग निमित्त कारण नही है, नही तो उसमे एकरूपता नही वन सकती। किन्तु ससार दशा मे वह परिणति प्रति समय जुदी-जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे-जुदे निमित्त कारण माने गये है। ये निमित्त सस्कार रूप मे आत्मा से सम्वद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणति के पैदा करने मे सहायता प्रदान करते है। जीव की अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तो के सद्भाव और असद्भाव पर आधारित है। जव तक इन निमित्तो का एक क्षेत्रावगाह सश्लेशरूप सम्वन्ध रहता है तव तक अशुद्धता वनी रहती है। जैन दर्शन मे इन्ही निमित्तो को कर्म शव्द से पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्मा की परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्री के मिलने पर राग होता है। जुगुप्सा की सामग्री मिलने पर ग्लानि होती है। धन सम्पत्ति को देख कर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेने की भावना होती है। ठोकर लगने पर दु.ख होता है और माया का सयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्मा

की विविध परिस्थिति के होने मे निमित्त नही हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अत कम का स्थान बाह्य सामग्री को मिलना चाहिये ।

परन्तु विचार करने पर यह युक्त प्रतीत नही होता, क्योकि अ तरग मे वसी योग्यता के अभाव मे बाह्य सामग्री कुछ भी नही कर सकती है । जिस प्राणी का राग भाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पदा नही होता । इससे मालूम पडता है कि अन्तरग मे योग्यता के विना बाह्य सामग्री का कोई मूल्य नही है । यद्यपि कम के विषय मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कम और बाह्य सामग्री इनमे मौलिक अन्तर है । कम जैसी योग्यता का सूचक है पर बाह्य सामग्री का वसी योग्यता से कोई सम्बन्ध नही । कभी वसी योग्यता के सदभाव मे भी बाह्य सामग्री नही मिलती और कभी उसके अभाव मे भी बाह्य सामग्री का सयोग देखा जाता है । किन्तु कम के विषय मे ऐसी बात नही है । उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा से रहता है जब तक उसमे तदनुकूल योग्यता पाई जाती है । अत कम का स्थान बाह्य सामग्री नही ले सकती । फिर भी अ तरग मे योग्यता के रहते हुए बाह्य सामग्री के मिलने पर न्यूनाधिक प्रमाण मे काय तो होता ही है इसलिए निमित्तो की परिगणना मे बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है । पर यह परम्परा निमित्त है । इसलिये इसकी परिगणना तो कम के स्थान म की गई है ।

इतने विवेचन से कम की काय मर्यादा का पता लग जाता है । कम के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्था होती है और जीव मे ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है ।

कम की काय मर्यादा यद्यपि उक्त प्रकार की है तथापि अधिकतर विद्वानो का विचार है कि बाह्य सामग्री की प्राप्ति भी कम से होती है । इन विचारो की पुष्टि मे वे 'मोक्ष माग प्रकाश' के निम्न उल्लेखो को उपस्थित करते हैं—"तहा वेदनीय करि तो शरीर विष वा शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख दु खानि को कारण पर द्रव्य का सयोग जुर है ।" पृ० ३५

उसी से दूसरा प्रमाण वे यो देते हैं—

"बहुरि कमनि विषै वेदनीय के उदय करि शरीर विष बाह्य सुख दु ख का कारण निपज है । शरीर विषै आरोग्यपनो, रोगीपनो, शक्तिवानपनो, दुबलपनो अर क्षुधा तृषा, रोग, खेद, पीडा इत्यादि सुख दु खानि के कारण हो हैं । बहुरि बाह्य विष सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक सुख दु ख के कारक हो ह ।" पृ० ५६ ।

इन विचारो की परम्परा यही तक नही जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती वहुत से लेखको ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये है। पुराणो में पुण्य और पाप की महिमा इसी आधार से गाई गई है। अमितगति के 'सुभापित रत्न सन्दोह' मे दैवनिरूपण नाम का एक अधिकार है। उसमें भी ऐसा ही वतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्र मे प्रवेश करने पर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उन्हे प्राप्त कर लेता है। यथा—

'जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।'

किन्तु विचार करने पर उक्त कथन युक्त प्रतीत नही होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्म के दो भेद हैं—जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी। जो जीव की विविध अवस्था और परिणामो के होने मे निमित्त होते हैं वे जीव विपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छवास की प्राप्ति होती है वे पुद्गल विपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मो मे ऐसा एक भी कर्म नही वतलाया है जिसका काम वाह्य सामग्री का प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वय जीवविपाकी हैं 'राजवार्तिक' मे इनके कार्य का निर्देश करते हुए लिखा है—

"यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुख प्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम। यत्फल दु:खमनेकविध तदसद्वेद्यम्।" पृष्ठ ३०४।

इन वार्तिको की व्याख्या करते हुए वहा लिखा है—

"अनेक प्रकार की देवादि गतियो मे जिस कर्म के उदय से जीवों के प्राप्त हुए द्रव्य के सम्वन्ध की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार का सुख रूप परिणाम होता है वह सातावेदनीय है तथा नाना प्रकार की नरकादि गतियो मे जिस कर्म के फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, व्याधि, वध और बन्धनादि से उत्पन्न हुआ विविध प्रकार का मानसिक और कायिक दु ख होता है वह असाता वेदनीय है।"

'सर्वार्थसिद्धि' मे जो साता वेदनीय और असाता वेदनीय के स्वरूप का निर्देश किया है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

श्वेताम्वर कार्मिक ग्रथो में भी इन कर्मो का यही अर्थ किया है। ऐसी हालत मे इन कर्मो को अनुकूल व प्रतिकूल वाह्य सामग्री के सयोग-वियोग मे निमित्त मानना उचित नही है। वास्तव मे वाह्य सामग्री की प्राप्ति अपने-अपने कारणो से होती है। इसकी प्राप्ति का कारण कोई कर्म नही है।

ऊपर 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' के जिस मत की चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं जिनमे बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणो का निर्देश किया गया है। इनमे से पहला मत तो पूर्वोक्त मत से ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनो के आधार से चर्चा कर लेना ईष्ट है —

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोग द्वार मे प्रकृतियो का नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीका मे वीरसेन स्वामी ने इन कर्मों की विस्तृत चर्चा की है। यहाँ सर्वप्रथम उन्होने साता और असाता वेदनीय का वही स्वरूप दिया है जो 'सर्वार्थ सिद्धि' आदि मे बतलाया गया है। किन्तु शका समाधान के प्रसग से उन्होने साता वेदनीय को जीव विपाकी और पुदगल विपाकी उभय रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकरण के बाचने से ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी का यह मत था कि साता वेदनीय और असाता वेदनीय का काम सुख-दुःख को उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्री को जुटाना दोनो है।

(२) तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की सर्वार्थ सिद्धि' टीका मे बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणो का निर्देश करते हुए लाभादि को उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धो मे अति प्रसग देने पर लाभादि के साथ शरीर नाम कर्म आदि की अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत है जिनमे बाह्य सामग्री की प्राप्ति का क्या कारण है, इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान भी इनके आधार से दोनो प्रकार के उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीय को बाह्य सामग्री की प्राप्ति का निमित्त बतलाते हैं और कोई लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम को। इन विद्वानो के ये मत उक्त प्रमाणो के बल से भले ही बने हो किन्तु इतने मात्र से इनकी पुष्टि नही की जा सकती क्योकि उक्त कथन मूल कर्म व्यवस्था के प्रतिकूल पडता है।

यदि थोडा बहुत इन बातो को प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचार से ही दिया जा सकता है। वीरसेन स्वामी ने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरक मे सुख दुःख की निमित्तभूत सामग्री के साथ वहा उत्पन्न होने वाले जीवो के साता और असाता के उदय का सम्बन्ध देखकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाता का फल है। तथा पूज्यपाद स्वामी ने ससारी जीव मे बाह्य सामग्री मे लाभादि रूप परिणाम लाभान्तराय आदि के क्षयोपशम का फल जानकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है, कि लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है। तत्त्वत बाह्य सामग्री की प्राप्ति न तो साता असाता का ही फल है और न

लाभान्तराय आदि कर्म के क्षय व क्षयोपशम का ही फल है। वाह्य सामग्री इन कारणो से न प्राप्त होकर अपने-अपने कारणो से ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापार के साधन जुटाना, राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार की साहूकारी करना, उनसे दोस्ती जोडना, अर्जित धन की रक्षा करना, उसे ब्याज पर लगाना, प्राप्त धन को विविध व्यवसायो में लगाना, खेतीवाडी करना, झासा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादय को सचित कर पचा जाना आदि वाह्य सामग्री की प्राप्ति के साधन है। इन व अन्य कारणो से वाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है, उक्त कारणो से नही।

शंका—इन सव वातो के या इनमे से किसी एक के करने पर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्न की कमी या वाह्य परिस्थिति या दोनो।

शंका—कदाचित् व्यवसाय आदि के नही करने पर भी धन प्राप्ति देखी जाती है तो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है? क्या किसी के देने से हुई या कही पडा हुआ धन मिलने से हुई है? यदि किसी के देने से हुई है तो इसमे जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण है या देने वाले की स्वार्थ-सिद्धि, प्रेम आदि कारण है। यदि कही पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है तो ऐसी धन प्राप्ति, पुण्योदय का फल कैसे कहा जा सकता है? यह तो चोरी है। अत चोरी के भाव इस धन प्राप्ति मे कारण हुए न कि साता का उदय।

शंका—दो आदमी एक साथ एक सा व्यवसाय करते है फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है दूसरे को हानि?

समाधान—व्यापार करने मे अपनी-अपनी योग्यता और उस समय की परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप-पुण्य नही। संयुक्त व्यापार मे एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि-लाभ, पाप-पुण्य का फल माना भी जाये। पर ऐसा होता नही, अत. हानि-लाभ को पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत मे उचित नही है।

शंका—यदि वाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नही है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यो होता है?

समाधान—एक का गरीब और दूसरे का श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है, पुण्य-पाप का नही। जिन देशो मे पू जीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत

सम्पत्ति के जोडने की कोई मर्यादा नही, वहाँ अपनी अपनी योग्यता व साधना के अनुसार गरीब अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप पुण्य का फल मानना किसी भी हालत म उचित नही है। रूस न बहुत कुछ अशों म इस व्यवस्था को तोड दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकार का भेद नही दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो हैं ही। सचमुच मे पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओ के परे हैं और वह है आध्यात्मिक। जन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य पाप का निर्देश करता है।

शका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य पाप का फल नही है तो सिद्ध जीवो को इसकी प्राप्ति क्या नही होती ?

समाधान—बाह्य सामग्री का सदभाव जहाँ है वही उसकी प्राप्ति सभव है। यो तो इसकी प्राप्ति जड चेतन दोनो को होती है। क्योकि तिजोरी मे भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धन की प्राप्ति कहा जा सकता है। किन्तु जड के रागादि भाव नही होता और चेतन के हाता है, इसलिये वही उसमे ममकार और अहकार भाव करता है।

शका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नही है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप पुण्य का फल मानना ही पडता है।

समाधान—सरागता और नीरोगता यह पाप-पुण्य के उदय का निमित्त भले ही हो जाय पर स्वय वह पाप पुण्य का फल नही है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने अपने कारणा से प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपन-अपने कारणा से प्राप्त होती है। इसे पाप पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नही है।

शका—सरागता और नीरोगता के क्या कारण हैं ?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व सगति करना आदि सरोगता के कारण हैं आर स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व सगति करना आदि नीरोगता के कारण हैं।

इस प्रकार कर्म की कार्य मर्यादा का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्ति के सयोग वियोग का कारण नही है। उसकी मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं। हाँ, जीव के विविध भाव कर्म के निमित्त से होते हैं और वे कहीं कहीं बाह्य सम्पत्ति के अर्जन आदि में कारण पडते हैं, इतनी बात अवश्य है। □

कर्म-परिणाम की परम्परा

□ श्री केदारनाथ

कर्म के फल या परिणाम के लिये कर्ता के अगले जन्म तक प्रतीक्षा करने का सचमुच कोई कारण नही, क्योंकि कर्म के सकल्प के साथ ही कर्ता के चित्त पर सुख-दुःख के परिणाम शुरु हो जाते हैं। तभी से उसकी तरगें भी विश्व मे फैलने लगती हैं। कर्म हो जाने के बाद उसके भले-बुरे परिणाम भी कर्ता को और जहाँ-जहाँ वे पहुँचते हैं वहाँ के सब लोगों को प्रत्यक्ष भोगने पडते हैं। उन परिणामो से पैदा होने वाले कई तरह के परिणामो की परम्परा दुनिया में जारी रहती है। विश्व का व्यापार किसी तरह अखंड रूप में चलता रहता है। कर्म के सकल्प और भाव विश्व की उसी प्रकार की तरंगों और आन्दोलनो मे तुरन्त मिलकर उन तत्वो मे वृद्धि करते हैं। प्रत्येक मनुष्य या दूसरा कोई प्राणी अपने-अपने सकल्प के अनुसार या चित्त के धर्म के अनुसार उन आन्दोलनो के तत्वों को आत्मसात् करके उन्हे उसी प्रकार के सकल्प या कर्म द्वारा पुनः प्रकट करता है। उसमे से भी नई तरंगें उठती हैं और फिर विश्व में फैलने लगती हैं। स्थूल कर्म और उनकी भौतिक तरगे विश्व के व्यक्त-अव्यक्त को मदद देते हैं। जिस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया के न्याय से कर्म, संकल्प और भाव का चक्र व्यक्त-अव्यक्त के आधार पर विश्व मे सतत जारी ही रहता हैं। व्यक्ति के मरने से यह चक्र बन्द नही हो जाता। वह विरासत के आधार पर आगे जारी रहता है। विरासत का अर्थ यहाँ केवल वंश-परम्परा या रक्त का सम्बन्ध न मानकर कर्म और सकल्प की सजातीयता समझना चाहिये। मनुष्य की मृत्यु के बाद उसके चित्त मे जो संकल्प तीव्र रूप मे बसे होगे, जो इच्छाएँ, भावनायें और हेतु उत्कृष्ट रूप मे रहे होगे, उनकी तरंगो और आन्दोलनो का मृत्यु के बाद विश्व मे अधिक तीव्रता से फैलना या जारी रहना सभव है। शरीर का कण-कण जैसे पच महाभूतो मे मिल जाता है, उसी तरह सारे जीवन में उसने जो सत्व या तत्त्व प्राप्त किया होगा, वह विश्व मे रहने वाले सजातीय सत्व या तत्त्व में मिल जाता है।

हमारे भले-बुरे कर्मो का फल इस जन्म मे नहीं तो दूसरे जन्म मे भी सुख-दुःख रूप मे हमी को भुगतना पड़ता है, लोगो की ऐसी श्रद्धा है। इस कारण समाज मे कुछ समय तक नीति के संस्कार टिके और बढे भी। श्रद्धा के मूल मे लोगो की यह समझ थी कि ईश्वर के घर या कुदरत में न्याय है। कुछ समय तक समाज पर इसका अच्छा असर भी हुआ। परन्तु बाद मे यह हालत नही रही। अब इस मान्यता मे सशोधन का समय आ गया है। अब प्रश्न खडा हुआ

है कि हमारे कर्मों का फल खुद हमी को भोगना पडता है या नही ? कई लोगो का यह खयाल भी होने लगा है कि पुनजन्म, कमवाद वगैरह तमाम मान्यतायें गलत है, इसका बहुजन-समाज पर जल्दी ही बुरा असर होना सभव है। ऐसे समय ईश्वर, भक्ति, पुनजन्म मोक्ष आदि पर से लोगो की श्रद्धा मिट इसके पहले ही विचारवान और जनहित चिन्तक व्यक्तियों को चाहिये कि वे समाज के सामने सही विचार रखकर उनमें नीति और सदाचार की भावनाएँ जाग्रत करें और उन्हे दृढ करें, अन्यथा पूव श्रद्धा से छूट हुए लोगो के नास्तिकता मे फस जाने और स्वेच्छाचारी होने का बडा भय है। इस अवस्था मे यदि कुछ लोग यह महसूस करें कि ऐसा होने के बजाय धम की गलत और भ्रामक मान्यतायें होना भी अच्छा है तो आश्चय नही।

हमारे कम का फल खुद हमे तो भोगना ही पडता है, साथ ही साथ दूसरो को भी भोगना पडता है। इस नियम पर अब हमे विश्वास रखना चाहिये। मानव जगत का न्याय सामूहिक पद्धति पर चलता है। इसलिये हमारे कर्मों का फल हमे न मिलकर समूह को भी मिलेगा। अपने कर्मों का फल हमे इस जन्म मे या दूसरे जन्म म भोगना पडता है इस मान्यता मे अपनेपन की कल्पना इस जन्म और दूसरे जन्म के अपने तक ही अर्थात अपने जीव तक ही सीमित रहती है। इसमे सकुचितता आर अवलोकन शक्ति की अपूणता मालूम होती है। इसलिये यह सकुचित कल्पना छोडकर हमे अपनेपन की विशाल कल्पना धारण करनी चाहिये। हमारा आत्मभाव जसे जसे व्यापक होता जायेगा, वैसे-वसे यह न्याय हम उचित दिखाई देने लगेगा। मानव जीवन, मानव सम्बन्ध, मानव-सकल्प और विश्व के व्यक्त अव्यक्त व्यापार सबकी दृष्टि से यह मान्यता और यह न्याय अधिक उदात्त, सत्य और श्रद्धेय है। इस न्याय निष्ठा से रहेंगे, तो हममे आपसी प्रेम, विश्वास और एकता बढेगी, समभाव पदा होगा और कुल मिलाकर हम सब मानवता की दिशा मे प्रगति करेंगे। इसके लिये हमे अपने कर्मों और सकल्पो का विचार करके उनमे रहने वाली अशुद्धता दूर करनी चाहिय, हमे शुभ कम करने चाहिये और शुभ सकल्प धारण करने चाहिये। सबकी शुद्धि और उन्नति के लिये हमें सत्कमरत और सद्गुणी बनना चाहिये। प्रेमी और कल्याण इच्छुक माता पिता अपनी सन्तान पर अच्छे सस्कार डालने और उसकी उन्नति के लिये खुद सयमी, सद्गुणी और सदाचारी रहते है। इसी प्रकार सारी मानव जाति पर हमारा प्रेम हो, सबके प्रति हमारे मन में सहानुभूति हो, तो समस्त मानव-जाति के लिये धम माग से कष्ट सहन करने में हमें धन्यता का अनुभव होगा। केवल अपन विषय की सकुचित भावना से कष्ट सहन करने के बजाय मानवता और एकता की विशाल भावना से कष्ट सहन करने में जीवन की सच्ची साथकता है।

३५ कर्मक्षय और प्रवृत्ति

□ श्री किशोरलाल मश्रुवाला

एक सज्जन मित्र लिखते है—"कुछ लोग कहते हैं कि कर्म का सम्पूर्ण क्षय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती, और कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्म क्षय की सम्भावना नही है। इसलिये निवृत्ति मार्ग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्ष का मार्ग है। क्योकि जो भी कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जब तक कर्म मे प्रवृत्त रहेगा तब तक वह चाहे अनासक्ति से कर्म करता हो तो भी कर्मफल के भार से मुक्त नही हो सकता। इससे कर्म बन्धन का आवरण हटने के बदले उलटा घना होगा। इसके फलस्वरूप उसकी साधना खडित होगी। लोक-कल्याण की दृष्टि से भले ही अनासक्ति वाला कर्मयोग इष्ट हो, परन्तु उससे आत्मज्ञान की साधना सफल नही होगी। इस विषय मे मैं आपके विचार जानना चाहता हूँ।"

मेरी नम्र राय मे कर्म क्या, कर्म का बन्धन और क्षय क्या, प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या, आत्मज्ञान और मोक्ष क्या इत्यादि की हमारी कल्पनाएं बहुत ही अस्पष्ट है। अतएव इस सम्बन्ध मे हम उलझन मे पड़ जाते हैं और साधनो मे गोते लगाते रहते है।

इस सम्बन्ध मे पहले हमे यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मन की क्रियामात्र कर्म है। कर्म का यदि हम यह अर्थ लेते हैं तो जब तक देह है तब तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिलकुल छोड नही सकता। कथाओ मे आता है उस तरह कोई मुनि चाहे तो वर्ष भर तक निर्विकल्प समाधि मे निश्चेष्ट होकर पडा रहे, परन्तु जिस क्षण वह उठता उस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य करेगा। इसके अलावा यदि हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देह से परे जन्म-जन्मान्तर पाने वाला जीव रूप है, तब तो देह के बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय न हो सके तो उसका यह अर्थ हुआ कि कर्मक्षय होने की कभी भी सम्भावना नही है।

इसलिये निवृत्ति अथवा निष्कर्मता का अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझने मे भूल होती है। निष्कर्मता सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक भावना-विषयक और इससे भी परे बोधात्मक (संवेदनात्मक) है। क, ख, ग, घ नाम के चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नाम के चार भूखे आदमियो

को एक सा अन्न देते हैं। चारा बाह्य कम करते हैं और चारो को सामान स्थूल तृप्ति होती है। परन्तु सम्भव है कि 'क' लोभ से देता हो, 'ख' तिरस्कार से देता हो, 'ग' पुण्येच्छा से देता हो और 'घ' आत्मभाव से स्वभावत देता हो। उसी तरह 'प' दुःख मानकर लेता हो, 'फ' मेहरबानी मानकर लेता हो, 'ब' उपकारक भावना से लेता हो, 'भ' मित्र भाव से लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधा-तृप्ति रूपी बाह्य फल सबका समान होने पर भी इन भेदों के कारण कम के बन्धन और क्षय की दृष्टि से बहुत फर्क पड जाता है। उसी तरह क, ख, ग, घ, से प, फ, ब, भ अन्न मागें और चारो व्यक्ति उन्हे भोजन नही करावें, तो इसमे कम से समान परावत्ति है और चारो की स्थूल भूख पर इसका समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न करावें या जल न पाने के पीछे रही बुद्धि, भावना, नीति, सवेदना इत्यादि भेद से इस कम परावत्ति से कम के बधन और क्षय एक से नही होते।

तो यहाँ प्रवत्ति और निवत्ति के साथ पुनरावत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जसे हैं। परावृत्ति का अर्थ निवत्ति नही है। परन्तु बहुत से लोग परावत्ति को ही निवत्ति मान बठते हैं और वत्ति अथवा वतन का अथ प्रवत्ति नही है। परन्तु बहुत से लोग वत्ति को ही प्रवत्ति समझते हैं। वत्ति का अथ है केवल बरतना। प्रवत्ति का अथ है विशेष प्रकार के आध्यात्मिक भावो से बरतना। परावत्ति का अथ है वतन का अभाव, निवृत्ति का अथ है वत्ति तथा परावत्ति सम्बन्धी प्रवत्ति से भिन्न प्रकार की एक विशिष्ट आध्यात्मिक सवेदना।

अब कम बन्धन और कमक्षय के विषय मे बहुतो का ऐसा खयाल मालूम होता है, मानो कम नाम की हर एक के पास एक तरह की पूजी है। पाँच हजार रुपये ट्रक मे रखे हुए हो और उनमे किसी तरह की वद्धि न हो परन्तु उनका खच होता रहे, तो दो चार वष मे या पच्चीस वष मे तो वे सब अवश्य खच हो जायेंगे। परन्तु यदि मनुष्य उन्हे किसी कारोबार मे लगाता है तो उनमे कमोवेशी होगी और सम्भव है कि पाच हजार के लाख भी हो जायें या लाख न होकर उल्टा कज हो जाय। यह घाटा भी चिता और दुःख उत्पन्न करता है। सामान्य रूप से मनुष्य ऐसी चिता और दुःख की सम्भावना से घबराते नही और लाभ होने की सम्भावना से अप्रसन्न नही होते। वे न तो रुपयों का क्षय करना चाहते हैं और न रुपयो के बन्धन मे पडने से दुःखी होते हैं। निवृत्ति मार्गी साधु भी मदिरो मे और पुस्तकालयो मे बढने वाले परिग्रह से चितातुर नही होते। परन्तु कम नाम की पूजी की हमने कुछ ऐसी कल्पना की है मानो वह एक बडी गठरी है और उसको खोलकर, जैसे बने वसे उसे खत्म कर डालने मे ही मनुष्य का श्रेय है, कम का व्यापार करके उससे लाभ उठाने मे नही।

कर्म को पूंजी की तरह समझने के कारण उसे खत्म करने की ऐसी कल्पना पैदा हुई है।

परन्तु कर्म का बंधन रुपयों की गठरी जैसा नहीं है। और वृत्ति-परावृत्ति अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति से यह गठरी घटती-बढ़ती नहीं है। जगत् में कोई भी क्रिया हो चाहे जानने में हो या अनजान में वह विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म परिणाम एक ही समय में या भिन्न-भिन्न समय में, तुरन्त या कालान्तर में एक ही साथ या रह-रहकर पैदा करती है। इन परिणामों में से एक परिणाम कर्म करने वाले के ज्ञान और चारित्र के ऊपर किसी तरह का रजकण जितना ही असर उपजाने का होता है। करोड़ों कर्मों के ऐसे करोड़ों असरों के परिणामस्वरूप हर एक जीव का ज्ञान-चारित्र का व्यक्तित्व बनता है। यह निर्माण यदि उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाये और ज्ञान, धर्म, वैराग्य इत्यादि की ओर अधिकाधिक झुकता जाये तो उसके कर्म का क्षय होता है ऐसा कहा जायेगा। यदि वह उत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाये—अज्ञान, अधर्म, राग इत्यादि के प्रति बढ़ता जाये तो उसके कर्म का संचय होता है ऐसा कहा जायेगा।

इसी तरह कर्मों की वृत्ति-परावृत्ति नहीं, परन्तु कर्म का जीव के ज्ञान-चारित्र पर होने वाला असर ही बंधन और मोक्ष का कारण है। जीवन-काल में मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है ऐसी उच्च स्थिति का आदर्श, जिस स्थिति के प्राप्त होने के बाद उस व्यक्ति के ज्ञान-चारित्र पर ऐसा असर पैदा न हो कि उसमें पुन. अशुद्धि घुस सके।

इसके लिये कर्त्तव्य-कर्मों का विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ अपकर्म नहीं करने चाहिये, कर्त्तव्य रूप कर्म तो करने ही चाहिये, अकर्त्तव्य कर्म छोड़ने ही चाहिये। चित्तशुद्धि में सहायक सिद्ध होने वाले दान, तप और भक्ति के कर्म करने चाहिये इत्यादि। इसी तरह कर्म करने की रीति में भी विवेक करना पड़ेगा। जैसे ज्ञानपूर्वक कर्म करना, सावधानीपूर्वक करना, सत्य, अहिंसा आदि नियमों का पालन करते हुए करना, निष्काम भाव से अथवा अनासक्ति भाव से करना इत्यादि। परन्तु यह कल्पना गलत है कि कर्मों से परावृत्ति होने पर कर्मक्षय होता है। कर्त्तव्य रूप कर्म से परावृत्त होने की अपेक्षा कदाचित् सकाम भाव से अथवा आसक्ति भाव से किये हुए सत्कर्मों से अधिक कर्म-बंधन होने की पूरी सम्भावना है।

• • •

३६ कर्त्तव्य-कर्म

□ स्वामी शरणानन्द

प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है। अत भविष्य मे जो कुछ करना है, उसका चिन्तन तभी तक होता है, जब तक मानव कर्त्तव्यनिष्ठ नही होता और विश्राम में जीवन है—इसमे आस्था नही होती। चिन्तन से उसकी प्राप्ति नही होती जो कर्म सापेक्ष है। अर्थात उत्पन्न हुई वस्तुओ की प्राप्ति कर्म सापेक्ष है, चिन्तन साध्य नही। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आत्मा, परमात्मा का तो चिन्तन करना होगा। अनात्मा का आश्रय लिये बिना क्या कोई भी मानव किसी प्रकार का चिन्तन कर सकता है? कदापि नही। अनात्मा से असग होने पर आत्म साक्षात्कार तथा आत्मरति होती है, चिन्तन से नही। असगता अनुभव सिद्ध है, चिन्तन साध्य नही। अत आत्म चिन्तन अनात्मा का तादात्म्य ही है और कुछ नही। परमात्मा से देश काल की दूरी नही है। जो सभी का है, सदव है, सवत्र है और सब है, उसकी आत्मीयता ही उससे अभिन्न कर सकती है, कारण कि आत्मीयता अगाध प्रियता की जननी है। प्रियता-दूरी, भेद भिन्नता को रहने नही देती, अर्थात् मानव को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करती है।

आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही साध्य है, किसी अन्य प्रकार से नही। आस्था, श्रद्धा, विश्वास की पुनरावृत्ति नही करनी पडती, अपितु अपने ही द्वारा स्वीकृत होती है। इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि से जिसकी प्रतीति होती है, उससे असग होना और सुने हुए आत्मा व परमात्मा म अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना सत्सग है, अभ्यास नही। अभ्यास के लिये किसी 'पर' की अपेक्षा होती है और सत्सग अपने ही द्वारा साध्य है। इस दृष्टि से सत्सग स्वधर्म तथा प्रत्येक अभ्यास शरीर धर्म ही है। स्वधर्म अपने लिये तथा शरीर धर्म पर के लिये उपयोगी है। योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वधर्म अर्थात सत्सग से ही साध्य है। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के आदि और अन्त में सत्सग का शुभावसर है। सत्सग के बिना कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एव प्रभु की विस्मृति नाश नही होती। कर्त्तव्य की विस्मृति म ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और निज स्वरूप की विस्मृति म ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। स्मृति

अपने मे अपने आप जागृत होती है, उसके लिये किसी कारण की अपेक्षा नही है। स्मृति मे ही प्रीति, वोध तथा प्राप्ति निहित है। जिस प्रकार काष्ठ में अभिव्यक्त हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार अपने मे ही जागृत स्मृति समस्त दोषो को भस्मीभूत कर देती है।

अखण्ड स्मृति किसी श्रमसाध्य उपाय से साध्य नही है, अपितु विश्राम अर्थात् सत्सग से ही साध्य है। अविनाशी का संग किसी उत्पन्न हुई वस्तु के आश्रय से नही होता, ममता, कामना एवं तादात्म्य के नाश से ही होता है, जो अपने ही द्वारा अपने से साध्य है।

जो उत्पत्ति विनाशयुक्त है, उसका आश्रय अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व ही है। अविनाशी की मांग मानव मात्र मे स्वभाव सिद्ध है और विनाशी की ममता, कामना, भूल जनित है। भूल का नाश होने से ममता, कामना आदि का नाश हो जाता है। फिर स्वाभाविक माग की पूर्ति स्वतः हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नही पडता।

मांग की जागृति से, ममता तथा कामना के नाश से मांग की पूर्ति होती है, इस दृष्टि से वास्तविक मांग की पूर्ति और ममता, कामना आदि की निवृत्ति अनिवार्य है। इस ध्रुव सत्य मे अविचल आस्था करने से सत्संग वडी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

क्रियाजनित सुख का प्रलोभन देहाभिमान, अर्थात् असत् के संग को पोषित करता है। असत् का संग रहते हुए किसी भी मानव को वास्तविक जीवन की उपलब्धि नही हो सकती। इस दृष्टि से असत् का त्याग तथा सत् का संग अनिवार्य है। यह नियम है कि जो मानव मात्र के लिये अनिवार्य है, उसकी प्राप्ति मे पराधीनता तथा असमर्थता नही है। यह वैधानिक तथ्य है। अत. सत्संग मानव मात्र के लिये सुलभ है। उससे निराश होना भूल है। उसके लिये नित नव-उत्साह बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। उत्साह मानव को सजगता तथा तत्परता प्रदान करता है। उत्साहहीन जीवन निराशा की ओर ले जाता है, जो अवनति का मूल है। जिसकी प्राप्ति मे निराशा की गन्ध भी नही है उनके लिये उत्साह सुरक्षित रखना सहज तथा स्वाभाविक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जव मानव सत्संग को अपना जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार करता है, कारण कि सत्सग के विना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एव प्रेम की जागृति सम्भव नही है। काम की निवृत्ति मे ही नित्य योग एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही तत्त्व साक्षात्कार तथा प्रेम की जागृति मे अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है जो मानव मात्र की अन्तिम मांग है। क्रियाजनित सुख भोग मे पराधीनता, असमर्थता एवं अभाव निहित है जो किसी भी मानव

को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त कर्म, मान और भोग मे हेतु हैं। मान और भोग की रुचि देहातीत जीवन से अभिन्न नहीं होने देती। देह युक्त जीवन मे स्थायित्व नही है, यह प्रत्येक मानव का निज अनुभव है। स्थायित्व सहित जीवन वास्तविक जीवन की माग है, और कुछ नही, अर्थात् मानव का अस्तित्व माग है जिसकी पूर्ति अनिवाय है। असत के सग से उत्पन्न हुई कामनाए मानव को वास्तविक माग से विमुख करती हैं और सत्सग से माग की पूर्ति होती है।

कम का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नही। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अथ मे हो जाती है। शरीर और सृष्टि के प्रति ही कम की अपेक्षा है, वह कम जो शरीर तथा सृष्टि के लिये अहितकर है उसका करना असत का सग है। अहितकर कम का त्याग सत का सग है अर्थात जो नही करना चाहिये उसका करना असत का सग और उसका न करना सत का सग है। कम विज्ञान की दृष्टि से जो नही करना चाहिये, उसके न करने म ही जो करना चाहिये वह स्वत होने लगता है। इस दृष्टि से जो करना चाहिये वह स्वत होगा, पर जो नही करना चाहिये उसका त्याग अनिवाय है। सत्सग त्याग से ही साध्य है। त्याग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। जैसे कुछ भी करने से पूव न करना स्वत सिद्ध है और करने के अन्त मे भी न करना ही है। जो आदि और अन्त मे है, उसे अपना लेना सत्सग है। पर इसका अथ यह नहीं है कि अकमण्यता तथा आलस्य का मानव जीवन म कोई स्थान है। अकमण्यता तथा आलस्य तो सवथा त्याज्य है। स्व के प्रति करने की बात है ही नही, परहित मे ही कम का स्थान है। प्रत्येक प्रवत्ति सव हितकारी सद्भावना से ही आरम्भ हो। प्रवत्ति के द्वारा अपने को कुछ भी नही पाना है, यह अनुभव हो जाने पर ही कम विज्ञान की पूणता होती है। कम विज्ञान वह विज्ञान है जो मानव को क्रियाजनित सुख लोलुपता से रहित करने मे समथ है। क्रियाजनित सुख लोलुपता का अन्त होते ही योग विज्ञान का आरम्भ होता है जो एकमात्र सत्सग से ही साध्य है। योग की अभिव्यक्ति के लिये किसी प्रकार की प्रवत्ति अपेक्षित नही है अपितु मूक सत्सग ही अपेक्षित है।

मूक सत्सग का अथ कोई श्रमयुक्त मानसिक साधन नही है, अपितु अहकृति रहित विश्राम है। कुछ न करने का सकल्प भी श्रम है। कत्तव्य के अन्त में अपने आप आने वाला विश्राम मूक सत्सग है। विश्राम काल मे ही साथक तथा निरथक चिन्तन की अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति होती है। साथक चिन्तन का अथ है अखण्ड स्मृति और निरथक चिन्तन का अथ है भुक्त अभुक्त का प्रभाव। भुक्त अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति को ही व्यथ चिन्तन, मानसिक

चचलता आदि कहते हैं जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति यद्यपि मानव के विकास मे हेतु है, परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को न जानने के कारण हम अपने आप होने वाले चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते है और यह भूल जाते है कि किये हुए का तथा करने की रुचि का परिणाम ही तो व्यर्थ चिन्तन है। जिस कारण से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश न करना और उसी के द्वारा व्यर्थ चिन्तन मिटाने का प्रयास करना व्यर्थ चिन्तन को ही पोषित करना है।

व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति मानव को यह बोध कराती है कि भूतकाल में क्या कर चुके हो और भविष्य मे क्या करना चाहते हो। जो कर चुके हो उसका परिणाम क्या है ? जो करना चाहते हो उसका परिणाम क्या होगा, इस पर विचार करने का सुअवसर व्यर्थ चिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थ चिन्तन का सदुपयोग न करना और उसको बलपूर्वक किसी क्रिया-विशेष से मिटाने का प्रयास करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। ज्यों-ज्यों व्यर्थ चिन्तन मिटाने के लिये किसी क्रिया विशेष को अपनाते है, त्यों-त्यों व्यर्थ चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है। किये हुए के परिणाम को किसी कर्म के द्वारा मिटाने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध होता है अर्थात् व्यर्थ चिन्तन नाश नही होता। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करने के लिये क्रिया-जनित सुख लोलुपता का सर्वांश मे त्याग करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब मूक-सत्सग के द्वारा शान्ति की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं अखण्ड स्मृति जागृत हो जाय। शान्ति मे योग, विचार मे बोध एव अखण्ड स्मृति मे अगाध रस निहित है। क्रिया-जनित सुख-लोलुपता की दासता का नाश रस की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। सुख-लोलुपता मानव को सदैव पराधीनता, जडता एवं अभाव मे ही आबद्ध करती है। किन्तु रस की अभिव्यक्ति मे पराधीनता, जडता, अभाव आदि की गन्ध भी नही है। इतना ही नही, पराधीनता से ही क्रिया-जनित सुख उत्पन्न होता है। जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है तब वह बडी ही सुगमता एव स्वाधीनतापूर्वक सत्संग करने मे तत्पर होता है। यह कैसा आश्चर्य है ? जिसकी उपलब्धि स्वाधीनतापूर्वक होती है उससे विमुख होना और जिसमे पराधीनता के अतिरिक्त और कुछ नही है, उसके लिये प्रयास करना, क्या अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान नही है ?

सत्संग की भूख जागृत होते ही सत्संग अत्यन्त सुलभ हो जाता है। उससे निराश होना भूल है। जो मौजूद है उसका सग न करना और जो नही है उसके पीछे दौडने का प्रयास करना क्या प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय नही है ? अर्थात् अवश्य है।

यह अनुभव सिद्ध है कि प्रतीति की ओर प्रवत्ति भले ही हो, किन्तु परिणाम में प्राप्ति कुछ नहीं है। प्रवत्ति के अंत मे अपने आप आने वाली निवत्ति ही मूक सत्सग है। उस निवृत्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब "अपने लिये कुछ भी करना नहीं है, अपितु सेवा, त्याग, प्रेम म ही जीवन है"—इसमे किसी प्रकार का विकल्प न हो।

प्रवृत्ति का आकर्षण पराधीनता को जन्म देता है। प्रवृत्तियों का उद्गम देहाभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देहाभिमान की उत्पत्ति भूलजनित है, जिसकी निवृत्ति मूक-सत्सग से ही साध्य है।

• □ •

आप आप क करम सू, आप निरमल होय।
आपो न निरमल कर, और न दूजो कोय॥

आप ही खोटा करे, आप मलो होय।
खोटी करणी छूटतां, आप उजलो होय॥

तीन बात बन्धन बन्ध्या, राग, द्वेष, अभिमान।
तीन बात बन्धन खुल्या, शील, समाधि, ज्ञान॥

जब तक मन मे मोह है, राग-द्वेष भरपूर।
तब तक मन सतप्त है, शान्ति बहुत ही दूर॥

जब तक मन मे राग है, जब तक मन मे द्वेष।
तब तक दु ख ही दु ख है, मिटें न मन के क्लेश॥

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश॥

क्रोध क्षोभ का मूल है, शान्ति-शान्ति की खान।
क्रोध छोड़ धारे क्षमा, होय अमित कल्याण॥

राग जिसो ना रोग है, द्वेष जिसो ना दोष।
मोह जिसो ना मूढ़ता, धरम जिसो ना होस॥

—सत्यनारायण गोयनका

---

३७ कर्मविपाक और आत्म-स्वातंत्र्य

☐ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

कर्म चाहे भला हो या बुरा, परन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को एक न एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना चाहिये। कर्म अनादि है, और उसके अखण्ड व्यापार मे परमेश्वर भी हस्तक्षेप नही करता। सब कर्मो को छोड देना सभव नही है, और मीमांसको के कथनानुसार कुछ कर्मों को करने से और कुछ कर्मो को छोड देने से भी कर्मबन्धन से छुटकारा नही मिल सकता—इत्यादि बातो के सिद्ध हो जाने पर यह पहला प्रश्न फिर भी उत्पन्न होता है कि कर्मात्मक नाम रूप के विनाशी चक्र से छूट जाने एवं उसके मूल मे रहने वाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्व मे मिल जाने की मनुष्य को जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करने का कौनसा मार्ग है ? वेद और स्मृति ग्रन्थो मे यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है, परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के है। क्योकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्य-कर्मो के फलो का अन्त हो जाता है तब चाहे दीर्घकाल मे ही क्यो न हो—कभी न कभी इस कर्मभूमि मे फिर लौट कर आना ही पडता है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के पजे से बिल्कुल छूटकर अमृतत्व मे मिल जाने का और जन्म-मरण की झझट को सदा के लिए दूर कर देने का यह सच्चा मार्ग नही है। इस झझट को सदा के लिए दूर करने का अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का अध्यात्म शास्त्र के कथनानुसार 'ज्ञान" ही एक सच्चा मार्ग है। "ज्ञान" शब्द का अर्थ व्यवहार ज्ञान या नाम रूपात्मक सृष्टि-शास्त्र का ज्ञान नही है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। इसी को "विद्या" भी कहते हैं। "कर्मणा बध्यते जन्तु· विद्यया तु प्रमुचयते"—कर्म से ही प्राणी बांधा जाता है, और विद्या से उसका छुटकारा होता है—यह जो वचन दिया गया है, उसमे "विद्या" का अर्थ "ज्ञान" ही विवक्षित है। गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।' अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते है [गीता ४,३७]। और 'महाभारत' मे भी कहा गया है कि—

> बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः
> ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥[2]

१—महाभारत, वनपर्व २५९–६०, गीता ८ २५, ९ २०

२—महाभारत, वनपर्व १८६–१०६–७।

अर्थात् भुना हुआ बीज जैसे उग नही सकता, वैसे ही जब ज्ञान से (कर्म के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्मा को पुन प्राप्त नही होते। उपनिषदों मे भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्ता बतलाने वाले अनेक वचन हैं जैसे—"य एव वेदाह ब्रह्मास्मीति स इद सर्व भवति।[1] जो यह जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमल पत्र मे पानी चिपक नही सकता उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते।[2] ब्रह्म जानने वाले को मोक्ष मिलता है। जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है, उसे पाप नही लग सकता। 'ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै'[3] परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पापों से मुक्त हो जाता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु २ २ ८) परब्रह्म का ज्ञान होने पर सब कर्मों का क्षय हो जाता है। 'विद्ययामृतमश्नुते'[4] विद्या से अमृतत्व मिलता है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे ३ ८) परमेश्वर को जान लेने से अमरत्व मिलता है, इसको छोड मोक्ष प्राप्ति का दूसरा मार्ग नही है और शास्त्र दृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्धान्त दृढ होता है। क्योंकि दृश्य सृष्टि मे जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है, तथापि इस सृष्टि के आधारभूत परब्रह्म की ही वह सब लीला है, इसलिए यह स्पष्ट है कि कोई भी कर्म परब्रह्म को बाधा नही दे सकते—अर्थात् सब कर्मों को करके भी परब्रह्म अलिप्त ही रहता है।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस ससार के सब पदार्थों के कर्म (माया) और ब्रह्म, ये दो ही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है कि इनमे से किसी एक वर्ग से अर्थात् कर्म से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो मनुष्य को दूसरे वर्ग मे अर्थात ब्रह्म स्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नही है। क्योंकि जब सब पदार्थों के केवल दो ही वर्ग होते हैं, तब कर्म से मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्म स्वरूप के और कोई शेष नही रह जाती। परन्तु ब्रह्म स्वरूप की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? नहीं तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसरा ही। 'विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' मूर्ति तो गणेश की बनानी थी, परन्तु (वह न बन कर) बन गई बंदर की। ठीक यही दशा होगी। इसलिए अध्यात्मशास्त्र के युक्तिवाद से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य का तथा ब्रह्म की अलिप्तता का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यन्त स्थिर रखना ही कर्मपाश से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। गीता मे

१—बृहदारण्यकोपनिषद १ ४ १०

२—छान्दोग्योपनिषद् ४ १४ ३

३—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५ १३, ६ १३

४—ईशावास्योपनिषद् ११

भगवान ने भी यही कहा है कि कर्मों मे मेरी कुछ भी आसक्ति नही है, इसलिए मुझे कर्म की बाधा नही होती और जो इस तत्त्व को समझ जाता है वह कर्मपाश से मुक्त हो जाता है ।[1]

स्मरण रहे कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नही है, किन्तु वेदान्त सूत्र के शाकरभाष्य के आरम्भ ही मे कहे अनुसार हर समय और प्रत्येक स्थान मे उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होने पर और फिर इन्द्रियो पर जय प्राप्त कर लेने पर ब्रह्मीभूत होने की अवस्था या ब्राह्मी स्थिति ही है ।" महाभारत मे भी जनक ने सुलभा से कहा है कि "ज्ञानेन कुरुते यत्न, यत्नेन प्राप्यते महत्"[2] ज्ञान अर्थात् मानसिक क्रिया रूपी ज्ञान हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है, और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त मे उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है । अध्यात्मशास्त्र इतना ही बतला सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किस मार्ग से और कहाँ जाना चाहिए । इससे अधिक वह और कुछ नही बतला सकता । शास्त्र से ये बातें जानकर प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रोक्त मार्ग पर स्वयं ही चलना चाहिए और उस मार्ग मे जो कांटे या बाधाएं हो, उन्हे निकालकर अपना रास्ता खुद साफ कर लेना चाहिये एव उसी मार्ग पर चलते हुए स्वय अपने प्रयत्न से ही अन्त मे ध्येयवस्तु की प्राप्ति कर लेनी चाहिए । परन्तु-यह प्रयत्न भी पातजलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफल त्याग इत्यादि अनेक प्रकार से किया जा सकता है और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझन मे फस जाता है । इसलिए गीता मे पहले निष्काम कर्मयोग का मुख्य मार्ग बतलाया गया है, और उसकी सिद्धि के लिए छठे अध्याय मे यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-समाधि रूप अगभूत साधनों का भी वर्णन किया गया है तथा सातवे अध्याय से आगे यह बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान अध्यात्म विचार द्वारा अथवा (इससे भी सुलभ रीति से) भक्ति मार्ग द्वारा हो जाता है ।[3]

कर्मबंध से छुटकारा पाने के लिए कर्म छोड़ देना कोई उचित मार्ग नही है किन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध रखकर परमेश्वर के समान आचरण करते रहने से ही अन्त मे मोक्ष मिलता है । कर्म को छोड देना भ्रम है, क्योकि कर्म किसी से छूट नही सकता—इत्यादि बाते यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गई है, तथापि यह पहला प्रश्न फिर भी उठता है, कि इस मार्ग मे सफलता पाने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्ति का जो प्रयत्न करना पडता है, वह मनुष्य के वश की बात है ? अथवा नाम रूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खीचे, उधर ही उसे चले जाना चाहिए ? गीता मे भगवान कहते है कि "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह-

१—गीता ४ १४

२—शाडिल्य सूत्र ३२० ३०

३—गीता १८ ५६

परमात्मा का ही अंशभूत जीव (गीता १५.७) अनादि पूर्व कर्मार्जित जड़ देह तथा इन्द्रियों के बंधनो से बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये (अर्थात् मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेन्द्रियो मे होने लगती है और इसीको व्यावहारिक दृष्टि से 'आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति' कहते है। व्यावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या तात्त्विक दृष्टि से आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है और सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है (गीता १३.२९) परन्तु वेदान्ती लोग साख्यमत की भाति यह नही मानते कि प्रकृति ही स्वय मोक्षानुकूल कर्म किया करती है, क्योकि ऐसा मान लेने से यह कहना पड़ेगा कि जड़ प्रकृति अपने अंधेपन से अज्ञानियो को भी मुक्त नही कर सकती है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आत्मा मूल ही मे अकर्ता है, वह स्वतन्त्र रीति से—अर्थात् बिना किसी निमित्त के अपने नैसर्गिक गुणो से ही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिए आत्म-स्वातन्त्र्य के उक्त सिद्धान्त को वेदान्तशास्त्र मे इस प्रकार बतलाना पड़ता है कि आत्मा यद्यपि मूल मे अकर्ता है तथापि बंधनो के निमित्त से वह उतने ही के लिए दिखाऊ प्रेरक बन जाता है और जब वह आगन्तुक प्रेरकता उसमे एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है तब वह कर्म के नियमो से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। 'स्वतन्त्र' का अर्थ निर्निमित्तक नही है, और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्था मे कर्ता भी नही रहता। परन्तु बार-बार इस लम्बी-चौड़ी कर्मकथा को बतलाते न रहकर इसी को सक्षेप मे आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहने की परिपाटी हो गई है। बन्धन मे पडने के कारण आत्मा के द्वारा इन्द्रियो को मिलने वाली इस स्वतन्त्र प्रेरणा मे और बाह्य सृष्टि के पदार्थो के सयोग से इन्द्रियों मे उत्पन्न होने वाली प्रेरणा मे बहुत भिन्नता है। खाना-पीना, चैन करना—ये सब इन्द्रियो की प्रेरणाएँ है और आत्मा की प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करने के लिए हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्म सृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा आत्मा की अर्थात् ब्रह्म सृष्टि की है। और ये दोनो प्रेरणाएँ प्राय: परस्पर विरोधी है, जिससे इनके झगड़े मे ही मनुष्य की सब आयु बीत जाती है। इनके झगड़े के समय जब मन मे सदेह उत्पन्न होता है तब कर्म सृष्टि की प्रेरणा को न मानकर[1] यदि मनुष्य शुद्धात्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने लगे—और इसी को सच्चा आत्म-ज्ञान या आत्म निष्ठा कहते है—तो इसके सब व्यवहार स्वभावत: मोक्षानुकूल ही होगे।

और अन्त मे—विशुद्ध धर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना।
स्वतंत्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते।[2]

१—श्रीमद्भागवत पुराण ११ १० ४

२—महाभारत, शाति पर्व ३०८, २७-३०

"यह जीवात्मा या शरीर आत्मा—जो मूल मे स्वत त्र है—ऐसे परमात्मा मे मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वतन्त्र है।" ऊपर जो कहा गया है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड देहेंद्रियो के प्राकृत धर्म की अर्थात कर्मसृष्टि की प्रेरणा की—प्रबलता हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर म बधे हुए जीवात्मा मे, देहद्रियो मे मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेने की, जो यह स्वतन्त्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान देकर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्म स्वातत्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है कि —

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मन ॥[1]

"मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। निराशा से वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योकि प्रत्येक मनुष्य स्वय अपना बधु (हितकारी) है और स्वय अपना शत्रु (नाशकर्ता) है और इस हेतु से योगवासिष्ठ मे (यो २ स १ ४–८) दैव का निराकरण करके पौरुष के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियो मे एक ही आत्मा है, उसके इसी आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं और बद्ध जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण की ओर देहद्रियो को प्रवत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्त करण भी सदाचरण ही का पक्ष लिया करता है, जिससे उसे अपने किए हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पडित इस सदसद्विवेक बुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता ह कि बुद्धीन्द्रिय जड प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वय अपनी ही प्रेरणा कर्म के नियम बधनो से मुक्त नही हो सकती, यह प्रेरणा उसे कर्म सृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पडितो का "इच्छा स्वातन्त्र्य" शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नही है। क्योकि इच्छा मन का धर्म है और बुद्धि तथा उसके साथ-साथ मन भी कर्मात्मक जड प्रकृति के अस्वयवद्य विकार हैं। इसलिए ये दोनो स्वय ही कर्म के बधन से छूट नही सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है और न मन का—वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो कोई आत्मा का देता है और न कोई उससे इसे छीन भी सकता है—स्वतन्त्र परमात्मा का अश रूप जीवात्मा जब उपाधि के बधन म पड जाता है, तब वह स्वय स्वतन्त्र रीति से, ऊपर कहे अनुसार बुद्धि तथा मन मे प्रेरणा किया करता है। अन्त करण की इस प्रेरणा का अनादर करके यदि कोई बर्ताव करेगा तो तुकाराम ने कहा

१—गीता ६ ५

जा सकता है कि वह "स्वय अपने ही पैरो मे आप कुल्हाडी मारने को तैयार हुआ है" (तु गा. ४४४८) भगवद्गीता मे इसी तत्त्व का उल्लेख यो किया गया है। "न हिनस्त्यात्मनऽऽत्मानाम्." जो स्वय अपना घात आप ही नहीं करता, उसे उत्तम गति मिलती है।[1] यद्यपि मनुष्य कर्मसृष्टि के अभेद्य दिखाई देने वाले नियमो मे जकड़ कर बन्धा हुआ है तथापि स्वभावत: उसे ऐसा मालूम होता है कि मै इस परिस्थिति मे भी अमुक काम को स्वतन्त्र रीति से कर सकूंगा। अनुभव के इस तत्त्व की उत्पत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टि को जड़ सृष्टि से भिन्न माने विना किसी भी अन्य रीति से नही वतलाई जा सकती। इसलिए जो अध्यात्मशास्त्र को नही मानते उन्हे इस विषय मे या तो मनुष्य के नित्य दासत्व को मानना चाहिये या प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य के प्रश्न को अगम्य समझकर यो ही छोड देना चाहिये। उनके लिए कोई दूसरा मार्ग नही है। अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि जीवात्मा और परमात्मा मूल मे एक रूप हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य की उक्त उत्पत्ति वतलाई गई है। परन्तु जिन्हे यह अद्वैत मत मान्य नही है अथवा जो भक्ति के लिये द्वैत को स्वीकार किया करते है उनका कथन है कि जीवात्मा की यह सामर्थ्य स्वयं उसकी नही है, वल्कि यह उसे परमेश्वर से प्राप्त होती है। तथापि 'न ऋतु श्रान्तस्य सख्याय देवा'।[2] थकने तक प्रयत्न करने वाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यो की देवता मदद नही करते—ऋग्वेद के इस तत्वानुसार यह कहा गया है, कि जीवात्मा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा देने के लिए पहले स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए—अर्थात् आत्म प्रयत्न का या पर्याय से आत्म स्वातन्त्र्य का तत्त्व फिर भी स्थिर वना ही रहता है। अधिक क्या कहें ? वौद्धवर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नही मानते और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नही है तथापि उनके धर्मग्रन्थो मे भी यही उपदेश किया गया है कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तान"—अपने आप को स्वय अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिए। इस उपदेश का समर्थन करने के लिए कहा गया है कि :—

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तना गति।
तस्मा सजमयऽत्ताण अस्स (अश्व) भद्दं व वाणिजो ॥

"हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक है और अपने आत्मा के सिवा हमें तारने वाला दूसरा कोई नही है, इसलिए जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का सयमन करता है उसी प्रकार हमे अपना संयमन आप ही भलीभाति करना चाहिए।"

• • •

१—गीता १३.२८
२—ऋग्वेद ४, ३३ ११

›

३८ निष्काम कर्मयोग

□ महात्मा गांधी

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभ से ही इस जगत् मे दो मार्ग चलते आये हैं—एक मे ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे मे कर्म की। पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नही हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नही। सब छोडकर बैठ जाने वाला मनुष्य सिद्धपुरुष नही कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा। जगत् का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मन मे तरह-तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायेगा। क्या इससे यह अच्छा नही कि इन्द्रियो को वश मे रखकर, राग द्वेष छोडकर, शोरगुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य हाथ पाँवो से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे ? नियत कर्म—तेरे हिस्से मे आया हुआ सेवा कार्य—तू इन्द्रियो को वश मे रखकर करता रह। आलसी की भाँति बैठे रहने से यह कही अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहने वाले के शरीर का अंत मे पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिये कि यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगो को बंधन मे रखते हैं। यज्ञ के मानी है, अपने लिये नही, बल्कि दूसरे के लिये, परोपकार के लिये, किया हुआ श्रम, अर्थात् संक्षेप मे सेवा। और जहाँ सेवा के निमित्त ही सेवा की जायेगी, वहाँ आसक्ति, राग द्वेष नही होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्मा ने जगत उपजाने के साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो, हमारे कान मे यह मंत्र फूँका कि पृथ्वी पर जाओ, एक दूसरे की सेवा करो और फूलो फलो, जीव मात्र को देवतारूप जानो, इन देवो की सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवाञ्छित फल देंगे। इसलिये यह समझना चाहिये कि लोक सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगो का, जीवमात्र का भाग उन्हें पहुँचाने के बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगने का अधिकार है। अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है। इससे उल्टा, जो अपने लिये ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पाप का अन्न खाता है। सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवो का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है।

जहाँ जीव नही है वहाँ वर्षा नही पायी जाती। जहां जीव है वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी है। कोई पड़े-पड़े खा नही सकता और मूढ़ जीवों के लिये जब यह सत्य है, तो मनुष्य के लिये यह कितने अधिक अंश मे लागू होना चाहिये ? इससे भगवान ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मा से हुई, इसलिये यह समझना चाहिये कि यज्ञ मात्र में, सेवा मात्र मे अक्षर ब्रह्मा, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का जो मनुष्य अनुसरण नही करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

यह कह सकते है कि जो मनुष्य आन्तरिक शान्ति भोगता है और सतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्त्तव्य नही है, उसे कर्म करने से कोई फायदा नही, न करने से कोई हानि नही है। किसी के संबध मे कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ कार्य को वह छोड़ नही सकता। इससे तू तो कर्त्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमे राग-द्वेष न रख, उसमे आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है, वह ईश्वर साक्षात्कार करता है। फिर जनक—जैसे निस्पृही/ राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योकि वे लोकहित के लिये कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत वर्ताव कर सकता है ? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं उनका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था ? पर मैं चौवीसो घटा विना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इसमे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक परिमाण में वरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत का क्या हो ? तू समझ सकता है कि सूर्य, चद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जाये और इन सबको गति देने वाला, नियम मे रखने वाला तो मैं ही ठहरा। किन्तु लोगो मे और मुझ मे इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नही है, और लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थ मे पड़े भागते रहते है। यदि मुझ जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेगे और बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगे। मुझे तो आसक्ति रहित होकर कर्त्तव्य करना चाहिये, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखे। मनुष्य अपने मे मौजूद स्वाभाविक गुणो के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि "मैं करता हूँ"। सांस लेना, यह जीवमात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसी मक्खी आदि के बैठते ही तुरत मनुष्य स्वभावत: ही पलके हिलाता है। उस समय नही कहता कि मैं सास लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जाये, सब स्वाभाविक रीति से गुण के अनुसार क्यो न किये जाये ? उनके लिये अहकार क्या ? और यो ममत्वरहित सहज कर्म करने का सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्य मे से अहकार वृत्ति का, स्वार्थ का नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जजाल मे से छूट जाता है। उसके लिये फिर कर्म-बधन जैसा कुछ नही है और जहाँ

स्वभाव के अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कार से न करने का दावा करने मे ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करने वाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पडे, पर भीतर भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तव मे तो इन्द्रियो का अपने अपने विषयो मे राग द्वेष विद्यमान ही है। कानो को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नही। नाक को गुलाब के फूल की सुगंध भाती है, मल वगैरह की दुर्गन्ध नही। सभी इन्द्रियो के संबंध मे यही बात है। इसलिये मनुष्य को इन राग-द्वेषरूपी दो गुणो से बचना चाहिये और इन्हे मार भगाना हो तो कर्मों की शृंखला मे न पडे। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथ मे लिया, परसो तीसरा, यो भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से मे जो सेवा आ जाये, उसे ईश्वर प्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहं भाव चला जायेगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपटे रहना चाहिये क्योकि अपने लिये तो वही अच्छा है। देखने मे पर धर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिये। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने मे मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेष रहित होकर किये जाने वाले कर्म को यज्ञ रूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा—"मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पाप कर्म की ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेले ले जाता है।"

भगवान् बोले—"मनुष्य को पाप कर्म की ओर ढकेल ले जाने वाला काम है और क्रोध है। दोनो सगे भाई की भांति हैं, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लडना है। जैसे मल चढने से दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएँ के कारण ठीक नही जल पाती और गर्भ झिल्ली मे पडे रहने तक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को प्रज्वलित नही होने देते, फीका कर देते हैं या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड देता है। इसलिये तू इन्द्रियो से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योकि इन्द्रियां मन और बुद्धि क्रमश एक दूसरे से बढ चढकर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढा चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का पता नही है, इसलिये वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश मे नही रहती, मन वश मे नही रहता या बुद्धि काम नही करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियो को, मन और बुद्धि को ठिकाने रखने वाले का काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नही कर सकती।

जुदा चीजे हैं तो साधन भी दोनों के लिये जुदा-जुदा ही होगे। जव इन दोनों का मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ ऐसा न हो जाये, इसलिये शास्त्रकारो ने दुहरा मार्ग वताया है। भक्तियोग मे बाहर से तप व भीतर से जप वताया है। उपवास आदि बाहरी तप के चलते हुए यदि भीतर से मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप फिजूल गया। तप सम्बन्धी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिये। उपवास शब्द का अर्थ ही है, भगवान के पास बैठना। इसलिये कि परमात्मा के नजदीक हमारा चित्त रहे, वाहरी भोगो का दरवाजा वद करने की जरूरत है। परन्तु वाहर से विषय भोगों को छोड़कर यदि मन मे भगवान का चिन्तन न होता, तो फिर इस बाहरी उपवास की क्या कीमत रही? ईश्वर का चिन्तन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीने की चीजो का चिन्तन करे तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो गया। यह जो मन से भोजन हुआ, मन मे जो विषय-चिन्तन रहा, इससे बढकर भयंकर वस्तु दूसरी नही। तत्र के साथ मंत्र होना चाहिये। कोरे वाह्य तन्त्र का कोई महत्त्व नही है और न केवल कर्महीन मन्त्र का भी कोई मूल्य है। हाथ मे भी सेवा हो व हृदय मे भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथो वन पड़ेगी।

यदि वाह्य कर्म मे हृदय की आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायेगा। उसमे निष्कामता रूपी फूल-फल नही लगेगे। फर्ज कीजिये कि हमने किसी रोगी की सेवा-सुश्रूषा शुरू की, परन्तु उस सेवा-कर्म के साथ यदि मन मे कोमल दया भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगी को भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उसमे यदि मन का सहयोग न हो तो उससे अहकार पैदा होगा। मैंने आज उसका काम किया है। उसे जरूरत के वक्त मेरी सहायता करनी चाहिये। मेरी तारीफ करनी चाहिये। मेरा गौरव करना चाहिये आदि अपेक्षाएँ मन मे उत्पन्न होगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेगे—हम इसकी इतनी सेवा करते है, फिर भी यह वडबड़ाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है। उसके ऐसे स्वभाव से ऐसा सेवक, जिसके मन मे सच्चा सेवा-भाव नही होता, ऊब जायेगा।

कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है। बारूद में बत्ती लगाने से धड़ाका होता है। उस वारूद मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को बदूक की बारूद की तरह समझो। उसमे विकर्म की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जब तक विकर्म आकर नही मिलता, तब तक वह कर्म जड़ है, उसमें चैतन्य नही। एक बार जहाँ विकर्म की चिनगारी उसमे

गिरी कि फिर उस कम म जो सामर्थ्य पदा होती है, वह श्रवणनीय है। चिमटी भर गारूद जेब मे पडी रहती है हाथ मे उछलती रहती है, पर जहा उसमे बत्ती लगी कि शरीर के टुकडे टुकडे हुए। स्वधर्माचरण का अनन्त सामथ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमे विकम को जोडिये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड होते हैं। उसके स्फोट स अहकार, काम, क्रोध के प्राण उड जायेंगे व उसमे से उस परम नान की निष्पत्ति हो जायेगी।

कम ज्ञान का पलीता है। एक लकडी का बडा सा टुकडा कही पडा है। उस आप जला दीजिये। वह जगमग अगार हो जाता है। उस लकडी और उस आग मे कितना अन्तर है? परन्तु उस लकडी की ही वह आग होती है। कम मे विकम डाल देने से कम दिव्य दिखाई देने लगता है। मा बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर एक हाथ यो ही इधर उधर फिर गया। परन्तु इस एक मामूली कम से उन माँ बच्चे के मन मे जो भावनाएँ उठी, उनका वणन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लम्बी-चौडी पीठ पर इतने वजन का एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिराने की यह क्रिया बिलकुल क्षुद्र है परन्तु उसमे मा का हृदय उडेला हुआ है। वह विकम उडेला हुआ है। इसी से वह अपूव आनन्द पाप्त हाता है। तुलसीकृत रामायण म एक प्रसग आता है। राक्षसो स लडकर वन्दर आते हैं। वे जख्मी हो गए हैं। बदन से खून वह रहा है परन्तु प्रभु रामचन्द्र के एक बार प्रेम-पूवक दृष्टिपात मात्र से उन वन्दरो की वेदना काफूर हा गई। अब यदि दूसरे मनुष्य ने राम की उस समय की आख व दृष्टि का फोटो लेकर किसी की ओर उतनी आखें फाडकर देखा होता तो क्या उसका वसा प्रभाव पडा होता? वैसा करने का यत्न करना हास्यास्पद है।

कम के साथ जब विकम का जोड मिल जाता है तो शक्ति स्फोट होता है और उसमे से अकम निर्माण होता है। लकडी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह इतना बडा लकडी का टुकडा, अत मे चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है उसकी। खुशी से उसे हाथ मे ले लीजिये और सारे बदन पर मल लीजिये। इस तरह कम म विकम की ज्योति जला देने से अन्त मे अकम हो जाता है। कहाँ लकडी व कहाँ राख? क केन सम्बन्ध। उनके गुण धर्मों मे अब बिल्कुल साम्य नही रह गया। परन्तु इसमे कोई शक नही है कि वह राख उस लकडी के लट्ठ की ही है।

कम मे विकम उडलने से अकम होता है। इसका अथ क्या? इसका अर्थ यह है कि ऐसा मालूम ही नही होता कि कोई कम किया है। उस कम का बोझ नही मालूम हाता। करके भी अकर्त्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर

भी तुम मारते नही। माँ बच्चे को पीटती है, इसलिये तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके आचल मे मुँह छिपाता है, क्योंकि माँ के बाह्य कर्म मे चित्त शुद्धि का मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भाव से है। उस कर्म मे उसका स्वार्थ नही है। विकर्म के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। राम की वह दृष्टि, आन्तरिक विकर्म के कारण महज प्रेम-सुधा सागर हो गई थी परन्तु राम को उस कर्म का कोई श्रम नही हुआ था। चित्त शुद्धि से क्रिया-कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नही रहता। नही तो कर्म का कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदय पर पड़ता है। यदि यह खबर आज दो बजे उड़ी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जाने वाले हैं तो फिर देखो, कैसी भीड़ चारो ओर हो जाती है। चारो ओर हलचल व गड़बड़ मच जाती है। हम कर्म के अच्छे-बुरे होने की वजह से मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमको चारो ओर से घेर लेता है, मानो कर्म ने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्र का प्रवाह जोर से जमीन मे घंसकर खाड़ियाँ बना देता है उसी तरह कर्म का यह जजाल चित्त मे घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व निर्माण होते हैं। सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया। परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नीद हराम हो जाती है।

परन्तु ऐसे इस कर्म मे यदि विकर्म को मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नही मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शान्त, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्म मे विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है। मानो कर्म को करके फिर उसे पोछ दिया हो।

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के आधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म मे लगाना है अथवा यो कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का उपयोग वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म में ही विवेक के प्रकाश मे करना है। निज विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर कर्त्तव्य पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अत विवेक विरोधी कर्म का मानव-जीवन मे कोई स्थान ही नहीं है।

४०

कर्म और कार्य-कारण सम्बन्ध

□ आचार्य रजनीश

साधारणत कर्मवाद ऐसा कहता हुआ प्रतीत होता है कि जो हमने किया है, उसका फल हमे भोगना पडेगा। हमारे कर्म और हमारे भोग मे एक अनिवार्य कार्य-कारण सम्बन्ध है। यह बिल्कुल सत्य है कि जो हम करते हैं, उससे अन्यथा हम नही भोगते भोग भी नहीं सकते। कर्म भोग की तैयारी है। असल मे, कर्म भोग का प्रारम्भिक बीज है। फिर वही बीज भोग मे वृक्ष बन जाता है।

कर्मवाद का जो सिद्धान्त प्रचलित है, उसमे ठीक बात को भी इस ढग से रखा गया है कि वह बिल्कुल गलत हो गई है। उस सिद्धान्त मे ऐसी बात न मालूम किन कारणों से प्रविष्ट हो गई है कि कर्म तो हम अभी करेंगे और भोगेंगे अगले जन्म मे। कार्य कारण के बीच अन्तराल नही होता अन्तराल हो ही नहीं सकता। अगर अन्तराल आ जाय तो कार्य-कारण विच्छिन्न हो जायेंगे, उनका सम्बन्ध टूट जाएगा। आग मे मैं अभी हाथ डालूँ और जलूँ अगले जन्म में—यह समझ के बाहर की बात होगी। लेकिन इस तरह के सिद्धान्त का, इस तरह की भ्रान्ति का कुछ कारण है। वह यह है कि हम एक ओर तो भले आदमियो को दुख झेलते देखते है, वहीं दूसरी ओर हमे बुरे लोग सुख उठाते दीखते हैं। अगर प्रतिपल हमारे कार्य और कारण परस्पर जुडे हैं तो बुरे लोगो का सुखी होना और भले लोगो का दुखी होना कैसे समझाया जा सकता है? एक आदमी भला है, सच्चरित्र है, ईमानदार है और दुख भोग रहा है, कष्ट पा रहा है दूसरा आदमी बुरा है, बेईमान है, चरित्रहीन है और सुख पा रहा है, वह धन धान्य से भरा पूरा है। अगर अच्छे कार्य तत्काल फल लाते हैं तो अच्छे आदमी का सुख भोगना चाहिये और यदि बुरे कार्यों का परिणाम तत्काल बुरा होता है तो बुरे आदमी को दुख भोगना चाहिये। परन्तु ऐसा कम होता है।

जिन्होने इसे समझने-समझाने की कोशिश की उन्हें मानो एक ही रास्ता मिला। उन्होंने पूर्व जन्म में किए गए पुण्य-पाप के सहारे इस जीवन के सुख-दुख को जोडने की गलती की और कहा कि अगर अच्छा आदमी दुख भोगता है तो वह अपने पिछले बुरे कार्यों के कारण और अगर कोई बुरा आदमी सुख भोगता है तो अपने पिछले अच्छे कर्मों के कारण। लेकिन इस समस्या को सुलझाने के दूसरे उपाय भी थे और असल मे दूसरे उपाय ही सच हैं। पिछले

जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करना कर्मवाद के सिद्धान्त को विकृत करता है। सच पूछिए तो ऐसी ही व्याख्या के कारण कर्मवाद की उपादेयता नष्ट सी हो गई है।

कर्मवाद की उपादेयता इस बात में है कि वह कहता है—तुम जो कर रहे हो वही तुम भोग रहे हो। इसलिये तुम ऐसा करो कि सुख भोग सको, आनन्द पा सको। अगर तुम क्रोध करोगे तो दुःख भोगोगे, भोग रहे हो। क्रोध के पीछे ही दुःख भी आ रहा है छाया की तरह। अगर प्रेम करोगे, शान्ति से रहोगे, और दूसरों को शान्ति दोगे तो शान्ति अर्जित करोगे। यही थी उपयोगिता कर्मवाद की। किन्तु इसकी गलत व्याख्या हो गई। कहा गया कि इस जन्म के पुण्य का फल अगले मे मिलेगा, यदि दुःख है तो इसका कारण पिछले जन्म मे किया गया कोई पाप होगा। ऐसी बातों का चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव नही पडता। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इतने दूरगामी चित्त का नही होता कि वह अभी कर्म करे और अगले जन्म मे मिलने वाले फल से चिंतित हो। अगला जन्म अंधेरे मे खो जाता है। अगले जन्म का क्या भरोसा ? पहले तो यही पक्का नही कि अगला जन्म होगा या नही ? फिर, यह भी पक्का नही कि जो कर्म अभी फल दे सकने में असमर्थ है, वह अगले जन्म मे देगा ही। अगर एक जन्म तक कुछ कर्मों के फल रोके जा सकते हैं तो अनेक जन्मों तक क्यों नही ? तीसरी बात यह है कि मनुष्य का चित्त तत्कालजीवी है। वह कहता है ठीक है, अगले जन्म मे जो होगा, होगा, अभी जो हो रहा है, करने दो। अभी मैं क्यो चिंता करूं अगले जन्म की ?

इस प्रकार कर्मवाद की जो उपयोगिता थी, वह नष्ट हो गई। जो सत्य था, वह भी नष्ट हो गया। सत्य है कार्य-कारण सिद्धान्त जिस पर विज्ञान खडा है। अगर कार्य-कारण को हटा दो तो विज्ञान का सारा भवन धराशायी हो जाय।

ह्यूम नामक दार्शनिक ने इंगलैंड मे और चार्वाक ने भारतवर्ष मे कार्य-कारण के सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना चाहा। अगर ह्यूम जीत जाता तो विज्ञान का जन्म नही होता। अगर चार्वाक जीत जाता तो धर्म का जन्म नही होता, क्योकि चार्वाक ने भी कार्य-कारण के सिद्धान्त को न माना। उसने कहा, "खाओ, पीओ, मौज करो" क्योकि कोई भरोसा नही कि जो बुरा करता है, उसे बुरा ही मिले। देखो, एक आदमी बुरा कर रहा है और भला भोग रहा है। चोर मजा कर रहा है, अचोर दुःखी है। जीवन के सभी कर्म असम्बद्ध हैं। बुद्धिमान आदमी जानता है कि किसी कर्म का किसी फल से कोई सम्बन्ध नही।

चार्वाक के विरोध में ही महावीर का कर्म सिद्धान्त है।

धर्म भी विज्ञान है और वह भी कार्य कारण सिद्धान्त पर खड़ा है। विज्ञान कहता है, "अभी कारण, अभी कार्य।" "परन्तु जब तथाकथित धार्मिक कहते हैं—'अभी कारण, कार्य अगले जन्म में' तो धर्म का वैज्ञानिक आधार खिसक जाता है। यह अन्तराल एक दम झूठ है। कार्य और कारण में अगर कोई सम्बन्ध है तो उसके बीच में अन्तराल नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तराल हो गया तो सम्बन्ध क्या रहा? चीजें असम्बद्ध हो गई, अलग-अलग हो गई। यह व्याख्या नैतिक लोगों ने खोज ली, क्योंकि वे समझ नहीं सके जीवन को।

मेरी अपनी समझ यह है कि प्रत्येक कर्म तत्काल फलदायी है। जैसे—यदि मैंने क्रोध किया तो मैं क्रोध करने के क्षण से ही क्रोध को भोगना शुरू करता हूँ। ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इसका फल भोगूँ। क्रोध का करना और क्रोध का दुःख भोगना साथ साथ चल रहा है। क्रोध विदा हो जाता है लेकिन दुःख का सिलसिला देर तक चलता है। यदि दुःख और आनन्द अगले जन्म में मिलेंगे और उनके लिए प्रतीक्षा करनी होगी तो कहीं किसी को हिसाब-किताब रखने की जरूरत होगी। परन्तु, फल के लिये प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं होती। वह तत्काल मिलता है। हिसाब किताब रखने की जरूरत नहीं होती। इसलिए महावीर भगवान् को भी विदा कर सके। अगर जन्म जन्मान्तर का हिसाब किताब रखना है तो फिर नियन्ता की व्यवस्था जरूरी है। नियन्ता की जरूरत वहाँ होती है जहाँ नियम का लेखा-जोखा रखना पड़ता है। क्रोध मैं अभी करूँ और मुझे फल किसी दूसरे जन्म में मिले तो इसका हिसाब कहाँ रहेगा? इसलिये कुछ लोगों ने कहा—परमात्मा के पास। इन लोगों का परमात्मा महालिपिक है जो हमारे पुण्य-पाप का हिसाब रखता है और देखता है कि नियम पूरे हो रहे हैं या नहीं?

महावीर ने बड़ी वैज्ञानिक बात कही है। उनके अनुसार नियम पर्याप्त हैं, नियन्ता की जरूरत नहीं है। अगर नियन्ता है तो नियम में गड़बड़ी होने की संभावना बनी रहेगी। लोग उसकी प्रार्थना करेंगे, खुशामद करेंगे और वह खुश होकर नियमों में उलट-फेर करता रहेगा। कभी प्रह्लाद जैसे भक्तों को वह आग में जलने न देगा और कभी नाराज होगा तो आग को जलाने की आज्ञा देगा। उसके भक्त को पहाड़ से गिराओ तो उसके पैर नहीं टूटते, किसी दूसरे व्यक्ति को गिराओ तो उनके पैर टूट जाते हैं। प्रह्लाद की कथा पक्षपात की कथा है। उसमें अपने आदमी की फिक्र की जा रही है और नियम के अपवाद बनाये जा रहे हैं। महावीर कहते हैं कि अगर प्रह्लाद जैसे अपवाद हैं तो फिर धर्म नहीं हो सकता। धर्म का आधार समानता है, नियम है जो भगवान् के भक्तों पर उसी बेरहमी से लागू होता है जिस बेरहमी से उन लोगों पर जो उसके भक्त

नही है। यदि अपवाद की बात मान ली जाय तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि क्षय के कीटाणु किसी दवा से न मरें। हो सकता है कि क्षय के कीटाणु भी प्रह्लाद की तरह भगवान् के भक्त हों और कोई दवा काम न करे। यदि धर्म है तो नियम है और अगर नियम है तो नियन्ता मे बाधा पड़ेगी। इसलिये महावीर नियम के पक्ष मे नियन्ता को विदा कर देते है। वे कहते हैं कि नियम काफी है और नियम अखण्ड है। प्रार्थना, पूजा उनसे हमारी रक्षा नही कर सकती। नियम से बचने का एक ही उपाय है कि नियम को समझ लो। यह जान लो कि आग मे हाथ डालने से हाथ जलता है, इसलिये हाथ मत डालो।

महावीर न तो चार्वाक को मानते है और न नियन्ता के मानने वालो को। चार्वाक नियम को तोड़कर अव्यवस्था पैदा करता है और नियन्ता के मानने वाले नियम के ऊपर किसी नियन्ता को स्थापित कर अव्यवस्था पैदा करते है। महावीर पूछते हैं कि यह भगवान् नियम के अन्तर्गत चलता है या नही ? अगर नियम के अन्तर्गत चलता है तो उसकी जरूरत क्या है ? यानी अगर भगवान् आग मे हाथ डालेगा तो उसका हाथ जलेगा कि नहीं ? अगर जलता है तो वह भी वैसा ही है जैसा हम हैं, अगर नही जलता है तो ऐसा भगवान् खतरनाक है। यदि हम उससे दोस्ती करेगे तो आग मे हाथ भी डालेंगे और शीतल होने का उपाय भी कर लेंगे। इसलिये महावीर कहते हैं कि नियम को न मानना अवैज्ञानिक है और नियन्ता की स्वीकृति नियम मे बाधा डालती है। विज्ञान कहता है कि किसी भगवान् से हमे कुछ लेना-देना नही, हम तो प्रकृति के नियम खोजते है। ठीक यही बात ढाई हजार साल पहले महावीर ने चेतना के जगत् में कही थी। उनके अनुसार नियम शाश्वत, अखण्ड और अपरिवर्तननीय है। उस अपरिवर्तनीय नियम पर ही धर्म का विज्ञान खड़ा है। यह असम्भव ही है कि एक कर्म अभी हो और उसका फल अगले जन्म मे मिले। फल इसी कर्म की शृंखला का हिस्सा होगा जो इसी कर्म के साथ मिलना शुरू हो जायगा। हम जो भी करते है उसे भोग लेते हैं। यदि मेरी अशान्ति पिछले जन्म के कर्मो का फल है तो मैं इस अशान्ति को दूर नही कर सकता। इस प्रकार मैं एक दम परतन्त्र हो जाता हूँ और गुरुओं के पास जाकर शान्ति के उपाय खोजता हूँ। मगर सही बात यह है कि जो मैं अभी कर रहा हूँ, उसे अनक्रिया करने की सामर्थ्य भी मुझ में है। अगर मैं आग मे हाथ डाल रहा हूँ और मेरा हाथ जल रहा है, और अगर मेरी मान्यता यह है कि पिछले जन्म के किसी पाप का फल भोग रहा हूँ तो मैं हाथ डाले चला जाऊँगा, क्योकि पिछले जन्म के कर्म को मै बदल कैसे सकता हूँ ? जिन गुरुओं की यह मान्यता है कि पिछले जन्म के किसी कर्म के कारण मेरा हाथ जल रहा है, वे यह नही कहेगे कि हाथ बाहर खीचो तो जलना बन्द हो जाय। इसका मतलब यह हुआ कि हाथ अभी डाला जा रहा है और अभी डाला गया हाथ बाहर खीचा जा सकता है,

लेकिन पिछले जन्म मे डाला गया हाथ आज कैसे बाहर खींचा जा सकता है? हमारी इस व्याख्या ने कि अनन्त जन्मो तक कर्म के फल चलते हैं, मनुष्य को एक दम परतन्त्र कर दिया है। किन्तु मेरा मानना है कि सब कुछ किया जा सकता है इसी वक्त, क्योंकि जो हम कर रहे हैं, वही हम भोग रहे है।

जिन्दगी की विषमता को समझने के लिये ऊटपटाग व्यवस्थाएँ गढ ली जाती हैं। मेरी समझ मे यदि कोई बुरा आदमी सफल होता है, सुखी है तो इसका भी कारण है। मैं बुरे आदमी को एक बहुत बडी जटिल घटना मानता हूँ। हो सकता है, वह झूठ बोलता हो, बेईमानी करता हो, लेकिन उसमे कुछ और गुण होंगे जो हम दिखाई नही पडते। वह साहसी हो सकता है बुद्धिमान हो सकता है, एक एक कदम को समझकर उठाने वाला हो सकता है। उसके एक पहलू को देखकर ही कि वह बेईमान है, आपने निर्णय करना चाहा तो आप गलती कर लेंगे। हो सकता है कि अच्छा आदमी चोरी न करता हो, बेइमानी भी न करता हो, लेकिन वह कायर हो। बुद्धिमान आदमी के लिये अच्छा होना अक्सर मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान आदमी अच्छा होने के लिये मजबूर होता है। मेरी मान्यता है कि सफलता मिलती है साहस से। अगर बुरा आदमी साहसी है तो सफलता ले आयगा। अच्छा आदमी अगर साहसी है तो वह बुरे आदमी की अपेक्षा हजार गुनी सफलता ले आयेगा। सफलता मिलती है बुद्धिमानी से। अगर बुरा आदमी बुद्धिमान है तो उसे सफलता मिलेगी ही। अगर अच्छा आदमी बुद्धिमान है तो उसे हजार गुनी सफलता मिलेगी। लेकिन सफलता अच्छे भर होने से नही आती। सफलता आती है, बुद्धिमानी से, विचार से विवेक से। कोई आदमी अच्छा हैं, मन्दिर जाता है, प्रार्थना करता है, लेकिन उसके पास पैसे नही हैं। अब मन्दिर जाने और प्रार्थना करने से पैसा होने का क्या सम्बन्ध? अगर कोई अच्छा आदमी यह कहे कि मैं सुखी नही हूँ, क्योंकि मैं अच्छा हू और वह दूसरा आदमी सुखी है क्योंकि वह बुरा है तो अच्छा दीखने वाला वह आदमी बुरे होने का सबूत दे रहा है। वह ईर्ष्या से भरा हुआ आदमी है। बुरे आदमी को जो-जो मिला है वह सब पाना चाहता है और अच्छा रहकर पाना चाहता है। ऐसी आकाक्षा ही बडी बेहूदी है। यदि बुरे आदमी ने दस लाख रुपये कमा लिये तो इसके लिये उसने बुरे होने का सौदा चुकाया, बुरे होने की पीडा झेली, बुरे होने का दंश झेला। अच्छा आदमी मन्दिर में पूजा करना चाहता है घर मे बैठना चाहता है और बुरे आदमी को दस लाख रुपये मिले हैं वह भी चाहता है, जब उसे रुपये नही मिलते तो कहता है कि मैं अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों का फल भोग रहा हूँ। उसे झूठी सान्त्वना भी मिलती है कि वहाँ वह अगले जन्म मे स्वर्ग मे होगा वही वह बुरा आदमी नरक मे।

मैं कहता हूँ कि कर्म का फल तत्काल मिलता है, लेकिन कर्म बहुत जटिल बात

है। साहस भी कर्म है और उसका भी फल होता है। साहसहीन भी कर्म है और उसके भी फल हैं। इसी प्रकार बुद्धिमानी भी कर्म है, बुद्धिहीनता भी कर्म। इनके भी अपने-अपने फल है। यदि असफलता के कारण उनके भीतर होंगे तो अच्छे आदमी भी असफल हो सकते है। बुरे आदमी भी सुखी हो सकते हैं यदि सुख के कारण उनके भीतर वर्तमान होंगे। किसी और का दु.ख तो हमें दिखता नही, दु.ख सिर्फ अपना और सुख सदा दूसरे का दिखता है। ऐसे ही शुभ कर्म हमे अपना और अशुभ कर्म दूसरे का दिखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म को शुभ मानता है, क्योकि इससे उसके अहकार की तृप्ति होती है। सुख के हम आदी होते जाते हैं, दु ख के कभी आदी नही हो पाते। आदमी दूसरे का देखता है अशुभ और सुख, अपना देखता है शुभ और दु.ख। उपद्रव हो गया तो वह कर्म-वाद के सिद्धान्त का आश्रय लेता है। मेरी मान्यता यह है कि अगर वह सुख भोग रहा है तो उसमें कुछ ऐसा जरूर है जो सुख का कारण है, क्योकि अकारण कुछ भी नही होता। अगर एक डाकू सुखी है तो उसका भी कारण है। साधु के दु:खी होने का भी कारण है। अगर दस डाकू साथ होंगे तो उनमे इतना भाई-चारा होगा जितना दस साधु मे कभी सुना नही गया। लेकिन अगर दस डाकुओ मे मित्रता है तो वे मित्रता के सुख अवश्य भोगेगे, लेकिन साधु एक दूसरे से बिल्कुल झूठ बोलते रहेगे। तब सच बोलने का जो सुख है वह साधु नही भोग सकता।

अन्त मे मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अकस्मात् कुछ भी नही होता। यदि कुछ घटनाओ को अकस्मात् होता मान लें तो कार्य-कारण का सिद्धान्त व्यर्थ हो जाता है। यहाँ तक कि लाटरी भी किसी को अकस्मात नहीं मिलती। हो सकता है कि जिन लाख लोगो ने लॉटरी लगाई उनमे सबसे ज्यादा सकल्प वाला आदमी वही हो जिसे लॉटरी मिली। ऐसे ही हजार कारण हो सकते है जो हमे दीख नही पड़ते। वस्तुत: उस घटना को ही अकस्मात् कहते हैं जिसके कारण का हमे पता नही होता। ऐसी घटनाए होती है जिनका कारण हमारी समझ मे नही आता। जीवन सचमुच बहुत जटिल है। इसमें कोई घटना कैसे घटित हो रही है यह ठीक-ठीक कहना एकदम मुश्किल है, लेकिन इतना तो निश्चित है कि जो घटना हो रही है उसके पीछे कोई न कोई कारण है, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। कर्म के सिद्धान्त का बुनियादी आधार यह है कि अकारण कुछ भी नही होता। दूसरा बुनियादी आधार यह है कि जो हम कर रहे है वही भोग रहे है और उसमे जन्मो के फासले नही हैं। हमें जानना चाहिये कि हम जो भोग रहे है, उसके लिए हमने कुछ उपाय किया है, चाहे सुख हो या दु ख, चाहे शान्ति हो या अशान्ति।

□□□

४१ ध्यान और कर्मयोग

☐ श्री जी० एस० नरवानी

एक महात्मा से किसी ने पूछा कि भगवन ! मनुष्य के लिए भजन मुख्य है अथवा कर्त्तव्य पालन मुख्य है ? सभी धर्म बतलाते हैं कि ईश्वर का भजन जीवन के लिए अति आवश्यक है पर विद्वान, ज्ञानी और कर्मशील व्यक्ति यही बताते हैं कि कर्म ही पूजा है। वास्तविकता क्या है ?

महात्मा ने बताया कि मनुष्य का मुख्य धर्म अपना कर्त्तव्य करना ही है। जिन्होंने 'गीता' का कुछ अध्ययन किया है, वे यही जानते हैं कि बिना फल की इच्छा रखते हुए, बिना आसक्ति या मोह के कर्म करना ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। संसार में हर बुद्धिमान प्राणी अच्छे कर्म करना चाहता है, सत्य बोलना चाहता है, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, चोरी नहीं करना चाहता, पवित्र रहना चाहता है, सुखी व शांत रहना चाहता है, किसी से ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखना चाहता, क्रोध से दूर रहना पसंद करता है, काम को बुरा मानता है, लोभी व लालची मनुष्य को बुरा समझता है, संसार में मोह रखना व्यर्थ मानता है। पर यह सब चाहते हुए भी व जीवन में इन गुणों की उपयोगिता समझते हुए भी, क्या उसका आचरण उसके चाहे अनुकूल हो पाता है ? मनुष्य अनजाने में, अनचाहे परिस्थिति वश, किसी कारण वश कैसे कैसे कुकृत्य कर बैठता है जिन्हें वह स्वप्न में भी करने से झिझकता है। आखिर क्यों ?

इसका कारण यही है कि हमने ईश्वर का ध्यान नहीं किया। इन चीजों को हमने ऊपरी मन से, बाहरी मन से तो करना चाहा पर मन में शक्ति थी नहीं इसलिए हम इन्हें पूरा नहीं कर पाए। महात्मा गाँधी का उदाहरण हमारे सामने है। एक दुबला पतला आदमी बिना हथियार विदेशी सरकार के कानून तोड़ता रहा क्योंकि उसके मन में ईश्वर की शक्ति थी। उन्होंने लिखा है कि—'मैं अपने हर दिन का काम ईश्वर भजन से प्रारम्भ करता हूँ, पूरे दिन का भावी कार्यक्रम भी उसी ईश्वर की प्रेरणा से निश्चित करता हूँ, उसी राम के प्रकाश में मुझे यह भी दीख जाता है कि इस कार्य को पूरा करने का, असली जामा पहिनाने का रास्ता क्या है ? और फिर इस प्रकार सुनिश्चित कर्त्तव्य का पालन करने की शक्ति भी मुझे मेरे राम से मिलती है, मेरा राम नाम सब बीमारियों की अचूक औषधि है।'

कर्त्तव्य के ठीक-ठीक निभाने के लिए ही ईश्वर-उपासना की आवश्यकता है और अगर थोडा आगे सोचा जाए तो कर्त्तव्य के पालन को तो दूर, कर्त्तव्य के ठीक-ठीक ज्ञान के लिए भी परमात्मा का भजन करना प्रथम और अनिवार्य शर्त है । कर्त्तव्य पालन करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :—

१. सही कर्त्तव्य का ज्ञान ।

२ कर्त्तव्य पालन करने या निभाने के सही रास्ते का ज्ञान ।

३. कर्त्तव्य पालन करने के लिए शक्ति ।

इन बातो का जीवन में आना ईश्वर की उपासना से ही संभव है । सच तो यह है कि कर्त्तव्य पालन को हम जितना आसान समझ बैठे हैं उतना बिना ईश्वर भजन के—आसान नहीं । कर्त्तव्य की बलिवेदी पर बलिदान होना बच्चों का खिलवाड़ नही, मात्र पुस्तकीय ज्ञान, पाडित्य व विद्वता से संभव नहीं ।

ईश्वर के ध्यान से जब मनुष्य के विचार शात होने लगते है, तो आत्म-निरीक्षण द्वारा मनुष्य को अपनी कमियाँ दिखने लगती हैं । ध्यान से छोटी-से-छोटी कमी भी उभर कर सामने आ जाती है और मनुष्य उसे दूर करने की सोचता है । ध्यान करते-करते मन मे मलिन सस्कार दग्ध होते रहते है, मन साफ होने लगता है, विचार पवित्र होते है, बुद्धि तीव्र होती है, विवेक प्रबल होने लगता है और आत्मा का प्रकाश मन मे फैलने लगता है । ऐसे धर्म के प्रकाश मे ही मनुष्य को सही कर्त्तव्य का ज्ञान होता है । सूर्य के प्रकाश मे किये गए फैसले गलत हो सकते हैं, परन्तु ईश्वर के प्रकाश मे अंधे भी सही निर्णय करते है ।

अपने कर्त्तव्य का बोध या ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसे निभाने के सही रास्ते का ज्ञान भी होना चाहिए । यदि कर्त्तव्य पालन करने का रास्ता ठीक नही है अथवा अन्यायपूर्ण है तो निश्चय ही कर्त्तव्य-पालन से जो शाति व आनन्द हमे मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकेगा ।

हम ससार मे अक्सर देखते है कि कर्त्तव्य का बोध होने के बावजूद व सही रास्ता मालूम होने के बावजूद कई मनुष्य कर्त्तव्य करने से चूक जाते हैं । उनमे हिम्मत नही होती । वे परिस्थितियो से या स्वार्थवश घबरा जाते हैं । अतः कर्त्तव्य परायणता की आवश्यकता होती है, वह भी ईश्वर के गहरे ध्यान से ही प्राप्त होती है । ईश्वर का ध्यान करते-करते जब मनुष्य के हृदय मे भगवान् बस जाता है तो उसमे स्वतः आत्म-शक्ति का, अदम्य साहस का, पूर्ण निर्भयता का भी विकास होता है । गांधीजी ने अपने रोम-रोम मे राम को

बसा लिया था, इसलिए कर्त्तव्य मार्ग पर हमेशा डटे रहे व निर्भयता से आगे बढते रहे।

अत मनुष्य को रोजाना प्रात एव साय ईश्वर के ध्यान द्वारा उनकी समीपता प्राप्त करनी चाहिए जिससे कि सच्चा ज्ञान मिलता रहे, कर्त्तव्य-बोध होता रहे एव विवेक जागत होता रहे व आत्मा सशक्त एव बलवान बनती रहे। अन्य समय में, प्रात उठते समय, रात को सोते समय कोई वस्तु खाते या पीते समय, अकेले घूमते समय, फालतू क्षणो मे मनुष्य को मानसिक चिंतन के द्वारा ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए, समीपता प्राप्त करते रहना चाहिए व ईश्वर से ज्ञान का प्रकाश, शाति, आनन्द प्राप्त करते रहना चाहिए। ईश्वर तो वास्तव मे तत्त्व है, एक शक्ति है जिसका न कोई नाम है न रूप, जो हमने रख लिया या मान लिया वही ठीक है। वही ईश्वर शक्ति हमारे मन के सस्कारो को साफ करेगी ससार के गदे विचारो की धूल साफ करेगी। उससे हमारा मन का शीशा साफ रहेगा व हम सही कर्त्तव्य-बोध होता रहेगा। ज्ञान और विवेक के जागृत होने के साथ साथ ईश्वरीय शक्ति भी ध्यान के द्वारा खीचनी होगी ताकि हम कर्त्तव्य निभाने में सफल हो सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कर्म अथवा कर्त्तव्य ही सच्ची पूजा है परन्तु बिना ध्यान या ईश्वर-उपासना के न तो सही कर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है, न उसके निभाने के सही रास्ते का ज्ञान हो पाएगा और न ही कर्त्तव्य-पालन हेतु शक्ति प्राप्त हो सकेगी। ☐

☐ प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म अपने अपने स्थान पर महान हैं परन्तु वाय ? जब कर्म के पीछे जो भाव हैं वह पवित्र हो भाव के पीछे जो ज्ञान है वह उद्देश्य पूर्ति मे हेतु हो और उद्देश्य वह हो जिसके आगे और कोई उद्देश्य न हो। अत प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म द्वारा अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति अनिवार्य हैं।

☐ अपवित्र उपाय से पवित्र उद्देश्य पूर्ति की आशा करना भूल हैं क्योंकि की हुई अपवित्रता मिटाई नहीं जा सकती और उसका परिणाम ठ बचा नहीं जा सकता अपितु अपवित्र उपाय का परिणाम पवित्रतम उद्देश्य को मलीन बना देगा। अत पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र उपाय का ही अनुसरण अनिवार्य हैं।

४२

कर्मवाद और आधुनिक चिंतन

□ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

कर्मवाद को सिद्धान्त माना जाए या दर्शन, इसमें मतभेद हो सकता है। मैं इसे एक वाद या विचार मानता हूँ, क्योंकि वह जड़ और चेतन के बंध और मोक्ष की प्रक्रिया का विचार करता है। विकास की प्रारम्भिक स्थितियाँ पार कर, जब मानव जाति ने सामाजिक जीवन शुरू किया और धार्मिक तथा राजनैतिक दृष्टियों से उसमें ठहराव आया तो भाषा के साथ उसमें विचार चेतना विकसित हुई। सृष्टि और जन्म-मृत्यु के रहस्यों को जानने की तीव्र इच्छा ने कई प्रश्न खड़े कर दिए। जैसे यह सृष्टि अपने आप बनी, या किसी ने इसे बनाया? उसका कारोबार स्वतः चल रहा है, या वह किसी अदृश्य शक्ति से नियन्त्रित है? जीव क्या है, कहाँ से आता है, और कहाँ जाता है? वह स्वतंत्र तात्त्विक इकाई है, या कई तत्त्वों का मिश्रण है? उसमें इच्छाएँ क्यों पैदा होती हैं, वे अपने आप पैदा होती हैं या कोई पैदा करता है? आहार, निद्रा, भय और मैथुन की जैविक आवश्यकताएँ क्यों जीव के साथ जुड़ी हैं? आदमी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जितने उपकरण जुटाता है, वे उतनी ही फैल-फैलाती जाती हैं, पूर्ति के सन्तोष के स्थान पर अपूर्ति का असंतोष तीव्रतर होता जाता है, पूर्ति के साधनों की होड़ में शोषण की सभ्यता शुरू हो जाती है। उसने जानना चाहा कि क्या आहार, निद्रा की दैनिक झंझटों वाले तथा जन्म-मृत्यु की काराओं में बद्ध जीवन के स्थान पर ऐसा जीवन पाया जा सकता है, जहाँ सब कुछ अनंत हो, प्रचुर हो, स्वकेन्द्रित हो, आनन्दमय हो?

इस प्रकार अनंत और शाश्वत जीवन की खोज में मनुष्य ने पाया कि इच्छामय जीवन से छुटकारे के बाद ही, शाश्वत जीवन पाया जा सकता है। अपने विचारों को निश्चित दिशा देने के लिए उसने कुछ पूर्व कल्पनाएँ कीं। किसी ने माना कि सृष्टि और जीव किसी नियता के अधीन हैं, वही इनसे मुक्ति दिला सकता है, इसलिए उसका साक्षात्कार जरूरी है। दूसरे ने माना कि यह सृष्टि एक सनातन प्रवाह है जिसका न आदि है और न अंत। प्रवाह के कारणों को रोक देने से, आत्मा प्रवाह से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। कुछ ने यह माना कि आत्मा कुछ और नहीं, कई तत्त्वों के मेल से बनी इच्छा की ज्वाला है, दीपक की लौ की तरह उसका शांत हो जाना ही उसकी

चरम स्थिति या निर्वाण है। लेकिन ये विचार किसी पूर्व कल्पना (Prethesis) को मूल मानकर चलते हैं, जिसके बारे मे सभी दार्शनिको का विचार है कि वह ईश्वर या सर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट सत्य है यह सत्य हो सकता है, परन्तु इस सत्य को पाने की प्रक्रिया का विचार करने वालो के लिए वह, एक पूर्वकल्पित सत्य ही होगा, क्योंकि वे यह दावा नही करते कि उन्होने उक्त सत्य का साक्षात्कार कर लिया है।

जैन दर्शन के विचारक भी यह मानकर चलते हैं कि सृष्टि और उसमे जड चेतन का मिश्रण अनादि निधन है, यानी वह प्रारम्भ हीन सतत प्रवाह है। जीवन की सारी विषमताएँ और समस्याएँ—इसी मिश्रण की प्रतिक्रियाएँ है, वे वभाविक परिणतिया हैं, राग चेतना की निष्पत्तियाँ हैं, जो जीव के साथ इतनी घुल मिल गई हैं कि 'जीव' इन्ही के माध्यम से अपने को पहचानता है। उसकी यह पहचान जितनी गाढी होती है, उसे सुख दुख की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है। रागात्मक परमाणु चेतना के प्रत्येक गुण पर आवरण डाल देते हैं, और वह दुखी हो उठती है, अनुकूल स्थिति मे सुखी भी होती है। इस प्रकार व्यक्ति के सुख दुख का कारण, उसी मे है न कि समाज या बाहरी परिस्थितियों मे। अपने सुख दुख का कर्ता और भोक्ता व्यक्ति स्वय है, जिन कर्मों से यह होता है, उनका कर्ता वह स्वय है। इस प्रकार ऊपर से देखने पर कमवाद-व्यक्ति को करने की स्वतत्रता देता है और उससे मुक्त होने का अधिकार भी। परन्तु मूलत यह प्रक्रिया अत्यत जटिल है, और एक बार जीव जब कम के जजाल म फस जाता है (या फसा दिया गया है) तो उससे छूटना आसान नही है। फिर भी कमवाद मे व्यक्ति को मुक्त होने की स्वतत्रता है। लेकिन यह सारी विचारधारा, समाज निरपेक्ष विचारधारा है, जो मनुष्य को लौकिक दृष्टि से उदासीन और आत्म केन्द्रित बना देती है उस पर यह बहुत बडा आक्षेप है। यह प्रवृत्ति मनुष्य को अकमण्य और सामाजिक सघर्ष से निरपेक्ष बना देती है, जबकि आधुनिक चिंतन इस विचारधारा को समाज के लिए अत्यत खतरनाक मानता है।

वास्तव में देखा जाए तो दूसरे भारतीय दर्शनो की तरह जैन कमवाद भी इसी प्रवृत्ति का पोषक है। यानी उसके अनुसार व्यक्ति के नैतिक विकास से समाज और राष्ट्र का विकास स्वत हो जाएगा। यह मान्यता, इतिहास के उतार चढाव मे कई बार झुठलाई जा चुकी है। इससे बडी विडम्बना और क्या हो सकती है कि आत्म स्वातन्त्र्य की अलख जगाने वाला देश सहस्राब्दियो तक भौतिक गुलामी की बेडिया मे जकडा रहा, जिसकी दूसरी मिसाल नही मिलती।

आधुनिक चिंतन की परिभाषा को लेकर परन्तु

यह सब स्वीकारते है कि सुख-दुःख, गरीबी-अमीरी के कारण हमारी समाज व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था मे मौजूद हैं। पुण्य-पाप, ऊँच-नीच के विचार को सामाजिक न्याय मे आडे नहीं आना चाहिए। परन्तु वह आता है। जैन कर्मवाद, इस सम्बन्ध मे यथास्थिति वाद को स्वीकार करके चलना है। सबने बड़ा आक्षेप यह है कि कर्मवाद दृश्य समस्याओं के लिए अदृश्य कारणों को जिम्मेदार मानता है। दूसरा आक्षेप यह है कि कर्म प्रक्रिया इतनी जटिल है कि वह सामान्य बुद्धि के परे हैं। कर्मवाद का प्रयोग व्यक्ति स्तर पर किया गया, वह भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए। संसार या समाज व्यवस्था को बदलने की दिशा मे उक्त वाद का कभी प्रयोग नही किया गया। यह भूलना भयावह होगा कि कर्मवाद जीवन की स्वीकृति है, उससे पलायन नहीं, वीतरागता का मार्ग रागात्मकता मे से गुजरता है, मोक्ष, रागवृक्ष का फल है, फल पाने के लिए वृक्ष की पूरी संरचना की उपेक्षा का वही परिणाम होगा जो हम देख रहे हैं।

• ☐ •

☐ प्रत्येक कर्म ही कर्ता का चित हैं। अत. कर्ता की सुन्दरता तथा असुन्दरता का परिचय उसके किये हुए कर्म से ही व्यक्त होता हैं, सुन्दर कर्ता के बिना सुन्दर कार्य सम्भव नही हैं। कर्ता वही सुन्दर हो सकता हैं कि जिसका कर्म 'पर' के लिए हित-कर सिद्ध हो तथा किसी के लिए अहितकर न हो। अतः कार्यारम्भ से पूर्व यह विकल्प-रहित निर्णय कर लेना चाहिये कि उस कार्य का मानव-जीवन में स्थान ही नही हैं जो किसी के लिए भी अहितकर हैं। अहितकर कार्य का अर्थ हैं कि जो किसी के विकास में बाधक हो।

☐ प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन का दायित्व तब तक रहता ही हैं जब तक कर्ता के जीवन से अशुद्ध तथा अनावश्यक सकल्प नष्ट न हो जाय, आवश्यक तथा शुद्ध सकल्प पूरे होकर मिट न जाय, सहज भाव से निर्विकल्पता न आ जावे, अपने आप आयी हुई निर्विकल्पता से असगता न हो जाय तथा असगतापूर्वक प्राप्त स्वाधीनता को समर्पित कर जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाय। कर्त्तव्य-पालन से अपने को बचाना भूल हैं। अत प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य हैं।

---

४३ कर्म का सामाजिक सदर्भ

☐ डॉ० महावीर सरन जैन

आध्यात्मिक दृष्टि से कम सिद्धात पर बडी गहराई से विचार हुआ है। उसके सामाजिक सन्दर्भों की प्रासगिकता पर भी विचार करना अपेक्षित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति माया के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियो के वशीभूत होकर मन, वचन, काय से कर्मों का सचय करता है। जसे दूध और पानी परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ही कम पुद्‌गल के परमाणु आत्म-प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लोह पिंड को अग्नि म डाल देने पर उसके कण कण मे अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असख्यात प्रदेशो पर अन त-अन त कम वर्गणा के पुद्‌गल सश्लिष्ट हो जाते हैं।

जीव अनादि काल से ससारी है। दैहिक स्थितिया से जकडी हुई आत्मा के क्रियाकलापा मे शरीर (पुद्‌गल) सहायक एव बाधक होता है। आत्मा का गुण चत य और पुदगल का गुण अचत य है। आत्मा एव पुदगल भिन्न धर्मी हैं फिर इनका अनादि प्रवाही सम्ब ध है। आत्मा एव शरीर के सयोग से "वभाविक गुण" उत्पन्न हाते हैं। ये हैं—पौद्‌गलिक मन, श्वास—प्रश्वास, आहार, भाषा। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के हैं। दोनो के सयोग से ही ये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के समय श्वास-प्रश्वास, आहार एव भाषा के गुण तो समाप्त हो जाते हैं किन्तु पुद्‌गल कम के आत्म प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाने के कारण एक "पौदगलिक शरीर" उसके साथ निर्मित हो जाता है जो देहा तर करते समय उसके साथ रहता है।

स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द रूप मूत पुद्‌गलो का निमित्त पाकर अर्थात् शरीर की इन्द्रियो द्वारा विषयो का ग्रहण करने पर आत्मा राग द्वेष एव मोह रूप में परिणमन करती है। इसी से कर्मों का ब धन होता है। कर्मों का उत्पादक मोह तथा उसके बीज राग एव द्वेष हैं। कम की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो जाता है। कर्मों के ब धन से आत्मा की विरूप अवस्था हो जाती है। ब धनो का अभाव अथवा आवरणो का हटना ही मुक्ति है। मुक्ति की दशा मे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप अवस्था मे स्थित हो जाती है।

इस तथ्य को भारतीय-दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के "आवरणों" को भिन्न नामों द्वारा व्यक्त किया गया है किन्तु मूल अवधारणा में अन्तर नहीं है। आत्मा के आवरण को जैन दर्शन कर्म-पुद्गल, बौद्ध-दर्शन तृष्णा एवं वासना, वेदान्त-दर्शन अविद्या-अज्ञान के कारण माया तथा योग-दर्शन 'प्रकृति' के नाम से अभिहित करते हैं।

आवरणों को हटाकर मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? कर्तावादी-सम्प्रदाय परमेश्वर के अनुग्रह, शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय को इसके हेतु मान लेते है। जो दर्शन जीव में ही कर्मों को करने की स्वातंत्र्य शक्ति मानकर जीवात्मा के पुरुषार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा कर्मानुसार फल-प्राप्ति में विश्वास रखते हैं, वे साधना-मार्ग तथा साधनों पर विश्वास रखते हैं। कोई शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान करता है, कोई श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश देता है। जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य के सम्मिलित रूप को मोक्ष-मार्ग का कारण मानता है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है। जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वैसा ही कर्म-फल भोगता है। इसी कारण सभी जीवों मे आत्म शक्ति होते हुए भी वे कर्मों की भिन्नता के कारण जीवन की नानागतियो, योनियो, स्थितियो मे भिन्न रूप मे परिभ्रमित हैं। यह कर्म का सामाजिक संदर्भ है। सामाजिक स्तर पर 'कर्मवाद' व्यक्ति के पुरुषार्थ को जागृत करता है। यह उसे सही मायने मे सामाजिक एव मानवीय बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसमे नैतिकता के संस्कारो को उपजाता है। व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है तथा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। राग-द्वेष वाला पापकर्मी जीव संसार मे उसी प्रकार पीड़ित होता है जैसे विषम मार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति। प्राणी जैसे कर्म करते हैं, उनका फल उन्हे उन्ही के कर्मों द्वारा स्वत: मिल जाता है। कर्म के फल भोग के लिए कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नही है। समान स्थितियो मे भी दो व्यक्तियो की भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ कर्म-भेद को स्पष्ट करती है।

कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे है। हमे कर्म करने ही पडेंगे। शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्म-वर्गणा के परमाणु आत्म-प्रदेश की ओर आकृष्ट होगे ही। तो क्या हम क्रिया करना बन्द करदे? क्या फिर कोई व्यक्ति जीवित रह सकता है? क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन चल सकता है? खेती कैसे होगी? कल कारखाने कैसे चलेंगे? वस्तुओ का उत्पादन कैसे होगा? क्या कर्म हीन स्थिति मे कोई जिन्दा रह सकता है।

धम का मूल क्षण हिंसा है। अहिंसा से बढकर दूसरी कोई साधना नही है। इसी अहिंसा के व्यावहारिक जीवन मे पालन करने के सम्बन्ध मे भगवान् महावीर के समय म भी जिज्ञासायें उठी थी। जल मे जीव हैं, स्थल पर जीव है, आकाश मे भी सवत्र जीव हैं। जीवो से ठसाठस भरे इस लोक मे भिक्षु अहिंसक कसे रह सकता है ? हम कम करने ही पडेंगे। माग मे चलते हुए अनजाने यदि कोई जीव आहत हो जावे तो क्या वह हिंसा हो जावेगी ? यदि वह हिंसा है तो क्या हम अकमण्य हो जावें ? क्रिया करनी ब द करदें ? ऐसी स्थिति मे समाज का काय किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है ?

महावीर ने इन जिज्ञासाओ का समाधान किया। उन्होने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। उन्होंने लोक के जीव मात्र के उद्धार का वैज्ञानिक माग खोज निकाला। उन्होंने ससार मे प्राणिया के प्रति आत्मतुल्यता-भाव की जागृति का उपदेश दिया, शत्रु एव मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखने का शखनाद किया।

यहाँ आकर आध्यात्मिक दृष्टि एव सामाजिक दृष्टि परस्पर पूरक हो जाती हैं। आत्मा का साक्षात्कार करना है। आप क्या हैं ? "मैं"। इस "मैं" को जिस चेतना शक्ति के द्वारा जानते हैं वही आत्मा ह। बाकी अन्य सभी 'पर" हैं। अपने को अन्यो से निकाल लो—शुद्ध आत्मा के स्वरूप म स्थित हो जाओ। आत्म साक्षात्कार का दूसरा रास्ता भी ह। अपने को अन्य सभी मे बाँट दो। समस्त जीवो पर मत्रीभाव रखो। सम्पूरण विश्व को समभाव से देखने पर साधक के लिए न कोई प्रिय रह जाता है न कोई अप्रिय। अपने को अन्या मे बाँट देने पर आत्म तुल्यता की प्रतीति होती है। जा साधक आत्मा को आत्मा से जान लेता है, वह एक को जानकर सबको जान लता है। एक को जानना ही सबको जानना है तथा सबको समभाव स जानना ही अपने को जानना है। दोनो ही स्थितियाँ केवल नामान्तर मात्र हैं। दाना म ही राग-द्वेष के प्रसगा म सम की स्थिति है, राग एव द्वेष से अतीत होने की प्रक्रिया है। राग-द्वेष हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढी है। इसी कारण भगवान् महावीर न कहा कि भव्यात्माओ को चाहिए कि वे समस्त ससार का समभाव से देखें। किसी को प्रिय एव किसी को अप्रिय न बनावें। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

समभाव एव आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अपने आप अहिंसक हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। सबका अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणिया को दु ख अप्रिय है। इस कारण किसी

भी प्राणी को मारना तथा दु.ख पहुँचाना हिंसा है तथा किसी भी प्राणी को न मारना तथा उसे दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है।

इसका व्यक्ति की मानसिकता के साथ सम्बन्ध है। इस कारण महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है। एक किसान अपनी क्रिया करते हुए यदि अनजाने जीव हिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुडती नही है। भले ही हम किसी का वध न करे, किन्तु किसी का वध करने का विचार यदि हमारे मस्तिष्क मे आ जाता है तो उसका सम्बन्ध हमारी मानसिकता से सम्पृक्त हो जाता है।

इसी कारण कहा गया है कि राग-द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा एवं उसका प्रादुर्भाव हिसा है। राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति मे अशक्य कोटि के प्राणियों का प्राणवध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिसा नही होती, राग-द्वेष सहित प्रवृत्ति से प्राणवध न होने पर भी हिसा होती है।

हिंसा अधर्म का प्रतीक है तथा अहिंसा धर्म का। हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिसा से मानवीयता एव सामाजिकता का। दूसरो का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरो का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एव मानवीय बनाया है। प्रकृति से वह आदमी है। ससारी है। राग-द्वेष युक्त है। कर्मो के बन्धनो से जकड़ा हुआ है। उसके जीवन मे राग के कारण लोभ एवं काम की तथा द्वेष के कारण क्रोध एव वैर की वृत्तियो का संचार होता है। लोभ के कारण बाह्य पदार्थो मे हमारी आसक्ति एव अनुरक्ति बढती जाती है। काम से माया एव मोह बढता है। माया से दम्भ अहकार एव प्रमाद बढता है। मोह से आसक्त अज्ञानी साधक विपत्ति आने पर धर्म के प्रति अवज्ञा करते हुए पुनः पुनः संसार की ओर लौट पडते है। क्रोध एव वैर के कारण सघर्ष एव कलह का वातावरण पनपता है। एक ओर अहकार से क्रोध उपजता है, दूसरी ओर अहंकार के कारण क्रोध का विकास होता है। क्रोध के अभ्यास से व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है। उसका जीवन दर्शन विध्वंसात्मक हो जाता है। उसकी मानवीयता एव सामाजिकता नष्ट हो जाती है।

धार्मिक चेतना एव नैतिकता बोध सें व्यक्ति मे मानवीय भावना का विकास होता है। उसका जीवन सार्थक होता है।

आज व्यक्ति का धर्मगत आचरण पर से विश्वास उठ गया है। पहले के व्यक्ति की जीवन की निरन्तरता एव समग्रता पर आस्था थी। उसका यह विश्वास था कि व्यक्ति के कर्म का प्रभाव उसके अगले जन्म पर पड़ता है। वह यह मानता था कि वर्तमान जीवन की हमारी सारी समस्याएँ हमारे अतीत के

जीवन के कर्मों का फल है। वतमान जीवन के ग्राचरण के द्वारा हमारे भविष्य का स्वरूप निर्धारित होगा। वह वतमान जीवन को साधन तथा भविष्य को साध्य मानकर चलता था। पुनजन्म के विश्वास की आधार भूमि पर ही 'कर्मों के फल' के सिद्धात का प्रवतन हुआ।

ग्राज के व्यक्ति की दष्टि 'वतमान' को ही सुखी बनाने पर ह। वह ग्रपने वतमान को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता ह। अपनी सारी इच्छाओ को इसी जीवन मे तृप्त कर लेना चाहता है। ग्राज का मानव सशय ग्रौर द्विधा के चौराहे पर खडा ह। वह सुख की तलाश मे भटक रहा ह। धन बटोर रहा है। भौतिक उपकरण जोड रहा ह। वह अपना मकान बनाता है। ग्रालीशान इमारत बनाने क स्वप्न को मूर्तिमान करता ह। मकान सजाता है। सोफासट, वातानुकूलित व्यवस्था, मँहगे पर्दे, प्रकाश ध्वनि के आधुनिकतम उपकरण एव उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव। उसको यह सब ग्रच्छा लगता है। जिन लोगो को जिन्दगी जीने के न्यूनतम साधन उपलब्ध नही हो पाते वे सघप करते हैं। आज वे अभाव का कारण ग्रपने विगत कर्मों को न मानकर सामाजिक व्यवस्था को मानते हैं। समाज से ग्रपेक्षा रखते हैं कि वह उ ह जिन्दगी जीने की स्थितियाँ मुहैया कराव। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो वे ग्राज हाथ पर हाथ धरकर बठने के लिए तयार नहीं हैं। वे सारी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देन के लिए बेताब हैं।

व्यक्ति के चिन्तन को फ्रायड एव माक्स दोनो ने प्रभावित किया है। फ्रायड ने व्यक्ति की प्रवत्तियो एव सामाजिक नैतिकता के बीच सघप' एव 'द्वन्द्व' को ग्रभिव्यक्त किया है। उसकी दष्टि मे 'सक्स' सर्वाधिक प्रमुख है। इसी एकागी दृष्टिकोण से जीवन का विश्लेषित एव विवेचित करने का परिणाम 'कीन्से रिपोट' के रूप मे सामने आया। इस रिपोट ने सैक्स के मामले मे मनुष्य की मन स्थितियो का विश्लेषण करके 'नामल ग्रादमी' के व्यवहार के मानदण्ड निर्धारित किए। सयम की सीमायें टूटने लगी। भोग का ग्रतिरेक सामान्य व्यवहार का पर्याय बन गया। जिनके जीवन मे यह ग्रतिरेक नही था उन्होने अपने को मनारोगी मान लिया। सैक्स-कुण्ठाग्रो के मनोरोगियो की सख्या बढती गयी।

मनोविज्ञान भी चेतना के ऊध्व ग्रारोहण मे विश्वास रखता है। प्रेम से तो सतोप, विश्वास, ग्रनुराग एव आस्था प्राप्त होती है। किन्तु पाश्चात्य जीवन न तो प्रेम का अथ इन्द्रियो की निर्बाध तप्ति मान लिया। 'प्रम' को निरथक करार दे दिया गया। 'वासना' तृप्ति ही जिन्दगी का लक्ष्य हो गया। प्रम मे ता मधुरिमा ग्रौर त्याग होता है। ग्रब हैवानियत एव भोग की बाढ आ गयी। परिवार की व्यवस्थायें टूटने लगी। एकनिष्ठ प्रेम का ग्रादश समाप्त होने लगा।

वे भूल गए कि प्रेम में सौन्दर्य चेतना के लिए एकनिष्ठता आवश्यक है। मनुष्य ने अपने को पशु जगत् से भिन्न 'मानव' बनाया था, समाज का निर्माण किया था, काम भाव का सयमीकरण किया था, स्व पत्नी द्वारा, काम वासना की सतुष्टि की प्रक्रिया द्वारा ब्रह्मचर्य की सामाजिक व्यवस्था का आदर्श निर्मित किया था। वह सुखी था। उसकी जिन्दगी में अपने प्रेम के आलम्बन के प्रति विश्वास रहता था। उसने इस सत्य को खोज निकाला था कि सम्भोग-सुख की पूर्ण अनुभूति एव तृप्ति के लिए भी इन्द्रिय-नियत्रण आवश्यक है।

इस परिवर्तन से क्या व्यक्ति को सुख प्राप्त हो सका है? परिवार के सदस्यो मे पहले परस्पर जो प्यार एवं विश्वास पनपता था उसकी निरन्तर कमी होती जा रही है। जो सदस्य भावना की पवित्र डोरी से बंधे रहते थे, वह टूटती जा रही है। पहले पति-पत्नी का सुख-दुःख एक होता था। उनकी इच्छाओ की धुरी 'स्व' न होकर 'परिवार' होती थी। वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ को पूरा करने के बदले अपने बच्चो एव परिवार के अन्य सदस्यो की इच्छाओ की पूर्ति मे सहायक बनना अधिक अच्छा समझते थे।

पाश्चात्य जीवन ने पहले सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को तोडा। फिर परिवार मे पति-पत्नी अपने मे सिमटे, बच्चो के प्रति अपने उत्तरदायित्वों की उन्होंने अवहेलना की। परिवार मे अपने ही बच्चे बेगाने हो गए। बच्चो का कमरा अलग, माँ-बाप का कमरा अलग। बच्चो की दुनिया अलग, माँ-बाप की दुनिया अलग। एक ही घर मे रहते हुए भी कोई भावात्मक सम्बन्ध नही। बच्चो मे आक्रोश पनपा। वे विद्रोही हो गए। अधिक भावुक एव सवेदनशील 'हिप्पी' बन गए। 'हिप्पी पीढी' इतिहास के पन्नो पर उभर गयी। जो व्यवस्था से नही भागे, उन्होने जब बड़े होकर अपना घर बसाया तो उनके घर मे उनके माँ-बाप पराये हो गए।

पहले पति-पत्नी आजीवन साथ-साथ रहने के लिए प्रतिबद्ध होते थे। दोनो का सुख-दु.ख एक होता था। दोनो को विश्वास रहता था कि वे आजीवन साथ-साथ रहेगे। विवाह पर कोई नही कहता था कि आप लोग आजीवन साथ-साथ रहे। यह तो जीवन का माना हुआ तथ्य होता था। आजीवन सुखी एव सानद रहने की कामना की जाती थी। जब मनुष्य की चेतना क्षणिक, सशय-पूर्ण एव तात्कालिकता मे ही केन्द्रित होकर रह गयी तो व्यक्ति अपने स्वार्थो मे सिमटता गया। सम्पूर्ण भौतिक सुखो को अकेला भोगने की दिशा मे व्यग्र मनुष्य ने प्रेम को एकनिष्ठता का आदर्श भी तोड डाला। आज पति-पत्नी मे परस्पर विश्वास भी टूट रहा है। तलाको की संख्या बढती जा रही है। दु खो को अकेले ही भोगना नियति हो गयी है। 'भरी भीड़ मे अकेला' मुहावरा हो गया है। मानसिक रोगो की सख्या बढती जा रही है। व्यक्ति भौतिक उपकरणो

को जोड लेने के बाद भी मानसिक दृष्टि से अशान्त है। तनावो का दायरा बढता जा रहा है। इन तनावो को दूर करने के लिए व्यक्ति अपने का भुलाता है। मद्यपान करता है, चरस, भाँग का सेवन करता है। उनसे भी जब नशा नही होता तो 'एल एस डी', हेरा', 'ऐक्वीड्रीन', 'वैलियम', 'मनडेक्स' लेता है। इनमे भी मानसिक थकान नही मिटती तो हेराइन' यानी एच' लेता है। इन्ही प्रक्रियाओ से गुजरकर ऐसे मुकाम मे पहुँच जाता है जहा चेतना अधेरी कोठरी मे बन्द हो जाती है, पुरुषार्थ थक जाता है। अपराध प्रवृत्तियो के शिकार मानसिक रोगिया की जिन्दगी मे फिर प्रकाश की कोई किरण कभी रोशनी नही फलाती।

कार्ल मार्क्स ने शोषक और शोषित—इस वर्ग सघर्ष को उभारकर तथा इतिहास की अर्थ परक व्याख्या के द्वारा रोटी के प्रश्न को मानवीय चेतना का केन्द्र बिन्दु बनाकर प्रस्थापित किया। उत्पादन के साधनो पर किसका अधिकार है, उत्पादन की प्रक्रिया मे रत लोगो के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं तथा उत्पादित भौतिक सम्पदा का लाभ एव उसके वितरण का क्या प्रबन्ध है आदि तथ्यो पर मार्क्स तथा उसकी विचारणा से प्रभावित अन्य व्यक्तियो ने विचार किया। मार्क्सवाद की विचारधारा का प्रभाव एशिया, अफ्रीका तथा लटिन अमेरिका के देशों मे राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियो, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी क्रान्ति के सघर्षों, विभिन्न देशो मे व्यापक ग्राम जनवादी मोर्चों के सगठनो तथा समाजवादी देशो मे उत्पादन के साधनो पर सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली मे पहचाना जा सकता है। साधनहीन अथवा शोषका का चिन्तन भी बदला है। वे अपनी जिन्दगी की मुसीबतो का कारण व्यवस्था को मानकर समाज एव राज्य से साधनो की माँग कर रहे हैं। यह बात भी आज स्पष्ट है कि राज्य के कल्याणकारी कार्यक्रमो के क्रियान्वयन द्वारा बहुत सी मुसीबता एव कष्टो का दूर किया जा सकता है। मगर व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति की मानसिकता को सर्वथा नही बदला जा सकता। वस्तुत केवल भौतिक दृष्टि से विचार करना भी एकांगिता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने मात्र से खतरे समाप्त हो ही जावेंगे—यह भी निश्चित नही है। सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) के स्थापित हो जाने पर क्या उसके चारित्रिक स्वरूप मे परिवर्तन आता है? यह कहा जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे सम्पत्ति पर पूँजीपति वर्ग का निजी स्वामित्व एव नियन्त्रण रहता है। राजकीय पूँजीवाद मे पूँजीवादी व्यवस्था म ही राष्ट्र एव मेहनतकश वर्गों के हित में इसके उपयोग की सम्भावनायें पैदा होती हैं।

मगर प्रश्न है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के नाम पर यदि दल के अधिकारी सत्ता पर कब्जा कर लेत हैं तो क्या पार्टी-अधिनायकवाद के छद्मवश मे सत्ता पर इनकी तानाशाही स्थापित नही हो जाती तथा यदि इन्ही के हाथा

मे राजकीय स्वामित्व आता है तो आगे चलकर उसके पूँजीवादी तानाशाही के स्वरूप मे बदलने की सम्भावना से कैसे इन्कार किया जा सकता है ?

वास्तव मे 'पेट की भूख' एव 'शरीर की भूख' मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ है। प्राकृतिक जीवन मे मनुष्य पशुओ की तरह आचरण करता है। अपनी भूख को मिटाने के लिए कोई नियम नही होते। इस व्यवस्था मे शारीरिक दृष्टि से सबल मनुष्यों के सामने निर्बल मनुष्यो को हानि उठानी पडती है। सबल मनुष्य निर्बल को पराजित कर भूख मिटाता है। भूख मिटाकर भी उसके जीवन मे शान्ति नही रहती ; उसे अन्य सबल व्यक्तियो का डर लगा रहता है। छीना-झपटी, झगडा-फसाद जीवन मे बढ़ जाता है। इन्ही से बचने के लिए मनुष्य ने समाज बनाया। शरीर की भूख तथा पेट की भूख की तृप्ति के लिए सामाजिक नियम बनाए। शरीर की भूख की तृप्ति के लिए 'विवाह' सस्था का जन्म हुआ। परिवार बना। घर बना। निश्चित हुआ एक पुरुष की एक पत्नी। उसकी पत्नी पर उसका अधिकार। उसकी पत्नी पर दूसरो का कोई अधिकार नही। दूसरो की पत्नियो पर उसका कोई अधिकार नही। उसने अपनी झोपड़ी बनायी। घर बनाया। घर के चारो ओर चार दिवारी बनायी। घर के क्षेत्र की सीमा निर्धारित हुई। उसके घर पर उसका अधिकार। उसके घर पर दूसरो का अधिकार नही। दूसरों के घर पर उसका कोई अधिकार नही।

पेट की भूख मिटाने हेतु उसने जमीन साफ की, बीजो का वपन किया, कृषि-कर्म किया। अपने खेत के चारो ओर मेड़े बनायी। सरहदे स्थापित की। उसकी सरहद वाली भूमि पर दूसरो का अधिकार नही। दूसरों के खेत पर उसका अधिकार नही। अपना-अपना खेत, अपनी-अपनी पैदावार।

अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु अन्य प्रकार के उद्यम एव उद्योग धन्धो का विकास हुआ, इन क्षेत्रो मे इसी प्रकार की सीमा एवं समझदारी विकसित हुई।

इस प्रकार समाज के अस्तित्व की आधारशिला परस्पर समझदारी, सीमा, एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र मे अतिक्रमण न करने का सयम, शर्तो का परस्पर सम्मान एव एक दूसरे के अस्तित्व वृत्त एवं अधिकार वृत्त के प्रति सहिष्णुता ही है। इसी समाज मे व्यक्ति संयम के साथ भोग करता आया है, अपने जीवन को बेहतर बनाता आया है।

मनुष्य मे नैसर्गिक प्रकृति के साथ-साथ वृत्तियो के उन्नयन, परिष्कार, सस्कार की प्रवृत्ति भी रहती है। इसी कारण वह अपने जीवन को सामाजिक बनाता है। सामाजिक जीवन नीति से ही सम्भव है, अनीति से नही। नैतिक आचरण

के लिए सयम की लगाम आवश्यक है। समाज मे व्यवस्था एव स्वच्छ वाता वरण तभी रह सकता है जब उसके सदस्य सयमित आचरण करें। प्रेम, करुणा, बन्धुत्व भाव के द्वारा ही मनुष्य का जीवन उन्नत एव सामाजिक बनता है। चेतना का विकास होने पर ही मानव समाज लोक कल्याण की भावना की ओर उन्मुख होता है। जब जिन्दगी लक्ष्यहीन हो जाती है तो सम्पूर्ण जीवन मे भटकाव आ जाता है। यही भटकाव सन्त्रास एव तनाव को जन्म देता है। इससे मुक्ति पाना समस्या बन जाती है। जब जब सयम की सीमायें टूटती हैं, जीवन एव परिवेश दूषित एव विषाक्त होने लगता है।

परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करने, वशानुक्रमण एव व्यक्तित्व का प्रसार तथा आत्म परिवेष्टन के अतिक्रमण के कारण मनुष्य अकेला नही रह पाता। वह समाज बनाता है। समाज के अस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग, समझदारी एव साझेदारी आवश्यक है। कोई भी समाज धम चेतना से विमुख हाकर नही रह सकता। धम सम्प्रदाय नही। धम पवित्र अनुष्ठान है। जिन्दगी मे जो हमे धारण करना चाहिए—वही धम है। हमे जिन नैतिक मूल्यो को जिन्दगी मे उतारना चाहिए—वही धम है। समाज की व्यवस्था, शान्ति तथा समाज के सदस्यो मे परस्पर प्रेम एव विश्वास का भाव जगाने के लिए धम का पालन आवश्यक है। धम के पालन का अथ ही है—श्रेष्ठ नैतिक कर्मों के अनुरूप आचरण।

मन की कामनाओ को नियन्त्रित किए बिना समाज रचना सम्भव नही है। कामनाओ के नियन्त्रण की शक्ति या तो धम मे है या शासन की कठोर व्यवस्था मे। धम का अनुशासन 'आत्मानुशासन' होता है। व्यक्ति अपने पर स्वय नियन्त्रण करता है। शासन का नियन्त्रण हमारे ऊपर 'पर' का अनुशासन हाता है। दूसरा के द्वारा अनुशासित होने पर हम विवशता का अनुभव करते हैं, परतन्त्रता का बोध करत है, घुटन की प्रतीति करते हैं।

धम मानव हृदय की असीम कामनाओ को स्व की प्रेरणा से सीमित कर देता है। धम हमारी दृष्टि को व्यापक बनाता है, मन में उदारता, सहिष्णुता एव प्रेम की भावना का विकास करता है।

अभी तक धम एव दशन की व्याख्यायें इस दृष्टि से हुइ कि उससे हमारा भविष्य जीवन उन्नत होगा। धम के आचरण की वतमान व्यक्तिगत जीवन एव सामाजिक जीवन की दृष्टि से साथकता क्या है, इसको केन्द्र बनाकर चिन्तन करने की महती आवश्यकता है तभी कम का सामाजिक सन्दभ स्पष्ट हो सकेगा।

•□•

कर्म सिद्धांत और समाज-संरचना

□ श्री रणजीतसिंह कूमट

वर्तमान समाज-सरचना के लिये जिम्मेदार कौन ? किसने यह व्यवस्था की, परिवर्तन कैसे आता है व कौन लाता है ?

इस प्रश्नावली का उत्तर देने का प्रयत्न दार्शनिक, समाजशास्त्री, इतिहासज्ञ और धार्मिको ने किया परन्तु जितना इनका अध्ययन करते हैं, उलझते जाते हैं। उत्तर आसान नही है। प्रत्येक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से तो देखा ही परन्तु कई स्थानो पर ऐसा आभास भी होता है कि इन दार्शनिक सिद्धातो और वादों के पीछे निहित स्वार्थ भी कार्य करते रहे हैं। ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित होते रहे हैं जिनसे व्यवस्था स्थायी बनी रहे और उसमे उथल-पुथल कम-से-कम हो। कभी यह भी हुआ कि पूर्णत. वैज्ञानिक सिद्धात को कालान्तर मे ऐसा मरोड़ दे दिया कि उसका अर्थ उल्टा हो गया और वह निहित हितो की रक्षा मे काम आया।

अब इसी प्रश्न को ले ले—व्यक्ति गरीब क्यो है ? गरीब घर में जन्म क्यो लिया ? कोई उच्च कुल कहलाता, कोई अछूत या नीच कुल। किसी को खाने से अजीर्ण हो रहा है, तो किसी को दो वक्त का भोजन भी नसीब नही।

भारत मे प्रचलित कर्म सिद्धात कहता है कि व्यक्ति गरीब है क्योकि यह उसके पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। उसके कर्मों की वजह से ही वह नीच कुल मे पैदा होता है और दु.ख पाता है। इन्ही कर्मों से समाज मे वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा, गरीबी-अमीरी, छुआछूत आदि की व्यवस्था निर्धारित है।

व्यक्ति के जीवन मे सुख-दु ख, यश-अपयश, धन-प्रतिष्ठा, पाडित्य-मूर्खता, जन्म-मरण आदि कर्म-आधारित हैं। व्यक्ति पर लागू होने वाले इस सिद्धान्त को पूरे समाज पर लागू कर समाज की पूरी सरचना व व्यवस्था की भी व्याख्या की जाती है और इसको वैज्ञानिक भी बताया जाता है। इसके विपरीत पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक मार्क्स का कहना है कि यह गरीबी, अमीरी समाज की सरचना का फल है। यदि समाज मे व्यक्तिगत पूँजी को एकत्र करने की छूट है तो अधिक चालाक व्यक्ति उपलब्ध जमीन, धन व उत्पादन के साधनो पर आधिपत्य कर लेगे और फिर अन्य निर्धन व्यक्तियो का शोषण कर अपनी सत्ता व साधनो

का पोषण करेंगे। वे ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उनका धन-साधन सुरक्षित रहे और जो उनकी सत्ता को उखाड़ने की कोशिश करें, वे दण्ड के भागी बनें। न केवल राजदण्ड बल्कि धार्मिक व्यवस्था भी ऐसी करावेंगे कि उनको कोई छेड़े नहीं। ऐसे नियम व उपदेश का प्रचार होगा कि पराया धन नरक मे ले जाने वाला है, अत उस ओर नजर भी न डालें। इससे सुन्दर व्यवस्था बनी रहे और जो जैसा जीवन जी रहे हैं, उसी मे सुख महसूस करें। जो वर्तमान स्थिति है उसे पूर्व कर्मों का फल मानकर इस जीवन मे पश्चात्ताप करें और आगे का जीवन सुधारने का प्रयत्न करें। इसीलिये मार्क्स ने धर्म को जनता के लिये अफीम की संज्ञा दी है।

व्यक्ति को फल अपने कर्म के अनुसार मिलता है। इस वैज्ञानिक सिद्धांत को कौन नकार सकता है? जैसा बीज वैसा फल। जैसा कर्म वैसा जीवन।

परन्तु व्यक्ति पर लागू होने वाले सिद्धांत को बिना अपवाद के पूरे समाज पर लागू करके समाज की व्यवस्था बनाना और उसकी अच्छाइयों या बुराइयों को तर्कसंगत बनाना उतना वैज्ञानिक नहीं है। बल्कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस कर्म सिद्धांत को समाज-व्यवस्था का आधार बनाने मे निहित स्वार्थों ने कार्य किया है और धर्म व कर्म के वैज्ञानिक और शुद्ध स्वरूप को विकृत कर व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने का प्रयास किया है।

यदि धार्मिक और दार्शनिक बार-बार यह कहें कि जो कुछ तुम्हें मिला या मिलेगा वह कर्म आधारित है और पूर्व जन्म के कर्मों का फल है तो अपनी वर्तमान स्थिति के बारे मे यही समझ कर संतोष करेगा कि उसके पूर्व जन्म के कर्म खराब हैं अत उसे ऐसा दुःखी जीवन मिला है और वर्तमान को किसी तरह भोगते हुए अगले जीवन को सुधारने का प्रयत्न करना है। वर्तमान को कैसे सुधारें, यह कौन बताये? जब अमीर आदमी के पास धन दौलत है तो वह उसको अपने पूर्व जन्म के कर्म का फल मानकर गर्व करता है कि यह उसका पुराना गौरव है और उसको भोगना उसका हक है। यदि कोई उसे छीनने का प्रयत्न करे तो धार्मिक कहते हैं यह पाप है क्योंकि सम्पत्ति पर उसका हक पूर्व जन्म के कर्मों के फल से है।

व्यक्ति का वर्तमान के कर्मों के फल प्राप्त कर उसका भोग करना एक बात है और भूत के कर्मों के फल पर बिना प्रयत्न के भी वर्तमान अमीरी मे रहना दूसरी बात है। यह अमीरी और गरीबी कर्म आधारित नहीं वरन समाज व्यवस्था पर आधारित है। जैसी व्यवस्था होगी उसी आधार पर गरीबी या अमीरी होगी।

व्यक्ति धन कमाकर रोटी खावे यह वर्तमान कर्म का फल है, परन्तु पिता कमाकर पुत्र के लिये छोड़ जावे और पुत्र उसका भोग करे, यह पूर्व जन्म

के कर्म का फल नही वरन् समाज-व्यवस्था का फल है। यदि समाज-व्यवस्था मे यह नियम हो कि पिता की सम्पत्ति पुत्र को नहीं मिलेगी या कोई व्यक्ति निजी सम्पत्ति नही रख सकेगा तो क्या कोई गरीब घर और अमीर घर हो सकता है ? पिता का हक यदि पुत्र को मिलेगा ही नही तो पुत्र को नया प्रयत्न करना होगा और वह है उसके कर्म का फल ।

परन्तु जब हम कर्म सिद्धात की आड़ लेते हैं तो व्यवस्था का पोषण करते है। पिता की सम्पत्ति पुत्र को मिले और वह उसका भोग करे, यह समाज-व्यवस्था है न कि कर्म-व्यवस्था ।

पूँजीवादी व्यवस्था मे जिसके पास उत्पादन का साधन अर्थात् जमीन, सोना, पशु आदि कुछ है, वह आगे संवर्द्धन कर सकता है बशर्ते अपनी सम्पत्ति को सम्हाल कर रखे। परन्तु जिनके पास कोई सम्पत्ति नही है उसे जन्म भर मजदूरी के अलावा कोई राह नहीं है।

अक्सर कहा जाता है कि जो गरीब हैं वे वास्तव में मेहनत नही करते और गरीबो मे ही मस्त रहना चाहते है। लेकिन अध्ययन बताता है कि जो जितने गरीब हैं उतनी ही अधिक कड़ी मेहनत व लम्बे समय तक कार्य करते है। अच्छे पद या सम्पत्ति वाला व्यक्ति मेहनत का कार्य या लम्बे घंटों तक कार्य नही करते जबकि भूमिहीन मजदूर दिन भर कार्य करके भी रोटी खाने जितना नही कमा पाते। धन जोड़ने की बात तो बहुत दूर हैं।

धनवान के पुत्र को धनहीन कर गरीब के बराबर की स्थिति मे लाकर बराबर का मौका दिया जाय और फिर जो अच्छी स्थिति या कमजोर स्थिति मे आवे तो वे उनके कर्म के फल है। परन्तु धनवान और गरीब की दौड़ तो बराबरी की दौड़ नही है। हम कई बार कहते हैं कि सबके लिये बराबर के अवसर है परन्तु यह भ्रम मात्र हैं। जो धनवान पुत्र है उसे पढने का, पूँजी का, बचपन मे अच्छे लालन-पालन सबका लाभ मिला है जबकि गरीब को बचपन में पूरा खाना व पहनने को भी नही मिलता। अतः यह कहना कि गरीबी या अमीरी पूर्व कर्म का फल है, यह भ्रम है। यह वर्तमान व्यवस्था का ही फल है, इसे समझना चाहिये ।

बार-बार जब उपदेश देते हैं कि तुम गरीब हो, अछूत हो या नीच कुल के हो, क्योकि तुमने पूर्व जन्म में कर्म खराब किये हैं तो यह उनको गुमराह करना है। कर्म जीवन को सुधारने के किये हैं। कर्म भुलावा देने के लिये नहीं है। यदि पूर्व कर्म से ही सब कुछ होता है और इस/जीवन के कर्म का फल अभी नही मिलना है तो निष्कर्मण्यता को बढावा मिलता है। फिर तो शांत होकर भोगना ही जीवन का उद्देश्य बनता है। यही कारण है की भारत मे इतनी गरीबी

है परन्तु बड़ी विद्रोह का काम नहीं। गरीबों को धार्मिकों ने काफी गहरी नींद सुला दिया है। यदि सिर कभी उठाया भी तो राजदण्ड और उच्च वर्ग के अत्याचारों ने दृढ़तापूर्वक दबा दिया है। सदियों के अत्याचार से वे मूक बन गये हैं। चुपचाप सहना सीख गये हैं। कर्मों के सुफल का इन्तजार है, इस जीवन में नहीं तो अगले जीवन में सही।

कर्म सिद्धांत मानव को सबल बनाने, अपने प्रति जागरूक और सक्रिय बनाने के लिये था। कर्म का फल उसे ही मिलेगा जिसने कर्म किया है परन्तु व्यवस्था ऐसी बना दी कि कर्म का फल बिचौलिये—श्रेष्ठ वर्ग—छीन ले गये। हल चलाया किसान ने और फल खाया जमींदार ने। यदि किसान ने आवाज उठाई तो पिटाई हो गई। तब कोई धार्मिक नहीं बोला। धार्मिकों का लालन पालन तो राजा ही करते थे। उनको भिक्षा तो श्रेष्ठ घरों से ही मिलती थी। उन्होंने उस पिटे किसान को पुचकारा और मरहम पट्टी की और सलाह दी 'अगले जीवन को सुधार"।

कर्म सिद्धांत का संबंध व्यक्तिगत जीवन से है समाज की संरचना से इसका सीधा संबंध नहीं है। समाज में भाईचारे, सहानुभूति और सहृदयता के नये संस्कार डालने होंगे। आज समाज में हृदयहीनता जगह-जगह देखी जाती है। यह सब मानव मूल्यों के खिलाफ है। लेकिन धन के नशे में चूर और उनको यह गर्व कि यह धन उनके कर्मों का फल है और जो गरीब हैं वे गरीबी भोगने के लिये हैं ये संस्कार हृदयहीनता के कारण हैं। कर्म सिद्धांत की आड़ लेकर धनी वर्ग बहुत दिन सुखी नहीं रह सकता। समाज-संरचना की वजह से धन का योग है, यदि उन्होंने सहृदयता और सहानुभूति नहीं दर्शाई और गरीबी-अमीरी में काफी अन्तर रहा तो वह दिन दूर नहीं जब विद्रोह की आग भड़केगी।

विद्रोह का आधार हिंसा है। अतः उसका सुफल ही मिले, आवश्यक नहीं। परिवर्तन में अहिंसा का आधार हो तो समाज में सरसता व सहृदयता बनी रह सकती है। विद्रोह के अनन्तर एक सबल वर्ग दूसरे वर्ग पर सत्तारूढ़ हो सकता है, परन्तु अहिंसात्मक परिवर्तन निर्देशित ढंग से हो सकता है और उसमें शोषक और शोषित दोनों मुक्त होते हैं। अतः समय रहते समाज की व्यवस्था में निर्देशित परिवर्तन, शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से हो तो न्याय वादी और समतावादी समाज का आधार बनाया जा सकता है। गुमराह कर विषमताओं का पोषण अन्ततोगत्वा खतरनाक साबित हो सकता है।

•□•

४५

"जैसी करनी वैसी भरनी" पर एक टिप्पणी

□ डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

हम सभी सुनते आये है कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा। 'जैसी करनी वैसी भरनी'। परन्तु हम मे से बहुतो का यह अनुभव भी है, कि व्यवहार मे इस मान्यता के उल्लंघन ही अधिक मिलते हैं। यदि अनुभव से इस मान्यता की पुष्टि नही होती तो इसे क्यो सही समझा जाय ? एक उत्तर यह हो सकता है कि यह मान्यता एक ऐसी दण्ड व्यवस्था की सूचक है, जो तब भी सक्रिय रहती है, जब मानवीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, और परिणाम-स्वरूप सन्मार्ग मे प्रवृत्ति के लिए इसमें विश्वास सहायक है। परन्तु पुन. शका होती है कि यदि ऐसी कोई दण्ड व्यवस्था है तो उसकी पुष्टि किस प्रकार होती है ? मानवीय व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' तो सर्वत्र सुनाई पडता है, परन्तु उस पुकार को कोई सुनता है, यह कैसे निश्चय हो, जबकि अनुभव इसके विपरीत है। पुराण तथा साहित्य के क्षेत्र से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे कर्म-फल की सगति की युक्ति का औचित्य सिद्ध हो। परन्तु ऐसे सभी उदाहरणो के विषय मे, विवाद की स्थिति (ऐतिहासिकता की दृष्टि से) होने से, इतना ही कहा जा सकता है, कि यह मान्यता मानवीय इच्छा की द्योतक है, हम चाहते है, कि ऐसा हो, पर ऐसा होगा, इसकी कोई गारन्टी नही। और यदि किन्ही अवसरो पर ऐसी सगति मिल भी जाय तब भी यह सिद्ध नही होगा कि यह सगति अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता केवल तभी सिद्ध मानी जा सकती है जब उसका अपवाद असम्भव हो।

दूसरी ओर इस उक्ति की विलक्षणता यह है कि विपरीत अनुभव होने पर भी बुद्धि को यह बात युक्तियुक्त लगती है, कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा। ऐसा क्यो ? इस सम्बन्ध मे दो भिन्न प्रकार की बातो की ओर ध्यान जाता है। प्रथम तो कार्यकारण का सिद्धान्त, दूसरे कर्त्ता के सन्दर्भ मे कर्म का जीवनवृत्त। यह बुद्धि की एक माग है कि यदि घटनाएं बुद्धिग्राह्य है तो उनमे कार्यकारण सम्बन्ध प्राप्त होना चाहिए। यदि ऐसे ससार की कल्पना करें जिसमे कुछ भी सम्भव हो, किसी घटना के बाद कोई भी घटना हो जाती हो, तो वहा बुद्धि की कोई गति नही हो सकती—ऐसे संसार के विषय मे किसी भी घटना के बारे मे कोई युक्तियुक्त बात नही कही जा सकती। भविष्य के विषय मे हमारी अपेक्षाएँ पहले तो हो ही नही सकती, और यदि हम किसी प्रकार की

कल्पना कर भी लें, तो उसकी सभाव्यता के बारे मे कोई निश्चय सम्भव नही होगा। इसके विपरीत मानवीय व्यवहार बडी सीमा मे इस अपेक्षा पर निभर है कि घटनाओ मे कोई परस्पर सम्बध होता है, इस सम्बध को कायकारण के रूप मे जाना जा सकता है, तथा इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर ही कम की सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है। अय शब्दो मे, व्यवस्था एव सगठन की अवधारणा ज्ञान तथा कम के लिए समान रूप म महत्त्वपूर्ण हैं।

कुछ दाशनिको ने इस सम्बध मे यह शका उठाई है कि कायकारण की अनिवायता का कोई बौद्धिक एव आनुभाविक आधार नही है। घटनाओ के किसी क्रम विशेष को अनेक बार देखने पर एक घटना से दूसरी घटना की ओर हमारा ध्यान सहसा ही चला जाता है, और हम मान बठते हैं कि एक दूसरे का कारण है। स्काटलण्ड के दाशनिक ह्यूम का यह मत दाशनिको के लिए भारी चुनौती रहा है। इस मत को यदि मान भी लें, तब भी इस बात पर कोई प्रभाव नही पडता कि विषय ग्रहण के लिए बुद्धि की किंचित मागो की पूर्ति आवश्यक है। इस बहस मे जाये बिना तथा कम से कम इतना स्वीकार कर लेने पर कि घटनाओ मे किसी प्रकार का क्रम देखना सम्भव है, उसका आधार चाहे कुछ भी हो, कम के विषय मे भी यह अपेक्षा होती है कि कोई भी कम परिणाम स्वरूप किसी स्थिति विशेष मे परिसमाप्त होता है। इस परिणाम तथा कम की ठोस प्रक्रिया में कोई सम्बध होता है। यह उपयुक्त सम्बध होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस ढाचे म हम कम तथा परिणाम को दो अलग अलग स्थितिया—कारण तथा काय के रूप मे देख रहे हैं।

यहा एक कठिनाई उपस्थित होती है और वह कम के जीवनवत्त को दूसरे रूप मे देखने के लिए बाध्य करती है। परिणाम को कम से अलग देखने से क्या तात्पय है ? हमने कहा कि परिणाम वह स्थिति है जिसमे कम की परिसमाप्ति होती है। तो क्या यह कहना अधिक सगत नही होगा कि परिसमाप्ति तक जो कुछ होता है, वह सब कम है ? किसी व्यक्ति का इच्छा करना, सकल्प करना, विषय अथवा स्थिति विशेष (लक्ष्य) के प्राप्ति के निमित्त उद्यम करना, लक्ष्य को प्राप्त करना—ये सभी अवस्थाएँ कम के जीवन वत्त की विभिन अवस्थाए हैं, और इनमे अतिम स्थिति कम के परिणाम की स्थिति है। इस अवस्था मे कम तथा परिणाम का भेद वस्तुत कम के अतगत ही पडगा—कदाचित 'कम' के स्थान पर केवल 'प्रक्रिया' कहना अधिक उचित होगा—प्रक्रिया तथा परिणाम कम के दो अग होगे जिनमे कारण और काय का सम्बध मान सकेंगे। और फिर कारण तथा काय की सगति के सदभ मे प्रक्रिया तथा परिणाम की सगति की चर्चा करना कदाचित अधिक युक्तिसगत होगा।

यहाँ प्रबुद्ध पाठक यह आपत्ति उठायेंगे कि कम फल की सगति, प्रक्रिया और परिणाम की सगति की बात नही है। इस आपत्ति को समझने के लिए

एक उदाहरण ले : 'क' ने 'ख' को चाकू से मार डाला। 'क' पकड़ा जाता है। उसे दण्ड मिलता है—उसे आजीवन कारावास दिया जाता है। इस स्थिति में 'चाकू मारना' तथा 'ख का मरना' कारण कार्य के रूप मे देखे जा सकते हैं तथा प्रक्रिया एव परिणाम के रूप भी। 'ख का मरना' क के लिए उसके कर्म का फल नही माना जायगा। अपितु 'क' का इस कर्म के लिए दण्ड पाना फल कहा जायगा। स्वयं 'क' की दृष्टि से देखे तो कदाचित् वह 'ख' को केवल जख्मी करना चाहता था, अथवा कदाचित् वह अपने तीव्र रोप को व्यक्त करना चाहता था। ऐसी अवस्था मे फल के सम्बन्ध मे 'क' की क्या अपेक्षा हो सकती थी ? शायद यह कि 'ख' उसकी ताकत को पहचाने। अब 'ख' के चोट लगना, उसके प्राणो का घात, तथा 'क' की ताकत की पहचान 'ख' के लिए, ये एक ही बात नही है, और परिणामस्वरूप परिणाम, कार्य तथा फल भी एक ही चीज नहीं है। कर्म फल की सगति की दृष्टि से, यदि 'क' न्यायिक दृष्टि से दोषी था, तो उसका दण्ड पाना, सगति की पुष्टि के रूप मे देखा जायगा। परन्तु 'क' (मान लीजिए, वह विवाहित है, उसके वच्चे हैं) की पत्नी तथा वच्चो को किस कर्म का फल मिला ? वे हत्यारे के परिवार के सदस्य कहलायेगे, उनके जीवन यापन पर सकट आयेगा, बच्चो के पालन पोपण, शिक्षा-दीक्षा पर हानिकारक प्रभाव पडेगा—ये सब उनके किस कर्म से जोड़ा जाय ? इसी प्रकार, जिसकी हत्या हुई है, उसके परिवार के सदस्यो के सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है। स्थिति के ये दूसरे पक्ष कर्मफल सगति पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से अनेक उलझनो की ओर ध्यान जाता है। परिणाम, कार्य अथवा फल की अवधारणाओ का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? फल की बात करते समय हम एक सिलसिले मे किसी एक कड़ी को क्यो चुनते हैं ? इस विश्लेषण मे घटनाओ को सामाजिक अर्थ देने से किस प्रकार की जटिलता उत्पन्न होती है ? आदि। दूसरे जिन अवस्थाओ में फल तथा कर्म की संगति वैठती नही दीखती वहा किस प्रकार की व्याख्या सन्तोपजनक हो सकती है ?

इन प्रश्नो के आलोक मे एक वार कर्म के जीवनवृत्त पर पुन: दृष्टि डाले। हमने कर्म की विभिन्न अवस्थाओ को निम्नलिखित रूप मे लिया : इच्छा, संकल्प, उद्यम तथा परिणाम (लक्ष्य की प्राप्ति/अप्राप्ति)। विश्लेपण की दृष्टि से कर्म के रूप का यह बडा सीधा सादा तथा स्पष्ट चित्रण मालूम पड़ता है। परन्तु यह अपर्याप्त विश्लेपण का परिणाम है, तथा केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सरल स्थिति है। यह अनावश्यक रूप मे सरल क्यो है, इसमे किस प्रकार की जटिलताएँ है ? इनकी ओर ध्यान दे। पहले तो 'इच्छा' स्वय एक परिणाम है। किसी कर्म विशेष को अलग करने के प्रयास मे ही हम उसे किसी इच्छा विशेष से जोडते है। परन्तु उसकी विशद समझ के लिए 'इच्छा' को समझना आवश्यक होता है। न्यायिक सन्दर्भ मे बहुधा कर्म की प्रेरणा के विषय मे प्रश्न उठाया

जाता है। यह समझ हमे एक दूसरे सिलसिले की ओर ले जाती है, और हम इच्छा को स्वभाव, उद्दीपन आदि के परिणाम अथवा काय के रूप मे देखने लगते हैं। यदि और ध्यान से विचार करें तो व्यक्ति जिस समाज मे है जिस युग तथा देश मे है तथा जिस सास्कृतिक प्रवेश मे है, उससे उसकी इच्छा के विषय म समझ बढती है। इस प्रकार के सन्दभ उस अवस्था मे महत्त्वपूण हो जाते हैं, जब हम इच्छापूर्ति तथा उसके साधन पर कर्त्ता के विचार विमश तथा अन्तत उसके निश्चय पर ध्यान देते हैं। इस प्रकार कम का एक आन्तरिक इतिहास भी होता है, जो परोक्ष रूप मे जाना, समझा जा सकता है। जब उद्यम के विषय मे विचार करते हैं तो साधारणतया कर्त्ता की शारीरिक गति तथा मुद्रा की ओर ध्यान जाता है। परन्तु उद्यम की आवश्यकता तथा पर्याप्त अवस्थाओ पर विचार करें, तो पता चलेगा कि बहुत कुछ हम मान कर चलते है, तो बहुत कुछ एसा भी है जिसकी ओर हमारा ध्यान नही जाता परन्तु जिसके बिना उद्यम सम्भव नही हो सकता। इन अवस्थाओ मे गुरुत्वाकषण, दश, काल, शरीर की स्वस्थास्वस्थ अवस्था, शरीर की परिपक्वता, प्रशिक्षण (औपचारिक अनौपचारिक), अभ्यास, सामाजिक एव सास्कृतिक व्यवधान अथवा सुविधाएँ, जसी अनक बातें आती हैं। महत्त्वपूण बात यह है कि उद्यम बिना एक बहत तथा व्यापक सन्दभ का अग बने सम्भव नही हो सकता। और जब परिणाम पर दृष्टिपात करते हैं, तो पता चलता है कि परिणाम को नाम दिया जाना उस व्यक्ति तथा दृष्टि पर आश्रित है जिससे तथा जिसके द्वारा वह लक्षित हो। इस रूप मे परिणाम कोई सरल एकिक स्थिति नही है, अपितु एक बहु आयामा से युक्त स्थिति है जिसे उसके किसी एक या अनेक आयामो के आधार पर नाम दिया जा सकता है और जसा पाठक लक्ष्य करेंग नाम देना एक सास्कृतिक प्रक्रिया है तथा उसमे हमार मूल्य एव आदर्शों का समावेश हाता है।

इस अत्यन्त सक्षिप्त विवेचन से यह लगता है कि कम को एक सरल शृखला के रूप मे दखना, अनेक महत्त्वपूण पक्षा की अवहेलना होगा। व्यक्ति के दायित्व कम फल के रूप मे उसे जो भोगना पडता है व्यक्ति की परिवेश मे परिवतन लाने की सामथ्य की सीमा—इन सभी के विषय म जो अनेक विवाद हैं, कदाचित उनकी तह मे कम के सम्बन्ध मे उस एक सरल शृखला के रूप मे देखना, तथा उसे एक पूरे तन्त्र के अग के रूप मे दखना—ये दो दृष्टियाँ विद्यमान हैं। दोनो का सम्बन्ध दो भिन्न प्रकार की आवश्यकताओ म जुडा लगता है। जब हम कम को एक सरल शृखला के रूप मे दखते हैं ता हमारा लक्ष्य व्यक्ति के दायित्व को निश्चित करना होता है, और समाज म दण्ड या न्याय-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक प्रतीत हाता है। यहा हमारे सामने एक व्यावहारिक समस्या होती है, और हम एक निणय लेना हाता है—मुख्य रूप म हमारे सामने प्रश्न होता है 'किसने किया ?' इस सन्दभ म हम

व्यक्ति को एक समर्थ कर्त्ता का दर्जा देते हैं, और यह मान कर चलते हैं कि वह चाहता तो जो उसने किया वह, वह नही भी कर सकता था, वस्तुत: उसे वैसा नही करना चाहिए था, उसे वैसा नहीं चाहना चाहिए था। हम मान लेते हैं, कि जो उसने किया उसका आरम्भ एक निश्चित इच्छा अथवा प्रेरणा थी, उसके परे सोचने की कोई आवश्यकता नही है। और इतना उसके कर्त्तृत्व को निश्चित करने के लिए पर्याप्त हैं, और निश्चित नियमो के आधारो पर हम व्यक्ति को उसके किए लिए उपयुक्त दण्ड का विधान करते है।

दूसरी ओर जब हम कर्म को 'समझना' चाहते है, जब सम्बन्धित कर्मफल की सगति के अपवाद सामने आते हैं, तब हम वैयक्तिक प्रणाली को छोड़कर समष्टिमूलक प्रणाली को अपनाते है। कर्म को समझने के लिए हम स्वभाव. आदत, तात्कालिक परिस्थिति, व्यक्ति का सास्कृतिक परिवेश तथा अनेक दूसरे पहलुओ पर सोचते है, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। हमे यह युक्तियुक्त नही लगता कि जो न किया हो उसका हमे फल मिले तथा जो किया हो उसका फल नहीं मिले। परिणामस्वरूप हमने जनम-जन्मान्तर की कल्पना की, अदृश तथा अपूर्व की कल्पना की। हमे लगा कि किसी व्यवस्था के बिना तो जीवन की कल्पना ही सम्भव नही है, वह व्यवस्था मूलत. न्याय, औचित्य, सत्य की रक्षा करती है। मानव स्वय, (अपनी परिसीमा के कारण) किसी व्यवस्था को स्थापित करने, तथा उसकी रक्षा करने मे असमर्थ रहते है तो यह मूल व्यवस्था सक्रिय होती है तथा दैवी दण्ड विधान समाज की स्थिति तथा स्थिरता की रक्षा करता है। परन्तु यहां फिर एक और दिलचस्प विन्दु की ओर ध्यान जाता है। मानवो के समाज मे जो अव्यवस्था है, कर्मफल की जहा असगति है, वहाँ वस्तुत: दैवी विधान ही सक्रिय है। हमे असंगति इसलिए दिखलाई पडती है कि हम पूरी शृंखला को नही देख पाते, जो पूरी शृंखला को देख सकता, जो जन्म-जन्मान्तरो मे फैले जीवन का सारा गणित कर सकता, वह यह देख लेता कि मूलत व्यक्ति ही अपने सारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के लिए उत्तरदायी है। एक जन्म मे जो असंगत लगता है, एक से अधिक जन्मो को देखने पर, संगति की अदृष्ट कड़ियाँ स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु बहुत लोग जन्म-जन्मान्तर तथा अदृश को बीच मे लाना पसन्द नही करेगे। शायद वे कहे कि मानवीय सम्बन्धो मे, मानव के क्रिया कलाप तथा उसके परिणामो के बीच किसी सगति को न तो पाया जा सकता है, और न स्थापित किया जा सकता है। फलत: कर्मफल की असगति कोई समस्या नही है परन्तु ऐसी अवस्था मे कोई भी समस्या नही होगी। परन्तु समस्याएँ तो है, अत: इस दृष्टि को छोड़ना होगा। तब उस अवस्था मे कर्मफल की असगति को कैसे समझा जाय ? 'क' की पत्नी तथा बच्चे हत्या के लिए उत्तरदायी नही हैं, तो वे उसका दण्ड क्यो भोगे ? शायद यहाँ कहा जाय कि यदि वे पत्नी और

बच्चे नही होते तो उन्हे दण्ड नही भोगना पडता परन्तु उनका पत्नी तथा बच्चे होना क्या उनके अपने सकल्प का परिणाम है ? शायद पत्नी के लिए यह कहा जा सकता हो, क्या बच्चो के लिए भी यह कहा जा सकता है ? शायद यहा यह कहा जाय कि जिस समाज मे 'क' सदस्य था उसकी सरचना में ही ये सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं, तथा इन सम्बन्धो का एक विशेष प्रकार का होना, समाज के सदस्यो के लिए विशिष्ट प्रकार के परिणाम लाता है। यदि ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें 'क' को कारावास मिलन पर पत्नी तथा बच्चो की देखभाल समाज के अन्य सदस्यो पर, अथवा व्यवस्था पर आश्रित होती, तो वहा, स्पष्टतया इनके लिए भिन्न परिणाम होते । परन्तु हमारे समाज म, अथवा ऐसे ही किसी समाज म, जहा क' के किए फल अन्यो का भी भुगतना पडता है, वहा शायद मान्यता यह है कि बीवी बच्चो का मोह 'क' को उस अविवेकपूर्ण कृत्य से बचा लेता । दूसरो को इससे सबक लेना चाहिए, और यदि उन्हे अपने बीवी बच्चो से मोह है, तो उन्हें ऐसे अविवेकपूर्ण कृत्यो से बचना चाहिए । अन्य शब्दो मे यद्यपि बीवी बच्चो ने ऐसा कुछ नही किया जो उन्ह 'क' के किए का फल भुगतना पडे, उनका एक विशेष सामाजिक सरचना का अग होना ही उनकी विपत्ति का कारण है। जिस प्रकार दवी अथवा प्रच्छन्न व्यवस्था को न जानने पर कर्मफल की सगति हम अप्राप्य होती है, उसी प्रकार समाज की सरचना को न समझने के कारण हम उसे नही देख पाते, दोनो ही अवस्थाओ में कर्म तथा फल का कोई सीधा सम्बन्ध हो, अथवा व किसी एक सरल शृ खला का अग हो, यह आवश्यक नही है । हमने यह देखा कि समाज की ऐसी सरचना की कल्पना सम्भव है जिसमे यह सम्बन्ध अधिक निकट का हो। इस सम्बन्ध म यह ध्यान देने योग्य है कि जिन विचारको ने न्याय तथा दण्ड की उस व्यवस्था की कल्पना की है जिसमे अपराधी का बहिष्कार नही किया जाता, अपितु उसके साथ लगभग उसी प्रकार का व्यवहार होता है जसा रुग्ण व्यक्तियो के साथ । वे वस्तुत एसी सामाजिक सरचना को प्रस्तुत करते हैं जिसमे कर्मफल को सगति अधिक तक सगत रूप मे प्राप्त होती है ।

इस विवेचन मे जिन दो दृष्टियो की बात की गइ है, वे महाभारत के मनीषियो के लिए अलग अलग नही थी। शान्तिपर्व म इस बात पर बडा बल दिया गया है कि राजा तथा राज्य इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि सारी सामाजिक व्यवस्था इस सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब है । राजा के कर्त्तव्यनिर्वाह क अभाव में न केवल सारी व्यवस्था ही छिन्न भिन्न हो जाती है अपितु प्राकृतिक घटनाएँ भी अनियमित हो जाती हैं। वर्षा, ऋतुए मानव जीवन में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं । जीवन कल्याणमय हो तथा समृद्ध दिशा ले इसके साथ ऋतुओ का सहयोग अथवा उनकी अनुकूलता भी आवश्यक है । एसा लगता है कि समस्त चराचर जगत् का एक अखण्ड कल्पना तथा उसक आधार मे एक न्यायिक

व्यवस्था मानवीय समाज एव व्यापार की समझ में आधारभूत स्थान रखती है। राजा का कर्त्तव्य न केवल दण्ड नीति द्वारा दुष्टो को दण्ड देकर मर्यादा को स्थापित करना, अपितु सभी वर्णो के त्रिवर्ग की रक्षा करना भी था। पूर्वपिक्षा यह लगती है कि सभी सदस्य अपना-अपना कर्त्तव्य शास्त्रविहित रूप में नही निभायेगे, तथा एक दूसरे के धर्म क्षेत्रो मे हस्तक्षेप करेंगे तो ऐसी अव्यवस्था जन्म लेगी जिसमे कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि नही कर सकेगा। व्यक्ति का कल्याण तथा एक निश्चित सामाजिक सरचना परस्पर इतने घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। पृथ्वी पर राजा तथा परलोक मे देवता इस सरचना की रक्षा करते हैं।

यह कल्पना बडी मोहक है, परन्तु फिर यही प्रश्न उठता है कि किसी भी समय समाज में विघटन आरम्भ ही कैसे हुआ ? यहां महाभारत का सन्दर्भ देकर हमारा उद्देश्य महाभारत के मनीषियो के विचारों की मीमांसा नही है, अपितु केवल इस ओर ध्यान आकर्षित करना है कि कर्मफल की सगति का प्रश्न सामाजिक सरचना के प्रश्न से जुडा हुआ है।

निष्कर्ष के रूप मे हम यह कह सकते हैं कि कर्मफल की संगति के विषय मे हमे असन्तोष इसलिए होता है कि हम प्रथम तो कर्म को एक ऐसी सरल शृ खला के रूप मे देखते हैं जो एक निश्चित आदि तथा अन्त रखती है, दूसरे इस शृ खला को हम एक अन्य शृ खला अर्थात् कारण-कार्य की शृ खला के उदाहरण के रूप मे ले लेते है जहाँ हम दो घटनाओ में सीधे एक निश्चित सबध मान बैठते है। दोनो ही अपेक्षाए अनुचित है। कार्य तथा फल एक ही चीज नही है, दूसरे कर्म की आवश्यकता तथा पर्याप्त अवस्थाएँ हमे कर्म को एक जटिल व्यवस्था के अग के रूप मे देखने के लिए बाध्य करती हैं। □

जिस कार्य का सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किये किसी प्रकार न रह सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हो, जिससे किसी का अहित न हो, ऐसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं। आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से कर्ता उद्देश्य-पूर्ति में सफल नहीं होता। अत. मानव मात्र को अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य का सम्पादन करना अनिवार्य है।

---

४६ कर्म सिद्धान्त . एक टिप्पणी

☐ डॉ० शान्ता महतानी

प्राय यह कहा जाता है कि अच्छे कम का फल अच्छा होता है और बुरे कम का फल बुरा। यहा प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'अच्छा' क्या है और 'बुरा' क्या है ? इन पदो को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि 'अच्छा' और 'बुरा' इन पदो को परिभाषित करते समय हम उन्हे कुछ परिस्थितियो या वस्तुओ या मानसिक अवस्थाओ से जोडते हैं। इतना ही नहीं कुछ व्यक्तियो के लिये एक ही परिस्थिति अच्छी हो सकती है तो अन्या के लिये बुरी। न केवल यही बल्कि यह भी सही है कि परिस्थिति जो एक समय विशेष मे अच्छी कही गयी, वही अन्य समय मे बुरी कही जाती है। इसी प्रकार जब हम ससार मे देखते हैं तो पाते हैं कि कुछ व्यक्ति दुराचारी और बेईमान होते हुए भी सुखी जीवन बिताते हैं तो दूसरी ओर सदाचारी और ईमानदार व्यक्ति दु खी देखे जाते हैं। जब इन विसगतियो के बारे मे प्रश्न उठाया जाता है तो उनकी यह कहकर व्याख्या की जाती है कि ये अपने पिछले जन्मों का फल भोग रहे हैं और इस जीवन मे जो कम कर रहे हैं उनका फल अगले जीवन मे भोगेंगे।

'कम' पद की व्याख्या के लिये इस शब्द के अन्य प्रयोगो पर विचार कीजिये। उदाहरण के रूप मे इस कथन को लें--- करम गति टारे नाहिं टरे'। इस कथन मे प्रयुक्त 'कम' पद पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि यहा 'कम पद का वह अर्थ नही है जो ऊपर के उदाहरण से लक्षित होता है। यहाँ 'भाग्य के अर्थ मे 'कम' पद को समझा जा रहा है। लेकिन भाग्य भी तो कम के अनुसार निर्धारित होता है।

एक और अन्य अर्थ पर विचार कीजिये। 'वह अपने कर्मों का फल भोग रहा है।' इस कथन मे व्यक्ति के इसी जीवन मे कर्मों के आधार पर प्राप्त फलो की बात कही जा रही है। उदाहरण के रूप मे कोई गरीब लडका मेहनत-मजदूरी करके शिक्षा प्राप्त करता है और अपनी योग्यता के आधार पर अच्छी नौकरी पा जाता है तो हम कहते हैं यह उसके कर्मों का फल है। इसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति निरन्तर शराब पीने के कारण अपना स्वास्थ्य खराब कर लेता है तो भी हम इसी प्रकार की बात कहते हैं।

उपर्युक्त सभी उदाहरणो मे कम के द्वारा कुछ व्यवहारो की व्याख्या

की जा रही है और 'कर्म' पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जा रहा है। अतः कर्म के स्वरूप और उससे सम्वन्धित कुछ प्रश्नो की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना वाछनीय है।

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक तत्र किसी न किसी रूप मे कर्म के प्रत्यय को स्वीकार करते है। कर्म को वन्धन के कारण के रूप मे एव मुक्ति के साधन के रूप में व्याख्यायित किया गया है। कर्म के वारे मे विभिन्न मान्यताएँ हैं जिनके आधार पर कर्म के कारण और साधन रूप पर प्रकाश पडता है। एक मान्यता है कि प्रत्येक कर्म का कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है (या होना चाहिये)। इस मान्यता (या वास्तविकता ?) का आधार है कारण और कार्य नियम की सार्वभौमिकता। दूसरे शब्दो मे, कारण और कार्य मे सार्वभौमिक सम्वन्ध है। इसी कारण और कार्य के नियम के आधार पर कर्म और फल के वीच सम्वन्ध की व्याख्या की जाती है। और कहा जाता है कि अगर हम इस नियम कि 'कर्म होगा तो फल अवश्य मिलेगा' को स्वीकार नहीं करेगे तो कारण-कार्य नियम की सार्वभौमिकता को भी अस्वीकार करना पडेगा। अगर हम थोड़ा विचार करे तो ज्ञात होगा कि कर्मवादी मात्र इतना ही नही कह रहा है कि कारण और कार्य के वीच का सम्वन्व भौतिक घटनाओ की व्याख्या तक सीमित है वरन् वह इस नियम को नैतिक घटनाओ की व्याख्या के लिये भी कह रहा है। ऐसा करते समय उसका यह दावा है कि कर्म का जैसे प्राकृतिक परिणाम होता है, उसी प्रकार नैतिक परिणाम भी होता है। देखा जाय तो कर्मवादी की रुचि इसी मे ही होती है। कर्म चाहे व्यक्तिगत रूप से किया जाय या सामूहिक रूप से, उसका नैतिक परिणाम अवश्य होता है। इसीलिए कर्मवादी कहता है कि अच्छे कर्म का अच्छा और वुरे का वुरा परिणाम होता है।

कर्म के नैतिक परिणाम के वारे मे सभी कर्मवादी एक मत नही हैं। नैतिक परिणाम मानने वाले विचारक यह मानते है कि कर्म से एक शक्ति उत्पन्न होती है जो जीव मे सुरक्षित रहती है और वाद मे नैतिक परिणाम उत्पन्न करती है। ये विचारक किसी व्यक्ति के हैजे से मरने या पेड़ से गिरकर हड्डी के टूटने जैसी घटनाओ की व्याख्या भी व्यक्ति द्वारा पिछले जन्म मे किये गये अशुभ कर्मो के आधार पर करते है। इस दृष्टि से देखे तो ज्ञात होता है कि कर्मवादी न तो कर्म के प्राकृतिक कारणो में रुचि रखता है और न प्राकृतिक परिणाम मे। उसके अनुसार किसी घटना का प्राकृतिक कारण वास्तविक कारण नही होता, वास्तविक कारण होता है पिछले कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव मे परिणाम उत्पत्ति तक रहती है। प्राकृतिक कारण उसके लिए गौण-होते है। उदाहरण के रूप मे हैजे से मरना या पेड से गिरकर मरना, पिछले कर्म (उसके द्वारा किसी व्यक्ति की हत्या) का परिणाम कहा जायेगा।

'कम की शक्ति' के स्वरूप के बारे मे तथा उसके निर्देशन के बार म विभिन्न भारतीय दाशनिक तत्रो के मत अलग अलग हैं जिनकी सक्षप मे चचा करना सम्भव नही। यहा केवल दो विवादास्पद बिन्दुओ, जिन पर चर्चा की जानी चाहिये, का इगित किया जाता है—(१) क्या चेतन सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थात कम मे शक्ति रह सकती है? तथा (२) क्या नतिक मूल्या और प्राकृतिक गुणा को समान स्तर का माना जा सकता है? इन प्रश्ना का उठाने का आधार यह है कि 'होना चाहिये' और 'है' दो अलग-अलग कोटिया हैं। एक को दूसरे मे घटित करने मे तार्किक कठिनाई उत्पन्न होती है।

कुछ दशन-सम्प्रदाय कम सिद्धात के साथ ईश्वर के प्रत्यय का भी जोडते हैं। इन दाशनिका का मत है कि ईश्वर कुछ भी कर सकता है क्योकि वह सवज्ञ है और सवशक्तिशाली है। लेकिन क्या उचित और अनुचित, शुभ और अशुभ, अच्छा या बुरा क्या है, इसे भी ईश्वर तय करता है? लेकिन हम देखते हैं नतिक नियम सावभौमिक नही होते और चू कि नतिक नियम प्राकृतिक नियम जसे नही हैं अत ईश्वर के नियमो के ज्ञान की सम्भावना सदेहास्पद है। इन आलोचनाओ से बचने का एक ही माग है और वह है कि ईश्वर को नतिक नियमो का स्रोत न मानकर मानव या मानव-समाज को ही नतिकता का स्रोत माना जाय।

कम से सम्बन्धित उपयुक्त विश्लेषण से यह निष्कष निकलता है कि कमवाद की एक मान्यता तो यह है कि प्रत्येक कम का उसके अनुसार फल मिलता है, दूसरी मान्यता है कि पुनजन्म होता है और तीसरी मान्यता (कुछ दशनो क अनुसार) यह है कि ईश्वर की सत्ता है और वह इन सबका नियत्रण करता है।

लेकिन इसक साथ-साथ हमने यह भी देखा है कि ऐसा मानने पर कुछ वैचारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इन कठिनाइयो को दूर करने क लिए एक सुझाव प्रस्तुत किया कि अगर नतिक विधान को मानवीय विधान मान लिया जाय तो ये कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं। इस प्रकार की विचारधारा के पक्ष मे हमें बहुत से तक मिल सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपन कम के बारे में जानता है, अत वह अपने कम के लिए उत्तरदायी भी है। अत उसे कर्मों के लिए पुरस्कार और दण्ड दिया जा सकता है। लेकिन इस मत के विरुद्ध भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित की जा सकती हैं क्योकि विभिन्न कालों और समाजो म नतिकता के स्तर या अच्छे और बुरे की परिभाषा भिन्न भिन्न रही है, अत हम कोई सावकालिक और सावभौमिक नियम नही बना पायेंगे। नतिक नियम निरपवाद एव निरपेक्ष होना चाहिये। □

सेवा आत्मा का विस्तार

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत

जग मे हैं जितने भी प्राणी,
उन सबके मन और भाव है।
जैसा मैं सुख-दुःख अनुभवता,
वैसा ही उनका स्वभाव है।

उनके सुख-दु.ख मे सहभागी
बनकर करू सभी को प्यार।
सेवा आतमा का विस्तार ॥१॥

भूखों को भोजन नसीव हो,
तृपितजनो को निर्मल पानी।
रोगी को औषध मिल जाये,
भीतजनों को निर्भय वाणी ॥

जो जड़ता मे मूच्छित-वञ्चित,
खोलूँ उनके चेतन द्वार।
सेवा आत्मा का विस्तार ॥२॥

सेवा सौदा नही, हृदय का
सहज उमडता अमित स्नेह है।
जो इसमे रमता उसके हित,
सारी वसुधा परम गेह है ॥

सेवा का सुख शाश्वत, स्वाश्रित,
उसमे किंचित् नही विकार।
सेवा आतमा का विस्तार ॥३॥

सेवा से सब मल गल जाते,
नयी शक्ति नव तेज निखरता।
आत्म-गुणो का सिंचन होता,
दु.ख-दरदो का जाल विदरता ॥

सेवा से बनते परमातम,
दुर्लभ नर जीवन का सार।
सेवा आतमा का विस्तार ॥४॥

□ □ □

तृतीय खण्ड

•

कर्म सिद्धान्त
और
आधुनिक विज्ञान

४७

कर्म और आधुनिक विज्ञान

☐ आचार्य अनन्तप्रसाद जैन

'कम' का जो रूप और आत्मा के साथ सम्बन्ध के प्रारूप जो जन सिद्धान्त ने स्थापित किए हैं, वे अत्यन्त आधुनिक विज्ञानमय हैं। जैन कम सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान मे कोई विभेद नही है—सिवा इसके कि एक जीव-आत्मा-शरीरधारी से सम्बन्धित है तो दूसरा प्रायोगिक, रासायनिक और भौतिक प्रभावो के समीकरणो से सयुक्त है। आधुनिक विज्ञान ने जीव जीवन और आत्मा सम्बन्धित रिसच (अनुसधान) तो बहुत किया और कर रहा है पर अभी तक किसी विशेष नतीजे पर नही पहुंच पाया है। जन तीथकरो ने हजारो वष पहले, तपस्या (गभीर चिन्तन) द्वारा जीवन के विषय मे जो उपलब्धियां प्राप्त की वे वैज्ञानिक तथ्यो और प्रयागो द्वारा अकाटय एव पूणत समर्थित पाई जाती हैं। यदि वज्ञानिको ने थोडा भी जन कम सिद्धान्त का अध्ययन किया होता या करते तो एक महान सफलता की उपलब्धि उनके खोजो और अनुसधान (रिसच) मे हुई होती परन्तु अफसोस यही है कि वैज्ञानिक धम सिद्धान्त को बकवास मानते हैं और धर्माधिकारी लोग विज्ञान को धमद्वषी। यदि दोनो मिलकर काम करें तो ससार की कितनी ही विसगतियो और समस्याओ को सुलझाने मे कठिनाई नही रह जाय। विशेषकर जन कम सिद्धान्त तो परम वैज्ञानिक है। इस ओर आधुनिक वज्ञानिको तथा विद्वानो का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ ऐसे साहित्य के सजन की परम आवश्यकता है जिससे ऐसे लोगो मे इस विषय मे दिलचस्पी उत्पन्न हो सके।

विज्ञान का इलेक्ट्रन, प्रोटन, न्यूट्रन, पोजीट्रन आदि हमारे जैन कम सिद्धान्त के "पुद्गल परम परमाणु" ही हैं। तीथकरो ने इन्हें जीव-जीवन और आत्मा से सबधित प्रभावो को व्यक्त किया। वे तो मानव की श्रेष्ठता, उसके दुखो का निवारण, शाश्वत आनद और मोक्ष प्राप्ति की दिशा मे ही मानसिक अनुसधान (तपस्या या गभीर चिंतन) द्वारा उपलब्ध तथ्यो को प्रकाश मे लाने म लगे रहे। उन्होने भौतिक या सासारिक सभी कुछ दु खमय पाकर त्याग करने का ही उपदेश दिया। भौतिक ससार विज्ञान मे इतना अधिक उन्नति कर गया है—पर क्या सभी सुखी हो सके हैं? भौतिक समृद्धियां और जीवन के आयाम काफी बढ गए हैं। फिर भी मानव असतुष्ट और दुखी ही पाया जाता है। भोग-विलास से क्षणिक सुख ही होता है। शाश्वत सुख तो तीथकरो के बतलाए माग

पर चलकर ही मिल सकता है। तीर्थंकरो ने भी साधारण मानव की भाँति जन्म लिया और अपनी साधना और सम्यक् चिंतन और आचरण द्वारा महामानव —भगवान बन गए।

विज्ञान तो आजकल महानाश—प्रलय का अग्रदूत बन गया है। विकसित कुछ बड़े देशों ने ऐसे अस्त्रशस्त्रो का निर्माण कर लिया है और करते जा रहे हैं जिनसे संसार या पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े होकर समाप्त की जा सकती हैं। सर्वज्ञ तीर्थंकरों का कर्म-सिद्धान्त इसके ठीक विपरीत देश और ससार में तथा किसी भी समाज मे सुख-शान्ति की स्थायी स्थापना कर सकता है।

जैन कर्म सिद्धान्त की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं—जिनमें मुख्य है आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध की विशद, विधिवत, पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या। सभी जीवधारियो के साथ अनादिकालीन रूप से आत्मा के साथ पुद्गल (मटर) निर्मित शरीर है। शरीर हलन-चलन कार्य या कर्म का माध्यम है और आत्मा चेतना, ज्ञान और अनुभूति का माध्यम। बिना आत्मा के सभी पुद्गल शरीर निष्क्रिय और बेजान जड़ है। किसी शरीर मे जब तक आत्मा विद्यमान रहती है वह शरीर कर्म करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बिजली की हर प्रकार की मशीने। बिजली की मशीन या तत्र तरह-तरह के विभिन्न बनावटोवाले होते हैं पर बिना बिजली के कुछ भी काम नही कर सकते। उसी प्रकार सभी आदमियो और जीवधारियों के शरीरो का निर्माण—बनावट भिन्न-भिन्न होती है—पर वे सभी अपने शरीरो मे आत्मा रहने पर ही काम करते हैं। आत्मा के नही रहने पर वे मुर्दा—निष्क्रिय होते है। आत्मा सभी मे समान है पर बनावट विभिन्न होने से उनके कार्य अलग-अलग होते हैं जैसे बिजली के यन्त्रो के।

जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार किसी जीवधारी के स्थूल शरीर के अतिरिक्त "कार्मण शरीर" और "तैजस" शरीर भी होता है। इन दोनो को हम नही देख सकते। इनके निर्माण करने वाले पुद्गल परमाणु और उनके सघ इतने सूक्ष्म होते हैं कि देखना सभव नही होता। इनमे कार्मण शरीर सबमे प्रमुख है। यही मानव या किसी भी जीवधारी के कार्यकलापों का प्रेरक नियता या कर्ताधर्ता है। हमारा शरीर अनेकानेक रासायनिक द्रव्यो के सम्मेलन से बना हुआ है। ये रासायनिक पदार्थ, सभी के सभी, पुद्गल निर्मित होते है। ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक विज्ञान के इलेक्ट्रन, प्रोटन, न्यूट्रन, पोजीट्रन आदि जैन सिद्धान्त मे वर्णित "पुद्गल" हैं। चूँकि "एटम" को हिन्दी में परमाणु की सज्ञा दी गई है—इसलिए इलेक्ट्रन आदि को मैंने "परम परमाणु" कहा है। ये ही परम परमाणु "पुद्गल" है। पुद्गल परम परमाणु ही आपस मे मिल-मिलाकर परमाणु (एटम) बनाते हैं और ये एटम (पुद्गल परमाणु) मिलकर अणु (मौलीक्यूल) बनाते है। जिनके मिलने से-संघबद्ध होने से,

ठोस, तरल और गैस बनते हैं। शरीर के भीतर अनेकानेक प्रकार के ये पुद्गल पिण्ड या रासायनिक सगठन हैं। इनमे सवदा कुछ न कुछ परिवतन होता रहता है। सारा वायुमडल पुद्गल परमाणुओं से भरा हुआ है। विश्व की हरएक वस्तु हरएक अणु-परमाणु सवदा कपन प्रकपन युक्त हैं—जिससे हरएक वस्तु से पुद्गलों का अजस्र प्रवाह होता रहता है।

हम भोजन, पान करते हैं जिनसे भीतर रासायनिक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं और शरीर के भीतर हर समय नए पुदगल पिण्ड बनते रहते हैं और पुरानो मे कुछ परिवतन होता रहता है। इन्हीं पुद्गल पिण्डो के बीज रूप पुद्गल परमाणुओं से कामण शरीर का निर्माण होने से उसमे भी परिवतन होते रहते हैं। बाहर से अनतानत पुदगल परमाणु विभिन्न सगठनो मे आते रहते हैं और भीतर से निकलते रहते हैं। और आपसी क्रिया प्रक्रिया द्वारा आतरिक पुदगल-पिण्डो म अथवा रासायनिक सगठनों मे परिवतन होते रहते हैं। कुछ क्षणिक, कुछ अधिक समय तक रहने वाले कुछ काफी स्थायी प्रकार के नए-पुराने सगठन बनते बिगडते रहते है। जो पुदगल परमाणु शरीर के अतगत पुद्गल पिण्डो से मिलकर—सबद्ध होकर या रासायनिक क्रिया द्वारा स्थायी परिवतन कर देते हैं उन्हें जैन साहित्य मे 'आस्रव" नाम दिया गया है। रासायनिक क्रिया द्वारा सबद्धता हो जाने पर उस क्रिया को 'बध" कहते हैं। ये परिवर्तन यथानुरूप "कामण शरीर' में भी होते रहते हैं। मानव जो कुछ भी करता, कहता या विचारता है वे सभी किसी न किसी पुद्गल पिण्ड द्वारा ही परिचालित, प्रेरित या प्रभावित होते हैं। यह "कम प्रकृति" कही जाती है। इनका विशद पर सक्षिप्त विवरण दो पुस्तको से प्राप्त हो सकता है। ये हैं—हिन्दी मे—"जीवन रहस्य एव कर्म रहस्य" तथा अग्रजी में "मिस्ट्रीज ऑफ लाइफ एण्ड इटनल ब्लिस।"[1] इन्हें देखें। कम सिद्धात जैन वाङ्मय मे बडे ही विशाल रूप में वर्णित है यदि पुद्गल परमाणुओं का आना-जाना और आतरिक पुदगल पिंडो से सबद्ध होकर "बधादि" करना समझ म आ जाय तो फिर परम वैज्ञानिक जन कम सिद्धात समझने मे कोई कठिनाई नही हो और तब ज्ञान श्रुतज्ञान न रहकर वैज्ञानिक सम्यक् ज्ञान हो जाय।

यह "बध" ही भाग्य है। जो आस्रवित पुदगल बध बनाते हैं उन्हें कम पुदगल या सक्षेप मे 'कम" कहते हैं और ये कम पुदगल कामण शरीर से रासायनिक क्रिया द्वारा प्रतिबधित हो जाते हैं। यह बधन प्रतिबधन सवदा चलता रहता है। 'कर्मों" म भी परिवतन होता रहता है। हमारे यहाँ आठ प्रकार के "कम-बध' कहे गए हैं। जो आत्मा के आठ गुणो को आच्छादित या मर्यादित कर देते है। कम

---

1 पुस्तकें मिलने का पता —तीथकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तरप्रदेश, पारस सदन, आय नगर लखनऊ पिन २२६००१
जीवन रहस्य एव कम रहस्य—मूल्य रु० ३ ५०
मिस्ट्रीज ऑफ लाइफ एण्ड इटनल ब्लिस—मूल्य रु० ७ ५०

पुद्गलो का आस्रव हमारे शारीरिक, मानसिक, वाचिक हलन-चलन द्वारा होता है। आस्रव के अन्य कई कारण जैन शास्त्रो मे वर्णित है। आस्रवित पुद्गल काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि "कपायो" और बुरी भावनाओं द्वारा "वध" मे परिणत हो जाते हैं। ये वध कुछ क्षणिक, कुछ अर्ध स्थायी और कुछ स्थायी होते है। ये सभी कुछ, रासायनिक पद्धति द्वारा, शरीर से कर्म कराने की व्यवस्था करते है। अच्छे कर्म पिण्ड अच्छा कर्म और बुरे कर्म पिण्ड बुरा कर्म प्रभावित करते है। आत्मा स्वय कुछ नही करता वह तो शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानमय है। परन्तु उसकी उपस्थिति मे ही कर्म होते हे अन्यथा तो शरीर निर्जीव अचेतन, जड ही है।

हम जो कुछ भी करते है—देखते-सुनते है सभी कुछ पुद्गल निर्मित—पुद्गलमय होते है। इन्हे जैन वाङ्मय मे "व्यवहार" कहा गया हैं। "**निश्चय**" तो केवलमात्र आत्मा या आत्मा मे लीन हो जाना ही है। एकाग्रता से एक ही प्रकार का कर्मास्रव होता है। आत्मा मे ध्यान लगाने से चिन्ता, माया, मोह आदि से निर्लिप्त होने से कर्म पुद्गलो का आगमन और वध एकदम रुक जाता है। इतना ही नही पुद्गल पिण्डो मे से पुद्गल परमाणु निःसृत होते है। उनसे कर्मो की "निर्जरा" भी होती है। जिससे आत्मा की शुद्धता, कर्मो या कर्म पुद्गलो से छुटकारा मिलने से वढती है।

अनतकालिक परपरा से चले आते कौटुम्बिक अथवा सामाजिक प्रचलनो मे फसे लोग "अज्ञान" मे ही पड़े रहकर सच्चे ज्ञान और सच्चे धर्म की शिक्षा की प्राप्ति नही कर पाते है। इसके लिए सभी को षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ—जैसा जैन सिद्धान्त मे वर्णित है, उसकी जानकारी आवश्यक है। पर जैन सिद्धान्तो का तीव्र विरोध स्वार्थी लोगो ने इतना फैला रखा है कि इनका ज्ञान विरले लोगो को ही हो पाता है। जैन समाज भी इन तत्त्वो का प्रचार-प्रसार उचित रीति से नही करता, इससे संसार अव्यवस्था, अनीति और अनाचार एव दुःखो से भरा हुआ है। सरल भाषा मे सरल शब्दावली लिए यदि जैनदर्शन और सिद्धान्त की पुस्तके लिखकर सस्ते दामो मे प्रचारित की जाएं तो ससार का बडा भला हो। अभी तो हमारे श्रीमत, पडित, और गुरु मुनि लोगो का ध्यान इधर गया ही नही, तो क्या हो ? जैन समाज को जैन तत्त्वो के प्रचार-प्रसार पर मदिर-निर्माण से अधिक खर्च करना चाहिए। इसी से सबका सच्चा भला होगा। जैन मदिरो और सस्थाओ मे तो रुपया बहुत इकट्ठा है पर उस धन का सदुपयोग नही हो पाता। प्रति वर्ष मूर्ति प्रतिष्ठा, कल्याणक महोत्सव आदि समारोहो पर लाखो रुपया इकट्ठा होता है, पर क्या इन रुपयो का एक फीसदी भी तत्त्व-ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे खर्च होगा ? यदि यह धन ईंट, पत्थर, मदिर, मूर्ति तथा इमारतो मे न लगाकर प्रचार मे उचित रीति से खर्च किया जाय तो समाज, देश, विश्व और मानवता का कितना भला हो !

•●•

४८

कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान

□ श्री अशोककुमार सक्सेना

विज्ञान को जड से चेतन करने का श्रेय आचार्य जगदीशचन्द्र वसु को है, जिन्होने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि सारी प्रकृति जीवन से स्पंदित होती है और तथाकथित 'अचेतन' तथा 'चेतन' मे सीमारेखा व्यर्थ है। इसी प्रकार आइन्स्टाइन ने यह प्रक्रिया प्रारम्भ की जिसके आधार पर आधुनिक विज्ञान 'वस्तु और 'विचार' को एक साथ देख सकने मे समर्थ हो सका। जिस प्रकार पृथक् पृथक् बिन्दुओ की कोई आकृति नहीं होती है परन्तु वे मिलकर कोई चित्र बना सकते हैं, उसी प्रकार पारमाणविक अवयव—प्रोटान, इलेक्ट्रान, न्यूटान, मेजान, क्वाक—स्वय 'वस्तु' न होकर केवल 'विचार' हैं, किन्तु वे मिलकर कोई वस्तु अर्थात परमाणु बना सकते हैं। इसी प्रकार का एक विचार है 'फोटोन' जो प्रकाश का 'निर्माण' करता है—और वनानिक पोली का विचार है—'न्यूट्रिनो', जो कि ठोस द्रव्य से एकदम अनासक्त भाव से गुजर जाता है। इसके अतिरिक्त आइन्स्टाइन की सभी ब्रह्माण्डिकियाँ एक मान्यता के अधीन परिकल्पित की जाती हैं, जिसे ब्रह्माण्डिकीय सिद्धान्त कहते हैं, जिसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड सर्वत्र औसतन एक जसा है अर्थात् द्रव्य और गति का वितरण पूरे ब्रह्माण्ड में औसतन वैसा ही है जसा उसके किसी भाग—उदाहरणार्थ हमारी नीहारिका—आकाशगगा—मन्दाकिनी मे। इस मान्यता के पीछे 'गणितीय सौन्दर्यबोध' के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं है—और इस प्रकार आइन्स्टाइन के सूत्रो के आधार पर विभिन्न ब्रह्माण्डिकियाँ वसे ही प्रस्तुत की जाने लगीं जसे कर्म सिद्धान्त के आधार पर जन, बौद्ध साम्य आदि दर्शन।

प्रकृति की लीला समझने के लिये मानव के पास गणित ही 'एक भरोसा, एक बल है, परन्तु गणितीय निष्कर्ष निराकार ब्रह्म की तरह होते हैं। उनके साकार रूप की उपासना प्रयोगशाला के मन्दिर म होती है और इन्जीनियरी तथा प्रौद्योगिकी अपना काम निकालने के लिए सिद्धि प्राप्ति का प्रयास हैं। इसी प्रकार परम तत्त्व का समझने क लिए कर्म सिद्धान्त एक वास्तविक मच है, जिसमे स्वय आत्मा निराकार ब्रह्म है और मोक्ष या पचत्व या सिद्धि प्राप्ति के साधन हैं—भक्ति, कर्म, ज्ञान व योग।

ससार की सभी घटनाएँ, जीवो की सभी चेष्टाएँ यहाँ तक कि स्वय यह

जगत्, कर्म की ही गति का फल है। देवता लोग भी कर्म के बन्धनो से परे नही है। अवतार लेने पर भगवान भी कर्म के गतिचक्र मे घूमने लगते हैं। कर्म की गति बडी विचित्र है। इसके आदि—अन्त को जानना सरल नही है। सच ही कहा गया है—'गहना कर्मणो गति'।

विश्व मे व्याप्त विषमता का एकमात्र कारण प्राणियो द्वारा किये गये अपने कर्म है। 'कर्मजम् लोकवैचित्र्य', अर्थात् विश्व की यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है।

"करम प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तसि फल चाखा" —यही कर्म सिद्धान्त है, जिसे वेदान्त, गीता, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मीमासा, साख्य, योग, अद्वैत, काश्मीरीय शैव, वैष्णव, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत. द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत—सभी दर्शन स्वीकार करते है।

विभिन्न दार्शनिको के मन्तव्यो से यह स्पष्ट है कि कर्म क्रिया या वृत्ति या प्रवृत्ति या द्रव्यकर्म है, जिसके मूल मे राग और द्वेष रहते हैं—'रागो य दोसो विय कम्मवीय'। हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य सस्कार, धर्म-अधर्म, कर्माशय, अनुशय या भावकर्म छोड जाता है। सस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इसी का नाम संसार है, जिसके चक्र मे पडे हुए प्राणी कर्म, माया, अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, वासना या मिथ्यात्व से सलिप्त हैं, जिनके कारण वे ससार के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ है, अतः प्राणी के प्रत्येक कार्य राग द्वेष के अभिनिवेश हैं। इसलिए प्राणियो का प्रत्येक कार्य आत्मा पर आवरण का ही कारण होता है। परन्तु सत्त्व-रजस-तमो-रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है। जीव और कर्म के सम्बन्ध का प्रवाह अनादि है। कर्म-प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के ससार मे न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शन मानते है।

आत्मा ही कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता है—"य कर्त्ता कर्म भेदानाम् भोक्ता फलस्य च" यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनो एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते है तथापि आत्मा अपने भावो का ही कर्त्ता है, पुद्गल कर्मकृत समस्त भावो का कर्त्ता नही है।

गीता मे स्पष्ट कहा है—"नादत्ते कस्यचित्त पापं न चैव सुकृत विभु", अर्थात् परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को, यानी प्राणी-मात्र को अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते है। कर्म अपना फल स्वय देते हैं। 'कर्मणा वध्यते जन्तुः' (महाभारत, शान्तिपर्व) अर्थात् प्राणी कर्म से बंधता है और कर्म की परम्परा अनादि है। ऐसी परिस्थिति में 'बुद्धि कर्मानुसारिणी'

अर्थात् कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात अच्छे आशय से किया गया कार्य पुण्य और बुरे अभिप्राय से किया गया कार्य पाप का निमित्त होता है। इसलिये साधारण लोग यह समझते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पाप पुण्य का लेप न लगेगा, इससे वे उस काम का तो छोड देते है, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नही छूटती, इससे वे इच्छा रहने पर भी पाप-पुण्य के बंध से अपने को मुक्त नही कर सकते। सच्चा निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग मे है। अनासक्त कार्य से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिये "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता), अर्थात कर्म करना अपना अधिकार है, फल पाना नही। परम पुरुषार्थ या मोक्ष पाने के तीन साधन हैं—श्रद्धा या भक्ति या सम्यग् दर्शन, ज्ञान या सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र अर्थात् कर्म और योग। मनोनिग्रह, इन्द्रिय जय आदि सात्विक कर्म ही कर्म मार्ग है और चित्त शुद्धि हेतु की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। कर्ममार्ग और योगमार्ग दोनो ही कर्म सिद्धान्त के अभिन्न अंग हैं।

चार्ल्स डार्विन का जैव विकासवाद जिस प्रकार से सरलतम से जटिलतम जीव की उत्पत्ति बतलाता है, उसी प्रकार कर्म सिद्धान्त भी जीव या आत्मा के आध्यात्मिक विकास को कर्म के आधार पर मानता है और कर्मानुसार जीव को विभिन्न योनियो मे से होकर जन्म-जन्मान्तर गुजरना पडता है। जीव मोह के प्रगाढतम परदे को हटाता हुआ उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखाओ या गुणस्थानो या चित्त भूमिकाओ की विभिन्न अवस्थाओ मे से होकर गुजरता है (पातंजल योग दर्शन, योगवासिष्ठ, श्री देवेन्द्रसूरिकृत कर्मविपाक) और जब अज्ञान रूपी हृदय ग्रंथियाँ विनष्ट हो जाती हैं तभी मोक्ष या कैवल्य प्राप्त होता है (शिव गीता)। यही आत्मा के विकास की पराकाष्ठा है। यही परमात्म भाव का अभेद है। यही ब्रह्मभाव है। यही जीव का शिव होना है, यही पूर्ण आनन्द है। तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से तत्त्व की प्राप्ति जीवित अवस्था में यदि किसी जीव को हो जाय, तो उसके ज्ञान के प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, क्रियमाण या प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता हैं एवं संचित कर्म भी शक्तिहीन हो जाते हैं। यही जीवन मुक्त की अवस्था है, जिसके पश्चात चरम पद की प्राप्ति होती है। अत परम पद के जिज्ञासु को अनासक्त होकर कर्म का करते रहना चाहिये, क्योकि कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती और ज्ञान की प्राप्ति से ही परम पद की प्राप्ति होती है। मोक्ष कही बाहर से नही आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियो का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है। सभी निवर्तकवादियो का सामान्य लक्षण यही है कि किसी प्रकार से कर्मों की जड नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहा से फिर जन्मचक्र में आना न पडे, क्योंकि पुनर्जन्म और परलोक

का कारण कर्म है। जीव कर्मों के आवरण को पुरुषार्थ द्वारा हटाता है। सिद्ध जीव की विकसित दशा है।

वैज्ञानिक क्लाइन की ब्रह्माण्डिकी गोचर ब्रह्माण्ड को एक परिमित व्यवस्था—परानीहारिका (मैटागैलेक्सी) का सदस्य मानती है। इस परानीहारिका मे पहले द्रव्य और प्रतिद्रव्य दोनो उपस्थित थे। प्रतिद्रव्य को सक्षेप मे यो समझिये कि परमाणु के जो दो सौ से ऊपर ज्ञात अवयव है उनमे से कुछ के 'विरोधी' अवयव प्रयोगशाला मे पहचान लिए गए हैं, तो यदि समस्त अवयवो के विरोधी अवयव हों और वे आपस मे मिल भी सकें तो 'प्रतिपरमाणु' बन सकता है और फिर आगे प्रतिद्रव्य का भी अस्तित्व सम्भव है। यदि प्रतिद्रव्य है तो वह द्रव्य के साथ नही रह सकता—परस्पर संयोग होते ही वे एक-दूसरे को समाप्त कर देंगे और इस प्रक्रिया मे अकल्पनीय ऊर्जा की सृष्टि होगी—परन्तु प्रतिद्रव्य अकेले बना रह सकता है, जैसे कि द्रव्य अकेले बना रह सकता है। प्रतिद्रव्य की बनी हुई एक दुनिया भी हो सकती है। उस दुनिया मे क्या हो सकता है, इस चर्चा के अपने-अलग मजे हैं और 'प्रतिविश्व' पर वैज्ञानिको का कोई एकाधिकार भी नही है। उदाहरण के लिये कृष्ण-लीला की उदात्तता सिद्ध करने के लिए कुछ वैष्णव दार्शनिकों ने 'गोलोक' की कल्पना प्रतिविश्व के रूप मे ही की है, जिसका विशेष लाभ यह है कि परकीया प्रेम जो इस लोक मे अधम कृत्य है, उस लोक मे उत्तम कृत्य हो जाता है। भारतीय दर्शन मे सत्यलोक, ब्रह्मलोक, तपलोक, महर्लोक, भुवर्लोक, पितृलोक, देवलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि की कल्पना प्रतिविश्व के रूप मे ही है।

इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्वरूप इस विश्व मे एक-एक ब्रह्माण्ड मे अनन्तानन्त जीव है। ब्रह्माण्ड की अनेकता और अनन्तता अब वैज्ञानिक भी स्वीकृत कर चुके है। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर हेज हाबेर ने दूसरी दुनिया मे जीवन के बारे मे एक अनोखा सिद्धान्त पेश किया है, जिसके अनुसार जरूरी नही कि जहा भी विकसित सभ्यता अथवा विकासशील जीवन हो, वहा पानी और आक्सीजन हो ही। शुक्रग्रह जैसे गैसीय वातावरण युक्त ग्रहो के आकाश मे भी जीवन उसी तरह पनप सकता है, जैसे पृथ्वी के ऊपर महासागरो मे पनपा। पृथ्वी के जीवधारियो के शरीर मे भले ही कार्बन-यौगिको का बाहुल्य है, मगर अन्य ग्रहो का जीवन बिलकुल भिन्न तत्त्वों से बना हो सकता है। जिन ग्रहो पर सरसरी तौर से जीवन नही दिखाई देता, वहा भी 'भूमिगत' जीवन हो सकता है। हो सकता है आए दिन हम जो उडनतश्तरियाँ वगैरह पृथ्वी पर देखते है, वे हमारे 'पड़ोस' से आई हो और पृथ्वी से आक्सीजन, जल तथा अन्य आवश्यक पदार्थ एकत्र करके वापिस चली जाती हो। इस सिलसिले मे वैज्ञानिक पृथ्वी और शुक्र के बीच, पृथ्वी और

मगल के बीच तथा मगल से कुछ पीछे तक के अन्तरिक्ष मे "तरते अन्तरिक्ष नगरो' की सम्भावना को भी गम्भीरता से ले रहे हैं, अर्थात ब्रह्माण्डो मे अनन्त जीवन है। अनन्तानन्त जीवो मे एक एक जीव के अनन्तानन्त जन्मो मे एक एक जन्म मे अनन्तानन्त कम हैं।

समस्त विश्व एक ही 'शक्ति' और 'शक्तिमान' का उल्लसित रूप है। सभी चिन्मय हैं। परम शिव सवथा स्वतन्त्र होकर बिना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही 'शक्ति' से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भाषित करते हैं और लीला का सवरण भी कर लेते हैं। वस्तुत यही आकर साधक को "एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति किंचन" तथा "सर्वं खल्विद ब्रह्म" का वास्तविक अनुभव होता है। 'माया' या 'कम' ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर 'ब्रह्म' सत्य है, परन्तु विचार दृष्टि से माया या कम 'सदसद्विलक्षण' है, किन्तु माया या कम को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से 'ब्रह्म' और 'माया' या 'कम' की एकरसता हो जाती है, यह एकरसता माया या कम को त्याग कर या तुच्छ समझकर नही बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने म है, क्योंकि मूल प्रकृति अव्यक्त' है। कम की गति अनादि है, अविद्या अनादि है। अविद्या या कम तथा जोव का सम्बन्ध भी अनादि है, परन्तु ये कमगति, अविद्या या कम सम्बन्ध, अनित्य हैं। इनका नाश यद्यपि परिणाम के द्वारा ही होता है तथापि नाश क लिए भी सृष्टि का होना आवश्यक है। अव्यक्त रूप के रहने से सष्टि नही हो सकती तो फिर सृष्टि होती कैसे है ? वास्तव मे 'काय' वस्तुत कारण मे वतमान है अर्थात् कारण व्यापार के पूव 'काय' कारण मे अव्यक्त रूप मे रहता है। काय की उत्पत्ति और नाश का अथ 'उस विषय की सत्ता का होना या न होना' नही ह। कारण स काय की उत्पत्ति का अथ है—'अव्यक्त से व्यक्त होना' तथा काय के नाश का अथ ह—'व्यक्त से अव्यक्त होना।' यह भी एक प्रकार का परिणाम है, जिसके कारण अव्यक्त मूला प्रकृति म अव्यक्त रूप मे वतमान वस्तु व्यक्त हो जाती है, अर्थात न किसी को 'उत्पत्ति' और न किसी का नाश' होता है, केवल स्वरूप मे परिवतन होता है, वस्तु मे नही, यानी समस्त विश्वरूप काय मूल प्रकृति रूप कारण मे अव्यक्तावस्था मे वतमान रहता है।

भौतिक विज्ञान क अनुसार जगत् म किसी भी पदाथ का नाश नही होता, रूपान्तर मात्र होता है। विज्ञान शक्ति के सरक्षण सिद्धान्त म, पदाथ की अनश्वरता के सिद्धान्त मे विश्वास करता है। जब जगत के जड पदार्थों की यह स्थिति है, तब इन्ही के अभिन्न निमित्त उपादान कारण चेतन आत्मतत्त्व की अनश्वरता समुतिक न्याय से सुतरा सत्य होनी चाहिए।

श्री अरविन्द द्वारा चेतना के विभिन्न स्तरा की परिकल्पना के साथ-साथ

'अति-मानव' का सृष्टि-विकास तथा भूतल पर देवत्व के स्वयं आविर्भाव की उच्चतम परिकल्पना भारत के प्राचीन मनीषियो के सिद्धान्त से निराली है। मूलतः यह परिकल्पना डार्विन के विकासवाद की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक परिणति है।

विश्व मे प्रत्येक कार्य की प्रतिक्रिया होती है, जिससे प्रकृति मे कार्य शक्ति का सन्तुलन बना रहता है। उसी प्रकार कर्म एक क्रिया है और फल उसकी प्रतिक्रिया है, अत. जो भले या बुरे कर्म हमने किये हैं, उनका अच्छा या बुरा फल हमे भुगतना पडेगा।

स्वामी विवेकानन्द ने कर्म-सिद्धान्त की वैज्ञानिक विवेचना की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक क्रिया जो हम करते हैं, हमारे पास पुन: वापिस आती है प्रतिक्रिया के रूप मे; उसी प्रकार हमारे कार्य दूसरे मनुष्यो पर प्रतिक्रिया कर सकते है और अन्य मनुष्य के कार्य हमारे ऊपर प्रतिकिया कर सकते है। समस्त मस्तिष्क जो कि समान प्रवृत्ति रखते हैं, वे समान विचार से प्रभावित होते है। यद्यपि मस्तिष्क पर विचारों का यह प्रभाव दूरी आदि अन्य कारणो पर निर्भर करता है, तथापि मस्तिष्क सदैव अभिग्रहण के लिए खुला रहता है।

जिस प्रकार दूरस्थ ब्रह्माण्डकीय पिण्डो से आने वाली प्रकाश तरंगे पृथ्वी तक आने मे करोडो प्रकाश वर्ष ले लेती हैं, उसी प्रकार विचार-तरंगे भी कई सौ वर्षो तक संचरित होती हुई स्पन्दन करती रहती हैं जब तक कि वे किसी अभिग्राही तक न पहुँच जाये। इसलिये, बहुत कुछ सम्भव है कि हमारा वातावरण इस प्रकार के अच्छे तथा बुरे विचार-स्पन्दनो के कम्पनो से ओतप्रोत हो। जब तक कि कोई मस्तिष्क-अभिग्राही ग्रहण नही कर लेता है तब तक प्रत्येक मस्तिष्क से निकला हुआ विचार स्पन्दन करता रहता है और मस्तिष्क जो कि इनको ग्रहण करने के लिए खुला हुआ है, तत्काल इन विचार-स्पन्दनो मे से कुछ को अभिगृहीत कर लेता है, अतः एक मनुष्य जब कोई बुरा कार्य करता है, तो उसका मस्तिष्क वातावरण मे व्याप्त बुरी विचारधाराओ के स्पन्दनों को लगातार ग्रहण करता रहता है। यही कारण है कि बुरा कार्य करने वाला सतत बुरे कार्य ही करते रहने मे तत्पर रहता है। यही बात अच्छे कार्य करने वाले पर भी लागू होती है।

हमारे सभी कार्य—अच्छे या बुरे—दोनो एक-दूसरे से जुडे हुये हैं। उनके बीच हम कोई सीमा-रेखा नही खीच सकते। ऐसा कोई भी कार्य नही है जो एक ही समय मे अच्छा तथा बुरा फल न रखता हो।

जो अच्छा कार्य करने वाला यह जानता है कि अच्छे कर्म मे भी कुछ-न-

कुछ बुराई है और बुराइयो के मध्य जो देखता ह कि कही-न-कही पर कुछ अच्छाई भी ह, वही कम के रहस्य को जानता ह। इसलिये हम कितनी भी कोशिश क्यो न करलें, कोई भी काय पूर्णतया शुद्ध या अशुद्ध नही हो सकता।

दूसरो के प्रति लगातार अच्छे काय करने के जरियें हम अपने को भूलने का प्रयास करते हैं। यह अपने को भूलना ही वह बहुत बडा सबक ह जो हमें अपनी जिन्दगी मे सीखना चाहिये। अपने को भूलने की यह अवस्था ही ज्ञान, भक्ति और कम का अपूव सयोग है, जहा पर मैं" नही रहता।

इस जन्म म देखी जाने वाली सब विलक्षणतायें न वतमान जन्म की कृति ही का परिणाम है न माता पिता के केवल सस्कार का ही, और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व को गभ के आरम्भ समय से आर भी पूव मानना पडता ह, जिससे अनेक पूव जन्म की परम्परा सिद्ध होती ह, क्योकि अपरिमित ज्ञान शक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नही हो सकती। इस प्रकार आत्मा अनादि ह और इस अनादि तत्त्व का कभी नाश नही होता। गीता मे सच ही कहा ह—

> न जायत म्रियते व कदाचिन्नाय भूत्वा, भविता न भूय ।
> अजो नित्य शाश्वतोय पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

और 'नासतो विद्यते भावा ना भावो विद्यते सत "—इस सिद्धान्त को सभी दाशनिक व अब आधुनिक वज्ञानिक मानत हैं।

पुनजन्म का मूल कारण विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ कम ही हो सकते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणिमात्र को तारतम्य या वषम्य से जन्म से मत्युपयन्त सुख दु ख भागने पडत हैं। पूवजन्म के सस्कार मन मे रहते हैं। उन सस्कारो को उदभासित करने वाला देश, काल, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी पदाथ जसे ही सामने आता ह, सस्कार उदभासित हा जाते हैं और प्राणी को पूव जन्म के अभ्यास से उस काय मे प्रवृत्त कर देते हैं।

प्राध्यापक हक्सले का कथन है कि विकासवाद के सिद्धान्त की तरह देहान्तरवाद सिद्धान्त भी वास्तविक ह। कुलक्रमागत सक्रमण के प्रवक्ता मानवीय आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नही करते। उनके मतानुसार अपने वशजो मे कोषाणुगत सक्रमण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य अमर वन सकता ह। यदि यह सही ह ता आइन्स्टाइन या गाँधी के वशजो को हम आइन्स्टाइन या गाँधी के समान ही क्या नही देखत ? इसलिए पूणता प्राप्त करने के सदभ म विकासवाद का सिद्धान्त पुनजन्म और कम सिद्धान्त की प्रक्रिया द्वारा सतोष जनक और अपेक्षाकृत उत्तम तरीके से समझा जा सकता है।

जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण के साथ कर्म-सूत्र अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" (गीता) अर्थात् कोई भी क्षणभर के लिए भी बिना कुछ कर्म किये नहीं रहता, "एगे आया" आत्मा अपने मूल-स्वभाव की दृष्टि से एक है। यह निश्चित-निश्चल विचार है कि आत्मा व परमात्मा, जीव तथा ब्रह्म के बीच अन्तर डालने वाला तत्त्व 'कर्म ही तो है। जीव-सृष्टि का समूचा चक्र 'कर्म' की धुरी पर ही घूम रहा है। कर्म-सम्पृक्त जीव ही आत्मा है, और कर्म-विमुक्त जीव ही ब्रह्म अथवा परमात्मा है। कर्मवाद का दिव्य सन्देश है कि तुम अपने जीवन के निर्माता और अपने भाग्य-विधाता स्वयं हो। संक्षेप में कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक चिन्तन और विकास का प्रबल कारण होने के साथ लोक जीवन में समभाव का आलम्बन करने की सीख देता है। जैसा पुरुषार्थ होगा, वैसा ही भाग्य बनेगा। प्रत्येक आत्मा कर्म से मुक्त होकर सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ है।

□□□

दूहा धरम रा

□ श्री सत्यनारायण गोयनका

सदा जुद्ध करती रवै, लेवै वैर्‌या जीत।
बणै वीर पुरुसारथी, या संता री रीत ॥१॥

यो हि सत रो जुद्ध है, यो हि पराक्रम घोर।
काम क्रोध अर मोह सूं, राखै मुखड़ो मोड़ ॥२॥

राग द्वेष अभिमान रा, बैरि बडा बलवान।
कुण जाणै कद सिर चढै, पीडित कर दे प्राण ॥३॥

सत सदा जाग्रत रवै, करै न रंच प्रमाद।
भव-भय-बंधन काट कर, चखै मुक्ति को स्वाद ॥४॥

अन्तरमन रण खेत मंह, वैरी भेळा होय।
एक एक नै कतल कर, सत विजेता होय ॥५॥

सतत जूझतो ही रवै, संत देह परयन्त।
हनन करै अरिगण सकल, हुइ जावै अरहन्त ॥६॥

४६

कर्म सिद्धान्त · वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

☐ डॉ महावीरसिंह मुडिया

जैन दशन के अनुसार प्रत्येक ससारी आत्मा कर्मों से बद्ध है। यह कम व घ आत्मा का किसी अमुक समय मे नही हुआ अपितु अनादि काल से है। जसे खान से सोना शुद्ध नही निकलता, अपितु अनेक अशुद्धिया से युक्त निकलता है, वसे ही ससारी आत्माएँ भी कम ब धनो से जकडी हुई हैं।

सामा य रूप से जो कुछ किया जाता है, वह कम कहलाता है। प्राणी जसे कम करता है, वसा ही फल भोगता है। कम के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है। परलोक मानने वाले दशनो के अनुमार मनुष्य द्वारा कम किये जाने के उपरा त वे कम, जीव के साथ अपना सस्कार छोड जाते हैं। ये सस्कार ही भविष्य मे प्राणी को अपने पूवकृत कम के अनुसार फल देते हैं। पूव कृत कम के सस्कार अच्छे कम का अच्छा फल एव बुरे कम का बुरा फल देते हैं। पूवकृत कम अपना जो सस्कार छोड जाते हैं और उन सस्कारों द्वारा जो प्रवत्ति होती है, उसमे मूल कारण राग और द्वेष होता है। किसी भी कम की प्रवत्ति राग या द्वेष के अभाव मे असम्भावित होती है। अत सस्कार द्वारा प्रवत्ति एव प्रवृत्ति द्वारा सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। यह परम्परा ही ससार कहलाता है।

जन दशन के अनुसार कम सस्कार मात्र ही नही है, अपितु एक वस्तुभूत पदाथ है जिसे कामण जाति के दलिक या पुदगल माना गया है। वे दलिक रागी द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं। यद्यपि ये दलिक भौतिक हैं, तथापि जीव के कम अर्थात क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते हैं।

कमब ध व कममुक्ति

जन कमवाद मे कर्मोपाजन के दो मुख्य कारण माने गये हैं—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामा य व्यापार को जन परिभाषा में 'योग' कहते हैं। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन स किसी प्रकार की प्रवत्ति करता है तब उसके आसपास रहे हुए कम योग्य परमाणुओ का आकषण होता है। इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है। कषाय के कारण कम परमाणुआ का आत्मा से मिल जाना बध कहलाता है। कमफल का प्रारम्भ ही कम का उदय

है। ज्यो-ज्यो कर्मों का उदय होता जाता है, त्यो-त्यो कर्म आत्मा से अलग होते जाते है। इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है। जब आत्मा मे समस्त कर्म अलग हो जाते है तब उसकी जो अवस्था होती है, उसे **मोक्ष** कहते हैं।

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म सिद्धान्त :

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्युत चुम्बकीय तरगों (Electromagnetic Waves) से ठीक उसी प्रकार भरा पडा है जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश कार्मण वर्गणा रूप पुद्‌गल परमाणुओ से भरा हुआ है। ये तरंगें प्रकाश के वेग से लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर गमन करती रहती हैं। इन तरगो की कम्पन शक्ति बहुत अधिक, यहाँ तक कि X-Rays की कम्पन शक्ति ($१०^{१३}$ से $१७^{१७}$ किलो साइकिल प्रति सैकण्ड) से करोड़ो गुनी ज्यादा होती है। तरगो की आवृत्ति (frequency), n, तथा प्रकाश के वेग (c) मे निम्न सम्बन्ध है—(λ=तरग की लम्बाई)=Wavelength

$$c = n\lambda$$

अब एक खास आवृत्ति (frequency) की विद्युत चुम्बकीय तरंगो को एक प्राप्तक द्वारा पकडने के लिए उसमे एक ऐसे दोलित्र (oscillator) का उपयोग किया जाता है कि यह उन्ही आवृत्ति पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से वे आकाश मे व्याप्त तरगे, प्राप्तक (Receiver) द्वारा आसानी से ग्रहण करली जाती है।

ठीक यही घटना आत्मा मे कार्मण—स्कन्धो के आकर्षित होने मे होती है। विचारो या भावो के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओ द्वारा आत्मा के प्रदेशो मे कम्पन उत्पन्न होते है जिसे पहले 'योग' कहा गया है। अर्थात् योग शक्ति से आत्मा मे पूर्व से उपस्थित कर्म रूप पुद्‌गल परमाणुओ (जो आत्मा के प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाही होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) मे कम्पन होता है। इन कम्पनो की आवृत्ति की न्यूनाधिकता, कषायो की ऋजुता या घनी संक्लेशता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामो से विभिन्न तरग लम्बाइयो की तरगे आत्मा के प्रदेशो से उत्पन्न होती रहती है और इस प्रकार की कम्पन क्रिया से इसे एक दोलित्र (oscillator) की भाति मान सकते है, जो लोकाकाश मे उपस्थित उन्ही तरग लम्बाई के लिए साम्य (tunned या resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे भाव कर्मों के माध्यम से, ठीक उसी प्रकार की तरंगे आत्मा के प्रदेशो से एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, और आत्मा अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी-नयी तरगे पुन: आत्मा मे उत्पन्न करती है। इस तरह यह स्वचालित दोलित्र (self oscillated oscillator) की भाति व्यवहार कर नयी-नयी तरगो को हमेशा खीचता रहता है। कर्मवाद मे यह **आस्रव** कहा गया है।

ये पुदगल परमाणु आत्म प्रदशो में एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित ही करते है न कि वे दोनो एक दूसरे म परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध के बाव जूद भी जीव, जीव रहता है और पुदगल के परमाणु, परमाणु रूप मे ही रहते हैं। दोनो अपने मौतिक गुणो (Fundamental properties) को एक समय के लिए भी नही छोडते। यह कमबन्ध है।

यदि आत्मा के प्रदेशो मे परमाणुओ की कम्पन प्रक्रिया ढीली पडने लगे, जो कि योगो की सरलता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उसी अनुपात मे कामण परमाणु कम आएँगे अर्थात् आकपण क्रिया ही न होगी, अर्थात सवर होना शुरू होगा। जब नई तरगो के माध्यम स पुदगल परमाणुओ का आना बन्द हो जाता है तो पहले से बठे हुए कामण परमाणु अवमदित दोलन (Damped oscillation) करके निकलते रहगे। अर्थात् प्रतिक्षण निजरा होगी और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राप्तक दौलित्र (oscillator) काय करना बन्द कर दगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति में योगो की प्रवत्ति एक दम बन्द हा जायगी और सचित कम शेप न रहने पर फिर प्रदेशो की कम्पन-क्रिया का प्रश्न ही नही उठता, अर्थात कर्मों की निजरा हो जायेगी। सम्पूरण कर्मों की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरग सिद्धान्त (wave theory) के विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से आस्रव, बन्ध, सवर, निजरा आर मोक्ष भलीभाति समझा जा सकता है।

टलीपथी

विचार करते समय मस्तिष्क मे विद्युत उत्पन्न होती है। इस विचारशक्ति की परीक्षा करने के लिए पेरिस के प्रसिद्ध डॉ० बेरडुक ने एक यन्त्र तयार किया। एक काच के पात्र मे सुई के सदृश एक महीन तार लगाया गया और मन को एकाग्र करके थाडो देर तक विचार शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती है। यदि इच्छा शक्ति निवल हो तो उसमे कुछ भी हलचल नही होती। विचार शक्ति की गति बिजली से भी तीव्र है—लगभग तीन लाख किलोमीटर प्रति सकण्ड। जिस प्रकार यन्त्रो द्वारा विद्युत तरगो का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडिया, टेलीफान, टेलिप्रिन्टर, टलिविजन आदि विद्युत को मनुष्य के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बनाते हैं, इसी प्रकार विचार-विद्युत की लहरा का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया को टेलीपथी कहा जाता है। टलीपथी के प्रयाग से हजारा मील दूरस्थ व्यक्ति भी विचारा का आदान प्रदान व प्रेषण ग्रहण कर सकते हैं। भविष्य में यही टेलीपथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है। □

५०

जैन कर्म सिद्धान्त और विज्ञान : पारस्परिक अभिगम

□ डॉ. जगदीशराय जैन

जैन कर्म सिद्धान्त को समझने के लिए "आत्मा" के स्वरूप को समझना आवश्यक है और इसके वैज्ञानिक विवेचन के लिए आत्मा अथवा जीव के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक धारणा क्या है, दोनो धारणाओं मे कोई अन्तर है या मूलत: एक ही हैं, इसके लिए वैज्ञानिक इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल मे वैज्ञानिक पदार्थों के गुण, स्वभाव, शब्द, प्रकाश, विद्युत इत्यादि के अनुसधान में लगे रहे। मानव के जीवन एवं आत्म स्वभाव—ज्ञान, राग, द्वेष, भावना इत्यादि प्रश्नो की ओर उनका ध्यान न था। प्राचीन वैज्ञानिको में से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्गल से पृथक् कोई वस्तु न थी। सर्वप्रथम वैज्ञानिक टेंडल ने बटलर पादरी के आत्मा के समर्थन में कहा कि पुद्गल चेतना रहित ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतना युक्त ज्ञानमयी तत्त्व है और क्योंकि यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड़ व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में "उपयोगो जीव लक्षणम्" लिखा गया है जिसका अर्थ है कि जानने की क्रिया, यह जीव का लक्षण है। ज्ञान, आत्मा का एक निज गुण है जो कभी भी किसी हालत मे आत्मा से विलग नही हो सकता। जड़ पदार्थ इन्द्रियो द्वारा ग्रहण भी किये जा सकते हैं और समझे भी जा सकते हैं। मगर आत्मा अति सूक्ष्म वस्तु है। वह इन्द्रियो से ग्राह्य नही है। कहा भी है—"नोइंदियग्गेज्झ अमुत्ति भावा।" भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर बालफोर स्टीवर्ट, सर आलिवर लाज, प्रोफेसर मैसर्स इत्यादि ने केवल आत्मा के अस्तित्व तथा नित्यता को ही स्वीकार नही किया बल्कि परलोक के अस्तित्व को भी माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र बसु के अनुसंधान ने तो यह सब कुछ वनस्पति संसार के लिए भी सिद्ध कर दिया है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि तत्त्व न ही विनाशशील है और न ही उत्पाद्य है। यद्यपि बाह्य रूप मे परिवर्तन होता रहता है। इस सिद्धान्त को आत्मा पर लागू करें तो आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका विनाश होगा अर्थात् अजर-अमर है, केवल इसके बाह्य अवस्था मे परिवर्तन होता रहता है। आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन के कारण का स्पष्टीकरण करने के लिए मनोवैज्ञानिक भी ज्ञात और अज्ञात मन के सिद्धान्त को लेकर इस दिशा मे प्रयास कर रहे हैं।

आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन का कारण जन कर्मसिद्धान्त, आत्मा द्वारा स्वय किए हुए कर्मों को मानता है। कहा है—

> अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।।

अर्थात् आत्मा ही सुख-दुःख का जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सदाचारी सन्मार्ग पर लगा हुआ आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर लगा हुआ दुराचारी अपना शत्रु है। वैज्ञानिक न्यूटन का एक नियम यह भी है कि क्रिया और प्रतिक्रिया एक साथ होती रहती है अर्थात जब जीव कोई कर्म करेगा तो उसकी प्रतिक्रिया उसके किए कर्मानुसार, उसकी आत्मा पर अवश्य अंकित होगी। विज्ञान के आविष्कार बेतार के तार (Wireless Telegraphy), रेडियो, टेलीविजन आदि के कार्य से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब कोई कार्य करता है तो समीपवर्ती वायुमंडल मे हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर बहुत दूर तक फैल जाती है उन्ही लहरों के पहुँचने से शब्द व आकार बिना तार के रेडियो, टेलीविजन मे बहुत दूर-दूर स्थानों पर पहुच जाते हैं और उन्हे जिस स्थान पर चाहे वहा पर अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई जीव मन, वचन अथवा शरीर से कोई कार्य करता है तो उसके समीपवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं मे हलन-चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है। ये सूक्ष्म परमाणु जिन्हें कार्मणवर्गणा भी कहा जाता है, आत्मा की ओर आकर्षित होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेते हैं।

जन कर्मसिद्धान्त इन कर्म परमाणुओं को स्थूल रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नाम की संज्ञा देता हुआ इनकी १५८ प्रकृतियाँ बतलाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहे जाते हैं क्योकि इनसे आत्मा का अनन्त ज्ञान, दर्शन व वीर्य आच्छादित होकर, कषाय, विषय, विकार, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के गुणों का घात न करने के कारण अघातिक कर्म कहलाते हुए भी मुक्ति के मार्ग मे बाधक हैं। आठ कर्मों का स्वभाव (प्रकृति) भिन्न भिन्न होने के कारण प्रकृतिबंध कहलाता है। कर्मबंध हो जाने के बाद जब तक फल देकर अलग नही हो जाता, तब तक की काल मर्यादा (आबाधा काल) स्थितिबन्ध कहलाती है। सब कर्मों मे मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (आबाधाकाल) ७० कोडा कोडी सागरोपम की मानी गई है और साथ साथ मे यह भी कहा गया है कि चिकने कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। बुरे कर्म अशुभ या कटुक फल देते हैं और शुभ कर्म मधुर फल प्रदान करते हैं। विभिन्न प्रकार के रस (कटुक या मधुर फल) को अनुभाग बन्ध कहते हैं और कर्म दलिकों के समूह को प्रदेश बन्ध कहते हैं। बद्ध

कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ चिपटा रहे और किस प्रकार का तीव्र, मन्द या मध्यम फल प्रदान करे, यह जीव के कषाय भाव पर निर्भर है। अभिप्राय यह है कि यदि कषाय तीव्र है तो कर्म की स्थिति लम्बी होगी और विपाक भी तीव्र होगा। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषाय को नरक का कारण माना जाता है। अतः कषाय की तीव्रता और मन्दता के कारण स्थिति और अनुभाग बन्ध की न्यूनाधिकता समझनी चाहिए। अरिहन्त भगवान् वीतरागता के धारक कषायों से सर्व प्रकार से अतीत होते हैं। अतः उन्हें स्थिति और अनुभाग बन्ध होते ही नहीं हैं। योग के निमित्त से कर्म तो आते हैं परन्तु कषाय न होने के कारण उनकी निर्जरा होती रहती है। "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः" अर्थात् संक्षेप में कषाय ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। कर्म का फल अमोघ है—अनिवार्य है अर्थात् किये हुए कर्म विपाक होने पर तो अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। यह शाश्वत सत्य है। तभी तो किसी ने कहा है—

> जरा कर्म देख कर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है।
> नही बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है।।

वैज्ञानिक लीचैटलीयर का सिद्धान्त है कि प्रत्येक तन्त्र या संस्थान अपनी साम्यस्थिति से असाम्यस्थिति मे यदि चली जाती है तो भी वह अपनी पूर्व साम्यस्थिति में आने का प्रयास करती है। अर्थात् आत्मा के द्वारा किये कर्मानुसार आत्मा पर कर्मवर्गणा का आवरण चढेगा तो भी कर्म विपाक उचित समयानुसार आत्मा के अनन्त वीर्य या तपस्या द्वारा जीव किये हुए कर्मों की निर्जरा भी करेगा, तभी तो साम्यस्थिति को पुनः प्राप्त कर सकेगा। इससे श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि सभी भव्य आत्माएँ नवीन कर्मों के आगमन का निरोध कर और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष में पहुँच जाएँगी। जैन दर्शन आत्मा मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति (बल-वीर्य) इत्यादि गुण मानता है जिनको कर्म-प्रकृतियों ने दबा दिया है। निश्चयनय से विचार करे तो प्रत्येक आत्मा शुद्ध रूप मे सिद्ध स्वरूप है। कहा भी है—

> सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
> कर्म मैल का आंतरा, बुझै बिरला कोय।।

आत्मा मे अनन्त शक्ति, बल, वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ विद्यमान है। जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे अनेक विघ्न व बाधाओं के उपस्थित होने पर भी प्रयत्नशील रहते हैं, अन्त मे उन पुरुषार्थी मनुष्यों के मनोरथ सफल भी हो जाते हैं। तभी तो कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ को प्रगति का मूल कहा है। भगवान् महावीर ने मानव जाति को यह महान् सन्देश दिया है कि मानव तेरा स्वय का

निर्माण और विध्वंस तेरे स्वयं के हाथों में है अर्थात अपने सत्कार्यों द्वारा तू स्वयं को बना भी सकता है और असत् कार्यों द्वारा अपने को बिगाड़ भी सकता है। कहा है—

> कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
> वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात कर्म ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, कर्म ही मनुष्य को क्षत्रिय बनाते हैं, कर्मों से ही मनुष्य वैश्य है और कर्मों से ही शूद्र। सभी तीर्थंकर भगवान् महापुरुष श्री राम, श्री कृष्ण, महात्मा गांधी आदि ने कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ के माध्यम से ही अपने अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया है।

> सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
> अणासव तवे चेव वोदाणे अकिरिआ सिद्धि ॥

उक्त गाथा आध्यात्मिक साधकों के लिए तो रची ही गई है पर वैज्ञानिक भी इसी गाथा के भाव अनुसार चलकर ही वैज्ञानिक नियम व सिद्धान्तों को सिद्ध कर पाते हैं। वैज्ञानिक सब प्रथम ज्ञान को अनन्त मानता है, उसको प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साहित्य व ज्ञानगोष्ठी इत्यादि का सहारा लेता है और उस ज्ञान को अनेकान्तवाद अर्थात सापेक्षवाद की कसौटी पर कसता है। विज्ञान के किसी नियम या सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए वैज्ञानिक को अपने मन, वचन काय का पूर्ण रूप से संयम, त्याग, तपस्या अर्थात् पुरुषार्थ का अपनाना पड़ता है। भगवान् महावीर का कथन है कि सत्य को जब तक अनेक दृष्टिकोणों से नहीं देखेगा तब तक उसका साम्ययोगी बनना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान को प्राप्त कर संयम के द्वारा नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता हुआ तपस्या द्वारा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय अर्थात निर्जरा करता हुआ मन, वचन, काय रूप योगों का निरोध करके सार शब्दों में सम्यक्चारित्र का अपना कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। इन सब के लिए कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ अत्यन्त आवश्यक है।

'भव कोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ' अर्थात तपस्या से करोड़ों भवों के संचित् कर्मों की निर्जरा कर दी जाती है। श्रमण भगवान महावीर ने अपने पूर्व संचित कर्मों का जो कि पहले हुए २३ तीर्थंकरों के सारे कर्मों को मिलाकर के बराबर थे, अपनी उग्र तपस्या द्वारा क्षय कर दिया। सभी तो अन्य सब तीर्थंकरों की अपेक्षा से महावीर भगवान के तप को उग्र तप बताया गया है। यह 'आवश्यक निर्युक्ति' की गाथा 'उग्गं च तवो कम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स' से स्पष्ट है। वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है कि

तपस्या किस प्रकार कर्म निर्जरा करके आत्मा को 'अकिरिअ' करके सिद्ध बना देती है। चुम्बक में आकर्षण शक्ति होती है परन्तु जब इसको तपा दिया जाता है तो आकर्षण शक्ति नष्ट होकर इसको 'अकिरिअ' बना देती है। इसी प्रकार से कर्मों से आबद्ध आत्मा को जब तपस्या रूपी अग्नि से तपा दिया जाता है तो बन्धे हुए कर्म क्षय होकर, आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर अकिरिअ होती हुई सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। आवश्यकता है कर्म सिद्धान्त को समझकर उसके साथ पुरुषार्थ योग को जोड़कर साधना करने की।

□

जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढे, ण जायंति भवांकुरा॥

अर्थ—जिस प्रकार दग्ध बीज अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीजों के दग्ध होने पर भव-भव मे जन्म लेने की आवश्यकता नही रहती।

यादृशं क्रियते कर्म, तादृशं प्राप्यते फलम्।
यादृशमुप्यते बीजं, तादृशं भुक्ते फलम्॥

अर्थ—जीव जिस प्रकार कर्म करता है तदनुसार फल की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार बीज का वपन किया जाता है, उसी प्रकार के फल की प्राप्ति सम्भव है।

सत्यानुसारिणी लक्ष्मीः, कीर्ति त्यागानुसारिणी।
अभ्याससारिणी विद्या, बुद्धि कर्मानुसारिणी॥

अर्थ—लक्ष्मी सत्य का अनुसरण करती है। कीर्ति त्याग का अनुगमन करती है। विद्या अभ्यास से ही आती है। तथैव कर्म के अनुसार ही बुद्धि की प्रवृत्ति होती है।

तेणे जहा संधि-मुहे गहिए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि॥

—उत्तराध्ययन ४/३

अर्थ—जिस प्रकार संधिमुख पर सेंध लगाते हुए पकड़ा हुआ पापात्मा चोर अपने ही किये हुए कर्मों से दुःख पाता है। उसी प्रकार जीव इस लोक और परलोक मे अपने किये हुए अशुभ कर्मों से दुःख पाते है, क्योंकि फल भोगे बिना, किये हुए कर्मों से छुटकारा नही होता।

चतुर्थ खण्ड

•

कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ

५१

कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ

☐ डॉ० प्रेम सुमन जन

जन आगम साहित्य मे प्रतिपादित कम और पुरुपाथ सम्ब धी चि तन का प्रभाव प्राकृत कथाग्रो मे भी देखने को मिलता है। वैसे तो प्राय प्रत्येक प्राकृत कथा में पूवज म,, कर्मों का फ्ल तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए सयम, वराग्य आदि पुरुपार्थों का सकेत मिलता है। कि तु कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं जो कम-सिद्धा त का ही प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ पुरुपाथ का। भारतीय सस्कृति मे चार पुरुपार्थों का विवेचन है—धम, अथ, काम एव मोक्ष। वस्तुत प्राकृत कथाग्रो म इनमे से दो को ही पुरुपाथ माना गया है काम और माक्ष को। शेष दो पुरुपाथ इनकी प्राप्ति मे सहायक हैं। धम पुरुपाथ से मोक्ष सधता है तो अथ से काम पुरुपाथ अर्थात् लौकिक समृद्धि व सुख आदि। प्राकृत कथाओ मे इन लौकिक और पारलौकिक दोनो पुरुपार्थों का वणन है, कि तु उनका प्रभाव समाज पर भिन्न भिन्न पडा है।

प्राकृत कथाओ म कम सिद्धात को प्रतिपादित करने वाली कथाएँ 'नाताधम कथा' म उपलब्ध हैं। मणिकुमार सेठ की कथा मे कहा गया है कि पहले उसने एक सु दर वापी का निर्माण कराया। परोपकार एव दानशीलता के अनेक काय किए। कि तु एक बार जब उसके शरीर मे सोलह प्रकार की व्याधियाँ हो गयी तो देश के प्रख्यात वद्यो की चिकित्सा द्वारा भी मणिकुमार स्वस्थ नही हो सका। क्योंकि उसके असाता कर्मों का उदय था। इसलिए उसे रोगा का दु ख भोगना ही था। इसी ग्रथ मे काली आर्या की एक कथा है, जिसमें अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसकी दुष्प्रवृत्ति मे बुद्धि लग जाती है और वह साध्वी के आचरण म शिथिल हो जाती है।

आगम ग्रथो मे विपाक सूत्र कम सिद्धात के प्रतिपादन का प्रतिनिधि ग्रथ है। इसम २० कथाएँ हैं। प्रारम्भ की दस कथाएँ अशुभ कर्मों क विपाक को एव अ तिम दस कथाएँ शुभ कर्मों के फल को प्रकट करती हैं। मियापुत्र की कथा क्रूरतापूवक आचरण करने के फल को व्यक्त करती है ता सोरियदत्त की कथा मासभक्षण के परिणाम को। इसी तरह की अ य कथाएँ विभिन्न कर्मों के परिपाक को स्पष्ट करती हैं। इन कथाग्रो का स्पष्ट उद्देश्य प्रतीत होता है कि अशुभ कर्मों को छोडकर शुभ ... और प्र...।

स्वतत्र प्राकृत कथा-ग्रथो मे कर्मवाद की अनेक कथाएँ है। 'तरंगवती' मे पूर्वजन्मो की कथाएँ है। तरगवती को कर्मों के कारण पति-वियोग सहना पडता है। 'वसुदेवहिंडी' मे तो कर्मफल के अनेक प्रसंग है। चारुदत्त की दरिद्रता उसके पूर्वकृत कर्मो का फल मानी जाती है। इस ग्रथ में वसुभूति दरिद्र ब्राह्मण की कथा होनहार का उपयुक्त उदाहरण है। वसुभूति के यज्ञदत्ता नाम की पत्नी थी। पुत्र का नाम सोमशर्म तथा पुत्री का सोमशर्मा था। उनके रोहिणी नाम की एक गाय थी। दान मे मिली हुई खेती करने के लिए थोड़ी सी जमीन थी। एक वार अपनी दरिद्रता को दूर करने के लिए वसुभूति शहर जा रहा था। तो उसने अपने पुत्र से कहा कि मैं साहूकारो से कुछ दान-दक्षिणा माँगकर शहर से लौटूँगा। तब तक तुम खेती की रक्षा करना। उसकी उपज और दान मे मिले धन से मै तेरी और तेरी वहिन की शादी कर दूँगा। तब तक अपनी गाय भी बछडा दे देगी। इस तरह हमारे सकट के दिन दूर हो जायेंगे।

ब्राह्मण वसुभूति के शहर चले जाने पर उसका पुत्र सोमशर्म तो किसी नटी के ससर्ग मे नट बन गया। अरक्षित खेती सूख गयी। सोमशर्मा पुत्री के किसी धूर्त से गर्भ रह गया और गाय का गर्भ किसी कारण से गिर गया। सयोग से ब्राह्मण को भी दक्षिणा नही मिली। लौटने पर जव उसने घर के समाचार जाने तो कह उठा कि हमारा भाग्य ही ऐसा है। इस ग्रंथ मे इस तरह के अन्य कथानक भी हैं।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत की अनेक कथाएँ लिखी है। 'समराइच्चकहा' और 'धूर्ताख्यान' के अतिरिक्त उपदेशपद और दशवैकालिकचूर्णि मे भी उनकी कई कथाएँ कर्मवाद का प्रतिपादन करती हैं। उनमे कर्म-विपाक अथवा दैवयोग से घटित होने वाले कई कथानक हैं, जिनके आगे मनुष्य की बुद्धि और शक्ति निरर्थक जान पडती है। 'समराइच्चकहा' के दूसरे भव मे सिंहकुमार की हत्या जब उसका पुत्र आनद राजपद पाने के लिए करने लगता है तो सिंहकुमार सोचता है कि जैसे अनाज पक जाने पर किसान अपनी खेती काटता है वैसे ही जीव अपने किए हुए कर्मो का फल भोगता है। उपदेशपद मे 'पुरुषार्थ' या 'दैव' नाम की एक कथा भी हरिभद्र ने प्रस्तुत की है। इसमे कर्मफल की प्रधानता है।

'कुवलयमाला कहा' मे उद्योतनसूरि ने कई प्रसंगो मे कर्मों के फल भोगने की बात कही है। कषायो के वशीभूत होकर जीने वाले व्यक्तियो को क्या-क्या भोगना पडता है इसका विस्तृत विवेचन लोभदेव आदि की कथाओ में इस ग्रथ मे किया गया है। राजा रत्नमुकुट की कथा मे दीपशिखा और पतंगे का दृष्टात दिया गया है। राजा ने पतगे को मृत्यु से बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किए। अत मे उसे एक सदूकची मे बद भी कर दिया किन्तु प्रात.काल तक उसे एक

छिपकली खा ही गयी। राजा का प्रयत्न कर्म-फल के आगे व्यर्थ गया। उसने सोचा कि निपुण वैद्य रोगी की रोग से रक्षा तो कर सकते हैं किन्तु पूर्वजन्म कृत कर्मों से जीव की रक्षा वे नहीं कर सकते। यथा —

> वेज्जा करेंति किरियं ओसह जोएहिंमत-बल-जुत्ता।
> णेय करेंति पसाया एं कयं जं पुव्वजम्मम्मि ॥ कुव० १४०-२५

प्राकृत कथाओं के कोशग्रन्थों में कर्मफल सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्राप्त हैं। 'आख्यानमणि कोश' में बारह कथाएँ इस प्रकार की हैं। कर्म अथवा भाग्य के सामर्थ्य के सम्बन्ध में अनेक सुभाषित इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋषिदत्ता आख्यान के प्रसंग में कहा गया है कि कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति सुख दुःख पाता है। अतः किए हुए कर्मों (के परिणाम) का नाश नहीं होता। यथा,—

> जं जेण पावियव्वं सुहं व दुक्खं व कम्म निम्मवियं।
> तं सो तहेव पावइ कयस्स नासो जओ नत्थि ॥ पृ० २५०, गा० १५१

प्राकृत-कथा-संग्रह में कर्म की प्रधानता वाली कुछ कथाएँ हैं। समुद्रयात्रा के दौरान जब जहाज भग्न हो जाता है तब नायक सोचता है कि किसी का कभी भी दोष न देना चाहिए। सुख और दुःख पूर्वार्जित कर्मों का ही फल होता है। इसी तरह प्राकृत कथाओं में परीषह जय की अनेक कथाएं उपलब्ध हैं। वहाँ भी तपश्चरण में होने वाले दुःख को कर्मों का फल मानकर उन्हें समतापूर्वक सहन किया जाता है। अपभ्रंश के कथाग्रन्थों एवं महाकाव्यों में इस प्रकार की कई कथाएँ हैं। सुकुमाल स्वामी की कथा पूर्वजन्मों के कर्म विपाक को स्पष्ट करने के लिए ही कही गई है। होनहार कितना बलवान है, यह इस कथा से स्पष्ट हो जाता है।

कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी इन प्राकृत कथाओं के वर्णन पर यदि पूर्णतः विश्वास किया गया होता और भवितव्यता को ही सब कुछ मान लिया गया होता तो लौकिक और पारलौकिक दोनों तरह के कोई प्रयत्न व पुरुषार्थ जैन धर्म के अनुयायियों द्वारा नहीं किए जाते। इस दृष्टि से यह समाज सबसे अधिक निष्क्रिय, दरिद्र और भाग्यवादी होता। किन्तु इतिहास साक्षी है कि ऐसा नहीं हुआ। अन्य विधाओं के जैन साहित्य को छोड़ भी दें तो यही प्राकृत कथाएँ लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थों का इतना वर्णन करती हैं कि विश्वास नहीं होता उनमें कभी भाग्यवाद या कर्मवाद का विचार हुआ होगा। कर्म और पुरुषार्थ के इस अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत कथाओं में प्राप्त कुछ पुरुषार्थ सम्बन्धी भेद। यहाँ प्रस्तुत है।

'णायाधम्मकहा' में उदकज्ञात अध्ययन में सुबुद्धि मंत्री की कथा है। इसमें उसने जितशत्रु राजा को एक खाई के दुर्गन्धयुक्त अपेय पानी को शुद्ध एवं पेय

जल में बदल देने की बात कही। राजा ने कहा—यह नही हो सकता। तब मंत्री ने कहा कि पुद्‌गलो मे जीव के प्रयत्न और स्वाभाविक रूप से परिवर्तन किया जा सकता है। राजा ने इस बात को स्वीकार नही किया। तब सुबुद्धि ने जल-शोधन की विशेष प्रक्रिया द्वारा उसी खाई के अशुद्ध जल को अमृतसदृश मधुर और पेय बनाकर दिखा दिया। तब राजा की समझ मे आया कि व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियो के पुरुषार्थ उसके जीवन को बदल सकते हैं। अन्त में राजा और मत्री दोनो जैन धर्म मे दीक्षित हो गये। इसी ग्रथ मे समुद्रयात्रा आदि की कथाएँ भी है। जिनसे ज्ञात होता है कि सकट के समय भी साहसी यात्री अपना पुरुषार्थ नही त्यागते थे। जहाज भग्न होने पर समुद्र पार करने का भी प्रयत्न करते थे। अनेक कठिनाइयो को पार कर भी वणिकपुत्र सम्पत्ति का अर्जन करते थे।

'उत्तराध्ययन टीका' (नेमीचद्र) मे एक कथा है, जिसमे राजकुमार, मत्रीपुत्र और वणिकपुत्र अपने-अपने पुरुपार्थ का परीक्षण करके बतलाते हैं। 'दशवैकालिक चूर्णी' मे चार मित्रो की कथा मे पुरुपार्थो की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। 'वसुदेवहिण्डी' मे अर्थ और काम पुरुषार्थ की अनेक कथोपकथाएँ है। अर्थो-पार्जन पर ही लौकिक सुख आधारित है। अत: इस ग्रथ की एक कथा में चारु-दत्त दरिद्रता को दूर करने के लिए अतिम क्षण तक पुरुपार्थ करना नही छोडता। 'उच्छहेसिरिवसति' इस सिद्धात का पालना करता है। 'समराइच्च-कहा' मे लौकिक और पारमार्थिक पुरुपार्थ की अनेक कथाएँ है।

उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमाला कहा' में एक ओर जहाँ कर्मफल का प्रतिपादन किया है, वहाँ चडसोम आदि की कथाओ द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि सद्प्रवृत्ति मे लग जाये तो वह सुख-समृद्धि के साथ जीवन के अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है। मायादत्त की कथा मे कहा गया है कि लोक मे धर्म, अर्थ, और काम इन तीन पुरुपार्थो मे से जिसके एक भी नही है, उसका जीवन जडवत् है। अत: अर्थ का उपार्जन करो, जिससे शेष पुरुषार्थ की सिद्धि हो (कुव० ५८ १३-१५)। सागरदत्त की कथा से ज्ञात होता है कि बाप-दादाओ की सम्पत्ति से परोपकार करना व्यर्थ है। जो अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का दान करता है वही प्रशंसा का पात्र है, बाकी सब चोर है :—

जो देई धणं दुहसय समज्जियं अत्तणो भुय-बलेण ।
सो किर पसंसणिज्जो इयरो चोरो विय वराओ ।। कुव० १०३-२३ ।।

इसी तरह इस ग्रथ मे धनदेव की कथा है। वह अपने मित्र भद्रश्रेष्ठी को प्रेरणा देकर व्यापार करने के लिए रत्न-दीप ले जाना चाहता है। भद्र श्रेष्ठी इसलिए वहाँ नही जाना चाहता क्योकि वह सात बार जहाज भग्न होजाने से

निराश हो चुका था। तब धनदत्त उसे समझाता है कि पुरुषार्थ हीन होने से तो लक्ष्मी विष्णु को भी छोड देती है और जो पुरुषार्थी होता है उसी पर वह दृष्टिपात करती है। अत तुम पुन साहस करो। व्यक्ति के लगातार प्रयत्न करने पर ही भाग्य बदला जा सकता है।

प्राकृत के अन्य कथा ग्रथो मे भी इस प्रकार की पुरुषार्थ सम्बन्धी कथाएँ देखी जा सकती हैं। श्रीपाल-कथा कम और पुरुषार्थ के अतद्वन्द्व का स्पष्ट उदाहरण है। मना-सुन्दरी अपने पुरुषार्थ के बल पर अपने दरिद्र एव कोढी पति को स्वस्थ कर पुन सम्पत्तिशाली बना देती है। प्राकृत के ग्रथो मे इस विषयक एक बहुत रोचक कथा प्राप्त है। राजा भोज के दरबार मे एक भाग्यवादी एव पुरुषार्थी व्यक्ति उपस्थित हुआ। भाग्यवादी ने कहा कि—सब कुछ भाग्य से होता है, पुरुषार्थ व्यथ है। पुरुषार्थी ने कहा—प्रयत्न करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है, भाग्य के भरोसे बठे रहने से नही। राजा ने कालिदास नामक मत्री को उनका विवाद निपटाने को कहा। कालिदास ने उन दोनो के हाथ बाँधकर उन्हे एक अधेरे कमरे म बद कर दिया और कहा कि आप लोग अपने-अपने सिद्धान्त को अपनाकर बाहर आ जाना। भाग्यवादी निष्क्रिय होकर कमरे के एक कोने मे बठा रहा जबकि पुरुषार्थी तीन दिन तक कमरे से निकलने का द्वार खोजता रहा। अत मे थककर वह एक स्थान पर गिर पडा। जहाँ उसके हाथ थे वहाँ चूहे का बिल था, अत उसके हाथ का बधन चूहे ने काट दिया। दूसरे दिन वह किसी प्रकार दरवाजा तोडकर बाहर आ गया। बाद मे वह भाग्यवादी को भी निकाल लाया और कहने लगा कि उद्यम के फल को जानकर यावत्-जीवन उसे नही छोडना चाहिए। पुरुषार्थ फलदायी होता है।

उज्जमस्स फल नच्चा, विउसदुगनायगे।
जावज्जीव न छुड्डेज्जा, उज्जमफलदायग॥

यहाँ इस विषय से सम्बन्धित पाँच प्रमुख कथाएँ दी जा रही हैं।

उनसे कम एव पुरुषार्थ के स्वरूप को समझने मे मदद मिलती है।

[१]

आटे का मुर्गा

□ डॉ० प्रेम सुमन जन

यौधेय नामक जनपद की राजधानी राजपुर के चण्डमारी देवी के मन्दिर मे सामने बलि देने के लिए छोटे बड पशुओं के कई जोडे एकत्र कर दिये गये हैं। एक मनुष्य-युगल की प्रतीक्षा है। राजा मारिदत्त के राजकर्मचारिया न

एक सुन्दर नर-युगल को लाकर वहाँ उपस्थित किया—साधुवेश मे एक युवा साधु और एक युवा साध्वी। सिर पर मृत्यु होते हुए भी चेहरे पर अपूर्व सौम्यता, करुणा और तेज। उनके सामने वलि देने वाले राजा की तलवार अचानक नीचे झुक गयी। कौतूहल जग गया। यह नर-युगल कौन है? राजा ने पूछा—'वलि देने के पूर्व मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' नर-युगल के मुनि कुमार ने जो परिचय दिया वह इस प्रकार है।

अवन्ति नामक जनपद मे उज्जयिनी नगरी है। वहाँ यशोधर राजा अपनी रानी अमृतमति के साथ निवास करता था। एक रात्रि मे यशोधर ने रानी अमृतमति को एक महावत के साथ विलास करते देख लिया। पतन की इस पराकाष्ठा से राजा का मन ससार से विरक्त हो गया। प्रातःकाल जव उसके उदास मन का राजमाता चन्द्रमति ने कारण पूछा तो यशोधर ने एक दुःस्वप्न की कथा गढ दी। किन्तु राजमाता से राजा के दुःख की गहरायी छिपी न रही। अत. उसने अपने पुत्र के मन की शान्ति के लिए कुलदेवी चण्डमारी के मदिर मे पशु-वलि देने का आग्रह किया। किन्तु यशोधर पशु-वलि के पक्ष में नहीं हुआ। तव माता ने उसे सुझाया कि आटे का मुर्गा वनाकर उसकी वलि दी जा सकती है। यशोधर ने विवश होकर यह प्रस्ताव मान लिया। किन्तु इस शर्त के साथ कि इस वलिकर्म के वाद वह अपने पुत्र यशोमति को राज्य देकर विरक्त हो जायेगा।

रानी अमृतमति ने जव यह सव जाना तो उसे ज्ञात हुआ कि रात्रि मे महावत के साथ किये गये विलास को राजा जान गया है। राजमाता भी इसको जानती होगी। अत. अव दोनो को रास्ते से हटाना होगा। अत. उसने अपनी चतुराई से राजा और राजमाता को उसी दिन अपने यहाँ भोजन पर आमन्त्रित किया और उसी दिन वलि चढाये हुए उस आटे के मुर्गे मे विष मिलाकर प्रसाद के रूप मे मा और पुत्र को उसने खिला दिया। इससे यशोधर और उसकी मा चन्द्रमति दोनो की मृत्य हो गयी।

संकल्पपूर्वक की गयी आटे के मुर्गे की हिंसा के कारण तीव्र कर्मवन्ध हुआ। उसके कारण वे दोनो मा-वेटे छः जन्मो तक पशु-योनि मे भटकते रहे। कुत्ता, हिरण, मछली, वकरा, मुर्गा आदि के जन्मो को पार करते हुए उन्हे सयोग से सुदत्त नामक आचार्य के उपदेश से अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया। उससे पश्चात्ताप की अग्नि ने उनके कुछ दुष्कर्मों को जला दिया। अतः अगले जन्म मे वे दोनो यशोमति राजा और कुसुमावलि रानी के यहाँ भाई-वहिन के रूप मे उत्पन्न हुए। सयोगवश उन्ही आचार्य सुदत्त से जब यशोमति ने अपने पूर्वजो का वृत्तान्त पूछा तो ज्ञात हुआ कि उसके पिता यशोधर एव पितामही चन्द्रमति उसके यहाँ पुत्र एव पुत्री के रूप मे पैदा हुए है। यह कथा

सुनकर उन दोनों बालकों को बचपन में ही संसार का स्वरूप समझ में आ गया। अतः वे बाल्यावस्था में ही साधु एवं साध्वी बन गये।

'हे राजा मारिदत्त! हम दोनों साधु साध्वी यशोमति के वही पुत्र-पुत्री हैं। हमने आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाकर जो संसार के दुःख उठाये हैं उन्हें तुम्हारे सामने कह दिया है। अब तुम्हारी इच्छा कि तुम हमारे साथ इन निरपराधी मूक पशुओं की बलि दो या नहीं।' राजा मारिदत्त यह वृत्तान्त सुनकर मुनि युगल के चरणों में गिर पड़ा और उसने निवेदन किया कि हमारे द्वारा किए गए अपमान को क्षमा करें भगवन्! हमें भी अपने उस कल्याण मित्र गुरु के पास ले चलें।[1]

[२]
सियारिनी का बदला

□ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में उज्जयिनी नगरी है। वहाँ सुभद्र सेठ अपनी पत्नी जया के साथ रहता था। उनके धन धान्य एवं अन्य सुखों की कमी नहीं थी। किन्तु कोई संतान न होने से वे दोनों दुःखी थे। कुछ समय बाद उनके एक पुत्र हुआ, जो अत्यन्त सुकुमार था अतः उसका नाम सुकुमाल रख दिया गया। किन्तु कर्मों का कुछ ऐसा संयोग कि पुत्र-दर्शन के बाद ही सेठ ने दीक्षा ले ली। अतः जया सेठानी बहुत दुःखी हुई। उसने एक ज्ञानी मुनि से अपने पुत्र के भविष्य के सम्बन्ध में पूछा। मुनि ने कहा—'सुकुमाल को संसार के सब सुख मिलेंगे। किन्तु जब कभी भी किसी मुनि के उपदेश इसके कानों में पड़ेंगे तब यह मुनि बन जायेगा।' यह सुनकर जया सेठानी ने अपने महल के चारों ओर ऐसी व्यवस्था कर दी कि दूर दूर तक किसी मुनि का आगमन न हो और न ही उनके उपदेश सुनाई पड़ें।

समय आने पर जया सेठानी ने सुकुमाल का ३२ कुमारियों से विवाह कर दिया। उनके सबके अलग अलग महल बनवा दिये। वहाँ सुख-सुविधाओं के सभी साधन उपलब्ध करा दिये ताकि सुकुमाल को कभी भी उन महलों की परिधि से बाहर न आना पड़े।

एक बार जया सेठानी की समृद्धि और सुकुमाल की सुकुमारता की प्रसिद्धि सुनकर उस नगर का राजा सेठानी के घर आया। जया सेठानी ने राजा का पूरा सत्कार किया एवं उसे अपने पुत्र से मिलाया। उसके साथ भोजन

---

१ ज्ञानी भगवान् के दर्शनसमयन्तु की प्रमुख कथा का संक्षिप्त रूपान्तर।

कराया। किन्तु इस बीच राजा ने अनुभव किया कि सुकुमाल की आँखो मे आसू आये। वह सिहासन पर अधिक देर तक ठीक से बैठ नही सका। भोजन करते समय भी उसने केवल कुछ चावलो को चुन-चुनकर ही खाया। अतः राजा ने सेठानी से इस सबका कारण पूछा। सेठानी ने कहा—'महाराज! मेरा पुत्र बहुत सुकुमार है! उसने कभी दिये का प्रकाश नही देखा! जब मैंने आपकी दिये से आरती की तो उसकी लौ से कुमार के आसू आ गये। जब मैंने सरसो के दाने आपके ऊपर डालकर आपका सत्कार किया तो सरसो के दाने सिहासन पर गिर जाने से उनकी चुभन से वह ठीक से आपके साथ नही बैठ सका। और सुकुमाल केवल कमल से सुवासित कुछ चावलो का ही भोजन करता है। इसलिए उसने उन्ही चावलो को बीन-बीन कर खाया है। आप उसकी बातो का बुरा न माने।''

राजा, सुकुमाल की सुकुमारता से और सेठानी के सत्कार से बहुत प्रभावित हुआ। उसने सेठानी की सहायता करते हुए सारे नगर मे मुनियो के आगमन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सेठानी अपने पुत्र की सुरक्षा से निश्चिन्त हो गयी।

किन्तु सयोग से सुकुमाल के पूर्वजन्म के मामा मुनि सूर्यमित्र ने अपने ज्ञान से जाना कि सुकुमाल की आयु अब केवल तीन दिन शेष रह गयी है। अतः वे राजाज्ञा की चिन्ता न करते हुए नगर के बाहर सेठानी के महल के बगीचे के समीप मे आकर ठहर गये। वही पर वे श्रावको को उपदेश देने लगे।

एक दिन प्रातःकाल सुकुमाल अपने महल की छत पर भ्रमण कर रहा था कि उसने मुनि के उपदेश सुन लिये। उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया। अतः उसने मुनिदीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। सुकुमाल चुपचाप अपने महल से रस्सी के सहारे नीचे उतरा और पैदल चलते हुए मुनि के समीप पहुँचकर उसने दीक्षा ले ली। और आयु कम जानकर वह तपस्या में लीन हो गया।

सुकुमाल की सुकुमारता के कारण महल से लेकर पूरे रास्ते मे सुकुमाल के पैरो से रक्त बहने के कारण पैरो के निशान बनते चले गये। नगर के बाहर उस समय एक सियारिनी अपने बच्चो के साथ घूम रही थी। वह रक्त के निशान के साथ-साथ चलती हुई मुनि सुकुमाल के पास पहुँच गयी। वहाँ उसे अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया। तब वह बदला लेने की भावना से सुकुमाल के शरीर को खाने लग गयी। किन्तु वे मुनि परीषह को सहन करते हुए अपनी तपस्या मे लीन रहे और उन्होने शरीर का त्याग करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया।

इधर सेठानी के घर में सुकुमाल के निष्क्रमण का समाचार मिलते ही सब परिजन नगर के बाहर दौड़े। जब तक वे मुनि सुकुमाल के समीप पहुचे तब तक उस सियारिनी द्वारा उनका भौतिक शरीर खाया जा चुका था। इस दृश्य को देखकर सारे लोग स्तब्ध रह गये। तब सुकुमाल के दीक्षा गुरु सूर्यमित्र ने उनकी शका का समाधान करते हुए उन्हें सुकुमाल और सियारिनी के पूर्व-जन्म की कथा इस प्रकार सुनायी।

"इसी भरतक्षेत्र मे कौशाम्बी नगरी है। वहाँ अतिबल राजा अपनी मदनावली रानी के साथ राज्य करता था। उसके यहाँ सोमशर्मा नामक मन्त्री था। उसके काश्यपी नामक पत्नी थी। उनक दो पुत्र थे—अग्निभूति और वायुभूति। पिता की मृत्यु के बाद माता काश्यपी ने अपने दोनो पुत्रो का पढन के लिए उनके मामा सूर्यमित्र के पास उन्हें राजगृही भेजा। सूर्यमित्र ने मामा-भानजे के सम्बन्ध को छिपाकर रखा और उन्हें अच्छी शिक्षा दी। किन्तु जब दोनो पुत्रो को इस सम्बन्ध की जानकारी मिली तो अग्निभूति ने सोचा कि मामा ने हमारे हित के लिए ऐसा किया। अन्यथा हम पढ न पाते। किन्तु वायुभूति ने इसे अपना अपमान समझा और वह मामा सूर्यमित्र को अपना शत्रु मानने लगा।

एक बार सूर्यमित्र मुनि के रूप मे कौशाम्बी मे आये। तब अग्निभूति ने उनका बहुत सत्कार किया, किन्तु वायुभूति ने उनका अपमान किया। इससे दुखी होकर अग्निभूति को भी ससार की असारता का ज्ञान हो गया। उसने भी सूर्यमित्र के पास मुनिदीक्षा ले ली। जब यह बात अग्निभूति की पत्नी सोमदत्ता को ज्ञात हुई तो वह बहुत चिन्तित हुई। उसने अपने देवर वायुभूति से बड़े भ्राता अग्निभूति को घर लौटा लाने का अनुरोध किया। इससे वायुभूति और क्रोधित हो गया। उसने अपनी भाजाई सोमदत्ता के सिर पर अपने परो से प्रहार कर दिया। इससे सोमदत्ता बहुत दुखी हुई। उसने कहा कि मैं अभी अबला हूँ। इसलिए तुमने मुझे लातो से मारा है। किन्तु मुझे जब अवसर मिलेगा मैं तुम्हारे इन्ही परो को नाच-नाचकर खाऊँगी। इस निदान के उपरान्त सोमदत्ता मृत्यु को प्राप्त हो गई। वहाँ से अनेक जन्मो मे भटकती हुई आज वह यहाँ इस सियारिनी के रूप मे उपस्थित है।

उधर वायुभूति का जीव भी मरकर नरक मे गया। वहाँ से निकलकर पशु योनि मे भटका। जन्मान्ध चाण्डाली हुआ। फिर मुनि उपदेश पाकर ब्राह्मण पुत्री नागश्री के रूप मे पैदा हुआ। वहाँ उसने व्रतो का पालन कर इस नगर मे जया सेठानी के यहाँ सुकुमाल के रूप मे जन्म लिया। शुभ कर्मों के उदय से सुकुमाल ने मुनि दीक्षा ली। किन्तु अशुभ कर्मों के उदय से उन्हें इस सियारिनी द्वारा दिया गया यह उपसर्ग सहना पडा है।"

सूर्यमित्र मुनि द्वारा इस वृत्तान्त को सुनकर जया सेठानी ने सतोष धारण किया एव पूरे परिवार ने गृहस्थो के व्रत धारण किये ।[1]

[३]

जादुई बगीचा

☐ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में धनधान्य से युक्त कुसट्ट नामक देश है। उसमें बलासक नामक गाँव है, जहाँ सब कुछ है, किन्तु दूर-दूर तक पेडो की छाया नहीं है। ऐसे इस गाँव मे विद्वान् अग्निशर्मा ब्राह्मण रहता था। उसके अग्निशिखा नामक शीलवती पत्नी थी। उन दोनो के अत्यन्त सुन्दर विद्युत्प्रभा नामक पुत्री थी। तीनो का समय सुख से व्यतीत होता था।

अचानक जब विद्युत्प्रभा आठ वर्ष की हुई तब भयंकर रोग से पीड़ित होकर उसकी माँ का निधन हो गया। इससे घर का सारा कार्य विद्युत्प्रभा पर आ पडा। एक दिन सुबह से शाम तक वह कार्य करते-करते जब ऊब गयी तो उसने अपने पिता से सौतेली मां ले आने को कहा, जिससे उसे कुछ राहत मिल सके। किन्तु दुर्भाग्य से सौतेली मां ऐसी आयी कि वह घर का कुछ भी काम नही करती थी। इससे विद्युत्प्रभा का दु.ख और बढ़ गया। उसे काम तो पूरा करना पडता, किन्तु भोजन बहुत कम मिलता। इसे वह अपने कर्मो का फल मानकर दिन व्यतीत करने लगी।

एक दिन विद्युत्प्रभा गायों को चराने के लिए जंगल मे गयी थी। थककर वह दोपहर मे वहाँ पर सो गयी। तब एक बड़ा साँप उसके पास आया। वह मनुष्य की भाषा मे विद्युत्प्रभा से बोला कि मुझे तुम ओढनी से ढककर अपनी गोद मे छिपा लो, कुछ सपेरे मेरे पीछे पड़े हुए है, उनसे मुझे बचा लो। विद्युत्प्रभा ने बड़े साहस से करुणापूर्वक उस नाग की रक्षा की। इससे सतुष्ट होकर नाग अपने असली रूप मे आकर देवता बन गया। उसने विद्युत्प्रभा से एक वर मागने को कहा। विद्युत्प्रभा ने लालच के बिना केवल इतना वर मागा कि मेरी गायो को और मुझे धूप न लगे इसलिए मेरे ऊपर तुम कोई छाया कर दो। उस नागकुमार देवता ने तुरन्त विद्युत्प्रभा के सिर पर एक सुन्दर बगीचा बना दिया और कहा—'यह बगीचा तुम्हारी इच्छा से छोटा-बडा होकर हमेशा

---

१ १२वी शताब्दी की अपभ्रंश कथा 'सुकुमालचरिउ' (श्रीधर कृत) का सक्षिप्त रूपान्तर।

साथ रहेगा। इसके अलावा भी तुम्ह कभी कोई सकट हो तो मुझे याद करना। मैं तुम्हारी मदद करूँगा' ऐसा कहकर वह नागकुमार चला गया।

एक दिन जब विद्युत्प्रभा जगल मे अपने बगीचे के नीचे सो रही थी। तब वहा पाटलिपुत्र का राजा जितशत्रु अपनी सेना के साथ आया। उसने इस जादुई बगीचे के साथ सुदर विद्युत्प्रभा को देखकर उससे विवाह कर लिया। राजा ने विद्युत्प्रभा का नाम बदलकर आराम शोभा' रख दिया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। इस प्रकार आराम शोभा के दिन सुख से बीतने लगे।

इधर आरामशोभा की सौतेली माता के एक पुत्री उत्पन्न हुई और वह क्रमश युवा अवस्था को प्राप्त हुई। तब उसकी माता ने विचार किया कि राजा मेरी पुत्री को भी रानी बना ले ऐसा कोई उपाय करना चाहिए। उसकी सौतेली मा ने कपटपूण अपनत्व दिखाकर आरामशोभा' को मारने के लिए अपने पति अग्निशर्मा क साथ तीन बार विपयुक्त लड्डू बनाकर भेजे। किन्तु उस नागकुमार की सहायता से व लड्डू विपरहित हो गये। तब उस सौतेली मा ने प्रथम प्रसव कराने व लिए आरामशोभा को अपने घर बुलवाया। वहाँ आरामशोभा ने एक पुत्र को जन्म दिया। तभी उस सौतेली मा ने आरामशोभा को धोखे से घर के पिछवाड के कुए म डाल दिया और समझ लिया कि आरामशोभा मर गयी है। किन्तु वहाँ उस नागकुमार ने आरामशोभा के लिए कुए के भीतर ही एक महल बना दिया।

इधर उस सौतेली मा ने अपनी पुत्री को आरामशोभा के स्थान पर राजा की रानी बनाकर उसके पुत्र के साथ पाटलिपुत्र भेज दिया। किन्तु इस नकली आरामशोभा के साथ उस जादुई बगीची के न होने से राजा को शका हो गयी। वह चुपचाप असली बात की खोज म रहने लगा। उधर पुत्र और पति के शोक से दु खी आरामशोभा नागकुमार की सहायता स रात्रि मे अपने पुत्र को देखने चुपके-से राजमहल मे जाने लगी। किन्तु उसे सुबह होने के पहले ही लौटना पडता था। अन्यथा उसका जादुई बगीचा हमेशा क लिए नष्ट हो जायेगा। किन्तु एक दिन राजा ने असली आरामशोभा को पकड लिया और सारी बातें जान ली। तभी वह जादुई बगीचा नष्ट हो गया। किन्तु आरामशोभा अपने पुत्र और पति से मिलकर सतुष्ट हो गयी। राजा ने आरामशोभा की सौतेली मा और पुत्री को सजा देनी चाही तो आरामशोभा न उन्ह माफ करा दिया।

एक दिन राजा के साथ वार्तालाप करते हुए आरामशोभा न प्रश्न किया कि मुझे बचपन म इतने दु ख क्यो मिले और बाद मे राजमहल के सुख मिलने का क्या कारण है? जादुई बगीचे ने मेरी सहायता क्यों की? तब राजा आरामशोभा को एक सन्त के पास ले गया। उससे उन्होंने अपनी जिज्ञासा का

समाधान करना चाहा। तब उन परमज्ञानी साधु ने आरामशोभा के पूर्वजन्म को सक्षेप मे इस प्रकार कहा—

"इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष मे चपानगरी है। वहाँ कुलधर नामक एक सेठ था। उसकी पत्नी का नाम कुलानन्दा था। उनके आठ पुत्रियां हुई। आठवी का नाम दुर्भागी रखा गया। बहुत समय तक उसका विवाह नही हुआ। किन्तु सयोग से एक बार कोई परदेशी युवक सेठ कुलधर की दुकान पर आया। किसी प्रकार सेठ ने उस युवक के साथ दुर्भागी का विवाह कर दिया। किन्तु अपने घर को वापिस लौटते हुए वह युवक दुर्भागी को अकेला सोता हुआ छोड़कर भाग गया। जागने पर दुर्भागी को बहुत दुःख हुआ। किन्तु इसे भी अपने कर्मो का फल मानती हुई वह किसी प्रकार उज्जयिनी के मणिभद्र सेठ के यहाँ पहुँच गयी। वहाँ उसने अपने शील और व्यवहार से सेठ के परिवार का दिल जीत लिया। वह सेठ के धार्मिक कार्यो मे भी मदद करने लगी। उसे जो भी पैसे सेठ से मिलते उसकी सामग्री खरीदकर वह गरीबो मे बाट देती। उसका सारा समय देवपूजा और गुरुपूजा मे ही व्यतीत होने लगा।

अचानक मदिर मे लगा हुआ बगीचा सूखने लगा। सेठ ने बहुत उपाय किये, किन्तु कोई लाभ नही हुआ। तब दुर्भागी ने इस कार्य को अपने ऊपर लिया और प्रतिज्ञा की कि जब तक यह बगीचा हरा-भरा नही हो जायेगा तब तब वह अन्न ग्रहण नही करेगी। उसकी इस तपस्या से शासनदेवी प्रसन्न हुई और उसने बगीचे को हरा-भरा कर दिया। इसमे दुर्भागी का मन धर्म मे और रम गया। वह कठोर तपस्याएँ करने लगी। अन्त मे उसने आत्म-चिंतन करते हुए अपने प्राण त्यागे। वहाँ से वह स्वर्ग मे उत्पन्न हुई। वहाँ पर भी धर्म-भावना के प्रति रुचि होने के कारण उसे मनुष्य जन्म मिला और वह अग्निशर्मा ब्राह्मण के घर विद्युत्प्रभा नाम की पुत्री हुई।

उस दुर्भागी ने अपने जीवन का पूर्वभाग सदाचार रहित परिवार में व्यतीत किया था, अत. उसके विचारो और कार्यो मे सद्भावना नही थी। इससे उसने दुष्कर्मो का संचय किया। उन्ही के कारण उसे विद्युत्प्रभा के जीवन मे प्रारम्भ मे बहुत दुःख भोगने पड़े हैं। किन्तु दुर्भागी का अंतिम जीवन एक धार्मिक परिवार मे व्यतीत हुआ। उसने स्वय धार्मिक साधना की। इसलिए आरामशोभा के रूप से उसे राजमहलो का सुख मिला। गरीबो को दान देने और बगीचा हरा-भरा करने के कारण से आरामशोभा को जादुई बगीचे का सुख मिला है। और अब महारानी आरामशोभा धार्मिक चिन्तन कर रही है तथा उसके अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करेगी तो वह स्वर्गो के सुख को भोग-कर क्रमशः मोक्षपद भी पा सकेगी।"

ज्ञानी सन्त के इन वचनों को सुनकर जितशत्रु राजा और आरामशोभा रानी ने संसार-त्याग कर वैराग्य जीवन अंगीकार किया।[1]

[४]

दो साधक जो बिछुड़ गये

□ श्री सुजानमल मेहता

साधना, त्याग और तपश्चर्या का लक्ष्य कर्म निरोध और कर्म निर्जरा है और अन्ततः अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है। साधकों को ऋद्धि सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं किन्तु अगर कोई साधक भौतिक चकाचौंध में फंस कर प्राप्त ऋद्धि सिद्धियों का लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करना बना लेता है तो वह अमृत में विष घोल देता है और परिणामतः अवनति के गहरे कूप में चला जाता है। ऐसे ही साधकों के लिये कहा जाता है 'तपश्वरी सो राजेश्वरी और राजेश्वरी सो नरकेश्वरी।'

कांपिल्य नगर में जन्मे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने भी अपने पूर्व भव में उत्कृष्ट साधना की थी और इसी कारण वे छः खण्ड के अधिपति बने थे। भौतिक ऋद्धि सम्पदा उनके आंगन में कल्लोलें करती थी, सुन्दर और मनोहर रानियों से उनका अन्तःपुर सुशोभित था और सांसारिक काम भोगों को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। इतना कुछ होते हुये भी वे अपने जीवन में रिक्तता का अनुभव करते थे। वे अपने अन्तर में एक टीस अनुभव करते थे मानो उनका एक अनन्य प्रेमी बिछुड़ गया हो। इस गहरी चिन्ता ही चिन्ता में उनको अपने पूर्व भवों की स्मृति (जातिस्मरण ज्ञान) हो गयी। उनकी स्मृति अपने पूर्व के लगातार पाँच भवों तक पहुँच गई और स्मरण हो गया कि वे दो भाई थे जो साथ-साथ जन्म लेते थे और मृत्यु को प्राप्त होते थे। प्रथम भव में वे दशार्ण देश में दास के रूप में थे, दूसरे भव में वे कालिंजर पर्वत पर मृग के रूप में थे, तीसरे भव में मातृ गंगा नदी के तट पर हंस के रूप में थे और चौथे भव में काशी नगर में एक चाण्डाल के घर में चित्त और संभूति के रूप में जन्मे थे।

काशी नरेश के नमूची नाम का प्रधान था, जो बड़ा बुद्धिमान और संगीत शास्त्री था, साथ ही था महान् व्यभिचारी। उसने राज्य अन्तःपुर में भी इस दोष का सेवन किया, परिणामतः राजा ने उसको मृत्यु दण्ड दे दिया। फांसी के तख्ते पर चढ़ाते समय वधिक (चित्त और संभूति के पिता) को दया आ गई

---

1 १२वीं शताब्दी की प्राकृत कथा 'आरामसोहा' का हिन्दी रूपान्तर।

ओर उसने उसको मृत्यु से वचाकर अपने घर मे गुप्त रूप से रख लिया। दोनों भाई चित्त और सभूति नमूची से सगीत विद्या सीखने लगे और पारगत हो गये। जिसकी बुरी आदत पड जाती है वह कही नही चूकता। नमूची ने चाण्डाल के घर मे भी व्यभिचार का सेवन किया और उसको प्राण लेकर चुपचाप भागना पडा।

चित्त और सभूति की सगीत विद्या की ख्याति देश-देशान्तर मे फैलने लगी। काशी के सगीत शास्त्रियो को चाण्डाल कुलोत्पन्न भाइयो की ख्याति सहन नही हो सकी और उन्होने येन-केन प्रकारेण दोनो भाइयो को देश निकाला दिलवा दिया। इस घोर अपमान को दोनों भाई सहन नही कर सके और अपमानित जीवन के वजाय मृत्यु को वरण करना उन्होने श्रेयस्कर समझा और पर्वत शिखर से छलाग मारकर मृत्यु का आलिगन करने का सकल्प उन्होंने कर लिया। अपने विचारो को वे कार्य रूप मे परिणत कर ही रहे थे कि अकस्मात एक निर्ग्रन्थ मुनि उधर आ निकले। मुनि ने ऐसा दुष्कृत्य करने से उनको रोका और आत्म-हत्या एक भयकर पाप है, यह समझाते हुये मानव-जीवन को सार्थक वनाने का उपदेश दिया। मुनि के उपदेश ने उनमे से हीन भावना को निकाल दिया और उन दोनो ने मुनिराज का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। मुनि के पास ज्ञान-ध्यान मे निपुण होने के वाद गुरु आज्ञा से वे स्वतंत्र विचरण करने लगे। विचरण करते हुये साधना के वल से उनको अनेक ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं।

उधर नमूची प्रधान चाण्डाल घर से भागकर लुकते-छिपते हस्तिनापुर नगर पहुँच गया और अपने बुद्धि-कौशल से चक्रवर्ती सनतकुमार का प्रधान मत्री बन गया। मुनि चित्त सभूति भी विचरण करते हुये हस्तिनापुर नगर के वाहर उद्यान मे विराजे। मुनि वेप मे चित्त और सभूति को देखकर नमूची प्रधान ने भयभीत होकर समझा कि कही मेरा सारा भेद खुल न जावे, इस लिये षडयत्र करके उसने उनका (मुनियो का) अपमान करत हुये शहर निकाला देने की आज्ञा दिलवादी।

चित्त मुनि ने तो इस अपमान को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया किन्तु सभूति मुनि को यह अपमान और तिरस्कार सहन नही हो सका और वे इसका प्रतिशोध लेने के लिये तपश्चर्या के प्रभाव से प्राप्त सिद्धि का प्रयोग करने के लिये तत्पर हो गये। चित्त मुनि ने सभूति मुनि को त्यागी जीवन की मर्यादा को समझाते हुये शान्ति धारण करने के लिये कहा किन्तु संभूति मुनि का क्रोध शान्त नही हुआ और कुपित होकर वे अपने मुह से धुआँ के गोले निकालने लगे। नगरवासी यह देखकर घवरा गये और अपने महाराज चक्रवर्ती सनतकुमार से इस भयकर सकट को निवारण करने की प्रार्थना करने लगे। चक्रवर्ती

सनतकुमार सपरिवार ससम्य मुनि की सेवा मे उपस्थित हुये और प्रशासन की भूल के लिये क्षमा याचना की। तपस्वी मुनि का क्रोध शान्त हुआ और उन्होने अपनी लब्धि के प्रयोग को समेट लिया किन्तु चक्रवर्ती की ऋद्धि सम्पदा, राजरानियो के रूप सौन्दय को देखकर वे आसक्त बन गये और यह दुस्सकल्प कर लिया कि मेरे इस त्याग तपश्चर्या का फल मिले तो मुझे भी भविष्य मे ऐसा ही ऐश्वय और काम भोगो के साधन प्राप्त हो। चित्त मुनि ने मुनि सभूति की भावभगी को देखकर इस प्रकार के निदान करने के दुष्परिणाम से अवगत कराया किन्तु मुनि सभूति पर इसका कोई असर नही हुआ।

चक्रवर्ती सनतकुमार मुनियो के दशन कर अपने आपको धन्य मानते हुये त्याग वराग्य की अमिट छाप अपने हृदय मे लेकर अपने महलो की ओर प्रस्थान कर गये। दोनो मुनियो ने यथासमय आयुष्य पूण कर देव लोक के पद्मगुल विमान मे जन्म लिया।

देवलोक की आयुष्य पूण कर मुनि सभूति ने कापिल्य नगर मे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के रूप मे जन्म लिया किन्तु उसका भाई चित्त देवायु पूण कर कहा गया, इसको जानने के लिये ब्रह्मदत्त चितित हो गये। राज्य वैभव और भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होते हुये भी उसको अपने पूव भव के भाई की विरह वेदना सताने लगी। आखिर उसने अपने भाई को खोजने का एक उपाय निकाल लिया। उसने एक आधी गाथा बनाई—"असि दासा, मिगा, हँसा, चाण्डाला अमरा जहा"—और देश-देशान्तरो मे यह उदघोष करा दिया कि जो कोई इस अध गाथा को पूण कर देगा उसको चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपना आधा राज्य देगा।

चित्त मुनि देवायु पूण कर पुरमिताल नगर मे धनपति नगर श्रेष्ठि के घर मे पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए। अपने पूव भव की त्याग-तपश्चर्या के प्रभाव से अतुल ऋद्धि सम्पदा और भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री के स्वामी बने। एक दिन किसी महात्मा के मुखारविन्द मे एक गम्भीर गाथा सुनकर उसके अथ का चिन्तन करते-करते उनको जाति स्मरण ज्ञान हो गया। पूव त्याग वराग्य के सस्कार जागत हुये और भोगविलास की सामग्री को सप काचलीवत छोडकर त्याग माग का अगीकार करते हुये विचरण करने लगे। साधना करते हुये उनको अवधि ज्ञान प्रकट हो गया। ग्रामानुग्राम विचरते हुये वे कापिल्य नगर के बाहर उद्यान मे विराजे और माली को पूर्वोक्त अधगाथा उच्चारण करते हुये सुना। चित्त मुनि अवधि ज्ञान के बल से अध गाथा का प्रयोजन समझ गये और "इमाणी छट्ठिया जायी अन्नमन्नेण जा विणा" यह कहकर अधगाथा को पूण कर दिया।

उद्यान का माली हर्षित होते हुये राज्य सभा मे गया और उस अधगाथा

को पूर्ण करके सुना दिया । चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपने पूर्व भव के भाई को माली के रूप मे समझ कर खेद खिन्न होकर मूर्छित हो गया । राजपुरुषो ने माली को पकड लिया और त्रास देने लगे तो माली ने सही स्थिति वतला दी । राजपुरुष मुनि की सेवा मे उपस्थित हुये और राजा के मूर्छित होने की बात कहकर मुनिराज को राज्य सभा मे लिवालाये ।

मुनि का ओजपूर्ण शरीर और दैदीप्यमान ललाट देखकर ब्रह्मदत्त स्वस्थ्य हो गये किन्तु अपने भाई को मुनि वेष मे देख कर खिन्नमना होकर कहने लगे कि वन्धुवर, पूर्व भव की आपकी त्याग-तपश्चर्या का क्या यही फल है कि आपको भिक्षा के लिये इधर-उधर भटकना पड रहा है । मुझको राज्य वैभव और सम्पदा ने वरण किया है किन्तु आपके यह दरिद्रता क्यो पल्ले पडी ? मुझे आपके इस कष्टप्रद जीवन को देखकर आश्चर्य भी हो रहा है और दु:ख भी । अव आपको भिक्षा जीवी रहने की आवश्यकता नही है । मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरा आधा राज्य वैभव आपके हिस्से मे है ।

"राजेन्द्र ! जिस राज्य वैभव मे आप अनुरक्त हैं, उससे मैं भी परिचित हूँ" चित्त मुनि कहने लगे—"मेरा जन्म भी एक ऐश्वर्य व वैभव सम्पन्न श्रेष्ठी कुल मे हुआ है अत: मुझे भिखारी या दरिद्री समझने की भूल मत करो । एक महात्मा के सयोग से मेरे त्याग वैराग्य के संस्कार जागृत हो गये और सव वैभव सम्पदा को छोड कर मैंने अक्षय सुख और शान्ति का यह राजमार्ग अपनाया है । राजन् ! आपको यह राज्य वैभव क्यो मिला, इस पर गहराई से चिन्तन करो । हम दोनो ने पूर्व भव मे चित्त और सभूति के रूप मे मुनिव्रत अगीकार कर कठिन साधना की थी जिससे हमारा जीवन बडा निर्मल हो गया, कई सिद्धियाँ भी हमको सहज ही प्राप्त हो गयी । चक्रवर्ती सनतकुमार हमारे दर्शन करने आया और त्याग-वैराग्य की अमिट छाप अपने हृदय पर लेकर वापस चला गया । चक्रवर्ती का राज्य वैभव भोग कर भी वह उसमे उलझा नही और विरक्त होकर सयम जीवन अगीकार कर सिद्ध, वुद्ध और मुक्त हो गया । आप उसके राज्य वैभव और राजरानियो के रूप सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो गये और यह निदान (दु:स्सकल्प) कर लिया कि मेरी साधना का फल मुझे मिले तो मुझे भी इसी तरह का राज्य वैभव और काम भोगो के साधन प्राप्त हो । त्याग तपश्चर्या का फल तो अनिर्वचनीय आनन्द और अक्षय सुख है किन्तु आपने निदान करके हीरे को कौडियो के मोल वेच दिया जिससे आपको यह राज्य वैभव प्राप्त हा गया । इसमे आत्यन्तिक आसक्ति महान् दु:ख का कारण वन सकती है । चक्रवर्ती सनतकुमार का अनुसरण कर आपको इन क्षणिक काम भोगो को स्वेच्छा से छोड़ कर अक्षय सुख और शान्ति का राजमार्ग अपनाना चाहिये अर्थात् मुनि जीवन स्वीकार कर लेना चाहिये ।"

'आर्य ! आपका कथन यथार्थ है । मैं भी समझने को ऐसा ही समझ रहा हूँ ।" चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा—"दलदल म फसे हुये गजेन्द्र के समान मैं हूँ कि जिसको किनारा तो दिख रहा है किन्तु दलदल से बाहर निकलने की उसकी इच्छा ही नही होती । मैंने पूर्व भव मे त्यागी जीवन की मर्यादा का उल्लघन करके क्रोध किया और फिर निदान कर लिया चक्रवर्ती की सम्पदा के लिये, उसी का यह परिणाम है कि आपके समझाने पर भी और त्यागी जीवन की महत्ता के समझते हुये भी मैं राज्य वभव की आसक्ति को छोड नही पा रहा हूँ ।"

"अगर पूर्ण त्यागी जीवन स्वीकार नही कर सकते हो तो गृहस्थाश्रम म रहते हुये श्रावक के व्रत नियम ही धारण करलो जिससे आप अधम गति से तो बच सकोगे ।" चित्त मुनि न वकल्पिक माग बतलाया ।

"मुनिवर ! मेरे लिये यह भी शक्य नहीं है ।" चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुय उत्तर दिया ।

"राजेन्द्र ! पूर्व भवो के स्नेह के कारण मैं चाहता था कि आपको भोगासक्ति के दलदल से बाहर निकालूँ किन्तु मेरा यह प्रयत्न निष्फल गया, अब जसी आपकी इच्छा ।" यह कहते हुय चित्त मुनि (पूर्व भव का नाम) वापस लौट गये ।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त न काम भोगो के दलदल मे फँसे हुये ही आयुष्य पूर्ण किया और सातवी नरक म गये । महामुनि चित्त ने उग्र साधना और तपश्चर्या की जिससे अन्त मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये ।

दो बन्धु जो पाँच भवो तक साथ-साथ रहे छठे भव मे कठिन साधना की वे आसक्ति और विरक्ति के कारण इतने दूर बिछुड गये कि एक तो रसातल के अंतिम छोर-सातवी नरक गये और दूसरे ऊर्ध्व गमन की अंतिम सीमा-सिद्धशिला पर जा बिराजे ।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करहि तस फल चाखा ।।

[५]

कर्म का भुगतान

☐ श्री चाँदमल बावेल

भगवान् श्रेयांसनाथ इस धरती तल पर भव्य जीवो का सन्मार्ग दिखाते हुए विचरण कर रहे थे । उस समय दक्षिण भरत मे पोतनपुर नामक एक नगर

था। रिपु प्रतिशत्रु नामक वहां का शासक था। उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था। कालान्तर मे उनके पुत्र रत्न की उत्पत्ति हुई जिसका नाम अचल रखा गया। कुछ काल बाद उस भद्रा महारानी के एक कन्या रत्न की उत्पत्ति हुई जिसका नाम मृगावती रखा गया। मृगावती जब यौवनावस्था में आयी तो उसका एक-एक अग सुगठित तथा आकर्षक था। राजकुमारी विवाह योग्य हुई तो ध्यानाकर्षण की दृष्टि से माता भद्रा ने उसे पिता के पास राज दरबार मे भेजा। राजा रिपु प्रतिशत्रु उस राजकुमारी को आते देखकर मोहाभिभूत हो गया। उसने विचार किया कि यह तो कोई स्वर्गलोक से देवाङ्गना आ रही है। पृथ्वी पर ऐसे स्त्रीरत्न का मिलना बड़ा कठिन है। राजा इस प्रकार का विचार कर रहा था कि वह राजकुमारी पास मे आयी एव पिताश्री को प्रणाम किया। राजा ने उसे पास मे बिठाया एवं पुन: सेविका के साथ उसे अन्तःपुर मे भेज दिया। राजा अपनी दुर्वासना को दबा न सका। आखिर अपनी चतुराई के बल पर उसने राज दरबारियो से स्वीकृति प्राप्त कर अपनी पुत्री से गन्धर्व विवाह कर लिया। इधर महारानी भद्रा अपने पुत्र अचल को लेकर दक्षिण दिशा मे चली गयी जहाँ पर माहेश्वरी नामक नगरी बसायी। कुछ दिनों बाद पुत्र अचल पुन. पिताश्री की सेवा मे आ गया।

कालान्तर मे मृगावती के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियो ने बताया कि यह बालक वासुदेव का पद धारण कर तीन खण्ड का स्वामी होगा। कर्म-गति कितनी विचित्र है कि एक श्लाघनीय पुरुष की उत्पत्ति लोकापवाद निन्दनीय सयोग से हुई। बालक की पीठ पर तीन बास का चिह्न देखकर उसे त्रिपृष्ठ नाम दिया गया। बालक अपने बड़े भाई अचल के साथ रहने लगा। योग्य वय पाकर कला-कौशल मे निपुण हो गया। दोनो भाइयो मे स्नेह इतना अधिक था कि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते थे।

उस समय मे रत्नपुर में अश्वग्रीव नामक शासक शासन करता था। वह महान् योद्धा और वीर था। सोलह हजार राजा उसके अधीन थे। वह प्रति-वासुदेव था।

तत्कालीन परिस्थिति मे रथनुपुर चक्रवाल नामक नगरी मे विद्याधरराज ज्वलनवटी प्रबल पराक्रमी नरेश था, उनकी पत्नी का नाम वायुवेगा था। कालान्तर मे उसके एक कन्या की उत्पत्ति हुई जिसका नाम स्वयप्रभा रखा गया। उसका विवाह त्रिपृष्ठ वासुदेव से करने हेतु ज्वलनवटी उसे लेकर पोतन-पुर चला आया तथा विवाह की तैयारी होने लगी। यह बात अश्वग्रीव को मालूम हुई तो वह अपनी सेना लेकर पोतनपुर चला आया क्योकि स्वयप्रभा से वह विवाह करना चाहता था। घमासान युद्ध हुआ। अश्वग्रीव मारा गया। अन्त मे सभी राजाओ ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की आज्ञा मे रहना स्वीकार किया

तथा धूमधाम से वासुदेव पद का अभिषेक किया गया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव राजसी भोग विलास मे तल्लीन थे। महारानी स्वयप्रभा के श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्ररत्नो की उत्पत्ति हुई।

एक बार सगीत मडली भ्रमण करती हुई राज दरबार मे उपस्थित हुई। गायक अपनी कला मे पूर्ण निपुण थे। ज्योही उन्होने अपनी कला का प्रदर्शन किया तो सब मत्रमुग्ध हो गये एव उनकी भूरि भूरि प्रशसा करने लगे। एक दफा रात्रि को इस प्रकार का मनोरजक कार्यक्रम चल रहा था। राजा अपनी शय्या पर लेटे हुए थे। सगीत की स्वर-लहरी सभी को मत्रमुग्ध कर रही थी। त्रिपृष्ठ ने अपने शय्यापालक को कहा कि जब मुझे पूर्ण निद्रा आ जावे तो सगीत गाने वालो को विश्राम दे देना। इधर वासुदेव पूर्ण निद्राधीन हो गये किन्तु शय्यापालक स्वय सगीत मे इतना गृद्ध हो गया कि सगीतज्ञो को विश्राम का आदेश नही दिया तथा रात-भर सगीत होता रहा। वासुदेव जब जगे तो देखा कि सगीत पूर्ववत चल रहा है। राजा को आक्रोश आया एव शय्यापालक को कहा कि इन्हे विश्राम क्यो नही दिया? शय्यापालक ने कहा—"महाराज! मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं स्वय सगीत सुनने मे आसक्त हो गया इसलिये आपके आदेश का पालन नही हो सका।" त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कहा—'अच्छा! मेरे आदेश की अवहेलना। सामन्तो! यह सगीत सुनने का अत्यधिक रसिक है, इसलिये इसके कानो मे गर्म शीशा डाला जाय।" सामन्तो ने आज्ञानुसार वैसा ही किया। शय्यापालक ने तडपते हुए प्राण छोडे।

सत्तान्ध बनकर त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कर्म के बन्धन के फलस्वरूप आयु पूर्ण कर सातवी नारकी मे जन्म लिया। तैतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर सिंह नारकी, चक्रवर्ती, देवता, मानव, देव आदि भवो को पूर्ण कर वर्द्धमान महावीर के भव मे जन्म लिया।

महावीर अभिनिष्क्रमण के बाद जगलो, गुफाओ मे ध्यान करते हुये "छम्माणी" ग्राम के निकट उद्यान मे एक निर्जन स्थान मे ध्यानस्थ थे। उस समय शय्यापालक का जीव—जिसके कानो मे गर्म गर्म सीसा उडला गया था, वह ग्वाले के भव मे बलो की जोडी को साथ लेकर जहाँ महावीर ध्यानस्थ थे वहाँ पर आया एव बोला—'हे भिक्षु! मैं कुल्हाडी घर छोड आया हूँ, उसे लेकर आता हूँ तब तक बलो की रखवाली रखना।" इधर बल चरते हुए घनी झाडियो मे ओझल हो गये। ग्वाला वापिस आया तो बलो की जोडी नजर नही आयी। ग्वाले की आँखो मे आग बरसने लगी। वह महावीर को अभद्र शब्दो से बोलने लगा। किन्तु भगवान तो ध्यानस्थ थे, कोई उत्तर नही दिया। तब ग्वाले का क्रोध अधिक बढ गया और बोला—"अच्छा, तुम मेरी बात सुन नही रहे हो तो

लो तुम्हे बहरा करके ही दम लूंगा। उसने दोनो कानो मे काष्ठ के तीखे कीले ठोके और चला गया। इससे महावीर को तीव्र वेदना हुई, किन्तु उनका चित्त क्षण मात्र भी खिन्न नही हुआ तथा चिन्तन धारा में निमग्न हो गये। "मेरी आत्मा ने ही त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानो में गर्म शीशा डलवाया था। उसी कर्म विपाक का आज भुगतान हो रहा है। इसमें ग्वाले का क्या दोष ? मैंने जैसा कर्म किया, उसी का फल आज मुझे मिल रहा है। वास्तव मे कर्मों का भुगतान हुए बिना मुक्ति नही है।"

•●•

ण तस्स दुक्खं विभयंति णाइओ, ण मित्तवग्गा ण सुया ण बंधवा।
इक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥

—उत्तरा० १३/२३

अर्थ—पापी जीव के दुःख को न जाति वाले बँटा सकते हैं, न मित्रमंडली, न पुत्र, न बंधु। वह स्वय अकेला ही दुःख भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है (कर्त्ता को ही कर्मो का फल भोगना पडता है)।

सुखस्य दुखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीत्ति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः, स्वकर्म सूत्र ग्रथितो हि लोकः॥

अर्थ.—सुख-दुःख का देने वाला कोई नही है। अन्य जीव मेरे सुख-दुःख का कारण है, यह कुबुद्धि-मात्र है। मैं कर्त्ता हूँ यह मिथ्याभिमान है। समस्त ससार कर्म के प्रभाव से ही ग्रथित है।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृह द्वारि जनः श्मसाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एक.॥

अर्थः—जीव के परलोक प्रस्थान करते समय उसके द्वारा अर्जित धन भूमि मे ही रह जाता है, पशुवर्ग उसकी शाला में ही बँधा रह जाता है। भार्या गृह के द्वार तक ही रह जाती है, मित्र-मण्डली श्मशान तक पहुँचाती है। यह शरीर जो लम्बे समय तक जीव का साथी रहा, वह भी चितापर्यन्त साथ देता है। जीव अकेला ही कर्मानुसार परलोक गमन करता है।

परिशिष्ट

हमारे सहयोगी लेखक

१ आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज—प्रसिद्ध जन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, गवेषक विद्वान् और इतिहासज्ञ।

२ प० र० श्री हीरा मुनि—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और प्रखर वक्ता। आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के विद्वान् शिष्य।

३ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री—जन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, अनेक ग्रन्थों के लेखक। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के विद्वान् शिष्य।

४ स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक।

५ श्री रमेश मुनि शास्त्री—जैन मुनि, लेखक और चिन्तक। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के शिष्य।

६ श्री भगवती मुनि 'निर्मल'—जन मुनि, प्रसिद्ध लेखक, कथाकार और आगमज्ञ विद्वान्।

७ प० कैलाशचन्द्र शास्त्री—प्रसिद्ध जन विद्वान्, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, भूतपूर्व प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी।

८ डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया—प्रसिद्ध जन विद्वान्, चिन्तक, लेखक और वक्ता। वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ० प्र०) म हिन्दी प्राध्यापक।

९ डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'—लेखक, कवि और समीक्षक, मगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड अलीगढ (उ० प्र०)।

१० श्री कन्हैयालाल लोढ़ा—प्रबुद्ध, चिन्तक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, अधिष्ठाता—श्री जन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, बजाज नगर, जयपुर।

११ श्री चन्दनराज मेहता—चिन्तक और लेखक, ६३, सिलावटों का बास, सोजती गेट के अन्दर, जोधपुर ३४२ ००१।

१२ डा० शिव मुनि—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक।

१३ युवाचार्य महाप्रज्ञ—जन मुनि, जन धर्म, दर्शन और संस्कृति के ममज्ञ विद्वान्, अनेक ग्रन्थों के लेखक और ध्यान-साधक।

१४. **श्री राजीव प्रचंडिया**—एडवोकेट और लेखक, सर्वोदय नगर, अलीगढ (उ० प्र०)।

१५. **श्री चाँदमल कर्णावट**—प्रसिद्ध विचारक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, विद्या भवन टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, उदयपुर मे हिन्दी प्राध्यापक।

१६. **श्री लालचन्द्र जैन**—लेखक, विचारक और अनुवादक, शास्त्री नगर, जोधपुर।

१७ **आचार्य श्री नानेश**—प्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, समता दर्शन के गूढ व्याख्याता।

१८. **श्री श्रीचन्द गोलेछा**—प्रमुख रत्नव्यवसायी, तत्त्व चिन्तक और स्वाध्यायी, सी-२३, भगवानदास रोड, सी-स्कीम, जयपुर-१।

१९ **श्री कल्याणमल जैन**—स्वाध्यायी, चोरू (सवाईमाधोपुर)।

२०. **श्री राजेन्द्र मुनि**—जैन मुनि, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के शिष्य।

२१. **श्री जशकरण डागा**—तत्त्व चिन्तक और स्वाध्यायी, लेखक, डागा सदन, सघपुरा, टोक (राज०)।

२२ **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी**—प्रबुद्ध विचारक, समीक्षक और लेखक, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन मे हिन्दी विभागाध्यक्ष।

२३ **डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'**—जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और सस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रबुद्ध विचारक और लेखक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे निदेशक एवं प्रोफेसर।

२४. **डॉ० सागरमल जैन**—जैन धर्म-दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रबुद्ध विचारक और लेखक, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी (उ० प्र०) के निदेशक।

२५ **श्री धर्मचन्द जैन**—लेखक, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ (राज०) मे संस्कृत प्रवक्ता।

२६ **डॉ० के० एल० शर्मा**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग मे प्राध्यापक।

२७ **डॉ० ए० बी० शिवाजी**—विचारक और लेखक, दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक, मोहन निवास, कोठी रोड, उज्जैन (म० प्र०)।

२८ **डॉ० निजामुद्दीन**—प्रमुख लेखक और समीक्षक, इस्लामिया आर्टस् कॉलेज, श्रीनगर (कश्मीर) मे हिन्दी विभागाध्यक्ष।

२९ स्वर्गीय श्री अगरचन्द नाहटा—प्रमुख गवेषक जैन विद्वान्, प्राचीन भाषा और साहित्य के विशेषज्ञ, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर के संस्थापक।

३० डॉ० देवदत्त शर्मा—लेखक, जन सम्पर्क विभाग, सूचना केन्द्र, उदयपुर ३१३ ००१

३१ स्वर्गीय पं० सुखलाल संघवी—जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, पद्मभूषण अलंकार से सम्मानित। इनके विचार 'संसार और धर्म' पुस्तक की भूमिका से संकलित किये गये हैं।

३२ पं० फूलचन्द शास्त्री—जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, वाराणसी। इनके विचार 'कर्मग्रंथ भाग ६' की भूमिका से संकलित किये गये हैं।

३३ स्वर्गीय श्री केदारनाथ—प्रबुद्ध चिन्तक और मौलिक विचारक। इनके विचार 'विवेक और साधना' पुस्तक में संकलित किये गये हैं।

३४ स्वर्गीय स्वामी शरणानन्द—मौलिक विचारक, तत्त्व चिन्तक और अनुभवी संत। 'मानव सेवा संघ' वृन्दावन, मथुरा के संस्थापक। इनके विचार 'मूक सत्संग और नित्य योग' पुस्तक से संकलित किये गये हैं।

३५ स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला—प्रमुख सर्वोदयी विचारक, तत्त्व चिन्तक और लेखक। इनके विचार 'संसार और धर्म' पुस्तक से संकलित किये गये हैं।

३६ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक—भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रमुख सेनानी, प्रसिद्ध विद्वान् और चिन्तनशील लेखक। इनके विचार 'गीता-रहस्य' पुस्तक से संकलित किये गये हैं।

३७ महात्मा गांधी—राष्ट्रपिता, सत्य और अहिंसा के अनूठे प्रयोग शिल्पी। इनके विचार 'गीता बोध' पुस्तक से संकलित किये गये हैं।

३८ स्वर्गीय आचार्य विनोबा भावे—भूदान आन्दोलन के प्रवर्तक, प्रबुद्ध विचारक, लेखक और व्याख्याता। इनके विचार 'गीता प्रवचन' से संकलित किये गये हैं।

३९ आचार्य रजनीश—मौलिक चिन्तक, ओजस्वी वक्ता और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ध्यान योगी। इनके विचार 'महावीर परिचय और वाणी' से संकलित किये गये हैं।

४०. **स्वर्गीय डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन**—प्रवुद्ध चिन्तक और लेखक, इन्दौर विश्व-विद्यालय मे हिन्दी प्राध्यापक ।

४१. **श्री जी० एस० नरवानी**—राजस्थान प्रशासनिक अधिकारी, सचिव, राजस्थान डेयरी फेडरेशन, जयपुर ।

४२ **डॉ० महावीर सरन जैन**—प्रवुद्ध विचारक, लेखक, भाषाविद् और समीक्षक । जवलपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रोफेसर ।

४३. **श्री रणजीतसिंह कूमट**—प्रवुद्ध चिन्तक और लेखक, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी, प्रवन्ध सचालक, राजस्थान डेयरी फेडरेशन, जयपुर ।

४४ **डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग मे एसोशियेट प्रोफेसर ।

४५ **डॉ० शान्ता महतानी**—कानोडिया महिला महाविद्यालय, जयपुर मे दर्शन शास्त्र की विभागाध्यक्ष ।

४६ **आचार्य अनन्तप्रसाद जैन**—प्रवुद्ध चिन्तक और लेखक, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६ ००१ ।

४७. **श्री अशोककुमार सक्सेना**—कनिष्ठ व्याख्याता, जीव विज्ञान विभाग, जवाहर विद्यापीठ, कानोड-३१३ ६०४ (उदयपुर) राज०

४८ **डॉ० महावीरसिंह मुर्डिया**—एसोशियेट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, रोशन भवन, चम्पा वाग, सरस्वती मार्ग, उदयपुर (राज०) ।

४९. **डॉ० जगदीशराय जैन**—रीडर, रसायन शास्त्र विभाग, केसी, ४२-ए, अशोक विहार, फेज नं० १, न्यू वाटर टेंक, दिल्ली-११० ०५२ ।

५० **डॉ० प्रेमसुमन जैन**—जैन धर्म, दर्शन, साहित्य के प्रमुख विद्वान् एव लेखक, उदयपुर विश्वविद्यालय मे जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, २९, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-३१३ ००१ (राज०) ।

५१ **स्वर्गीय सुजानमल मेहता**—लेखक और स्वाध्यायी, सवाईमाधोपुर ।

५२. **श्री चाँदमल बाबेल**—लेखक और स्वाध्यायी, राधाकृष्ण कॉलोनी, भीलवाड़ा ।

•□•

विज्ञापन-खण्ड

□

संयोजन

सुमेरसिंह बोथरा

□

जिन व्यक्तियों, संस्थाओं एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें सहयोग प्रदान किया, एतदर्थ उन सबके प्रति हार्दिक आभार। इन विज्ञापनों को एकत्र करने में हमें सर्वश्री पूरणराजजी अब्बाणी जोधपुर, पारसराजजी बाठिया अहमदाबाद, धर्मेन्द्रजी हीरावत बम्बई, मोतीचन्दजी कर्णावट जयपुर एवं पार्श्वकुमारजी मेहता जयपुर का विशेष सहयोग मिला है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

— 'जिनवाणी' परिवार

शरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो।

—उत्तराध्ययन २३/७३

यह शरीर नौका है, जीव आत्मा उसका नाविक है और ससार समुद्र है। महर्षि इस देहरूप नौका के द्वारा ससार-सागर को तैर जाते है।
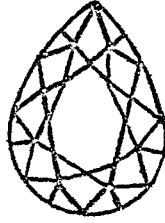
धम्मो मगलमुक्किटठ अहिंसा संजमो तवो।
देवावि त नमसति जस्स धम्म सया मणो।

—दशवकालिक १/१

धम सबस उत्कृष्ट मगल है, धम है—अहिंसा सयम और तप। जो धर्मात्मा है, जिसक मन म सदा धम रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करत हैं।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥

—उत्तराध्ययन २०/३७

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है, और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु के समान है।
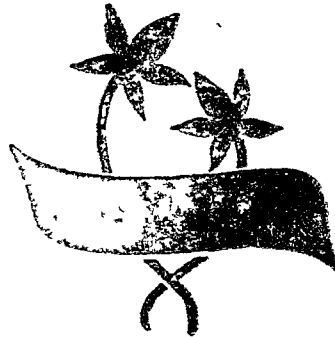
जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।

—उत्तर० ९/३४

भयंकर युद्ध में हजारों-हजार दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे ।
मायामज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥

—दशवै० ८/३९

क्रोध को शान्ति से, मान को मृदुता-नम्रता से, माया को ऋजुता-सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिये ।

With Best Compliments From :
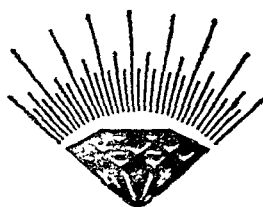
Telephone No 77168

SHAH GEMS

GOPALJI KA RASTA,
JOHARI BAZAR,
JAIPUR-3

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य॥

—उत्तराध्ययन १/१६

दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करें इससे तो अच्छा है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपना दमन कर लूं।

जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइय होइ इह केवलिभासियं ।।

—अनुयोगद्वार 128

जो त्रस (कीट पतंगादि) और स्थावर (पृथ्वी जल आदि) सब जीवों के प्रति सम है अर्थात् समत्वयुक्त है उसी की सच्ची सामायिक होती है-ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

उपवास का असली फल आत्म-शुद्धि है।
आत्म-शुद्धि से शुभ भाव की वृद्धि होती है।
आत्मिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवन
में जागरण आता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

भट्टी पर चढ़ाये उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संतापों से संतप्त मानव सामायिक साधना करके ही शान्ति लाभ कर सकता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

दो बातों पर ध्यान रहे—

- जो कामना पर विजयी हैं, वह रंक होने पर भी राजा हैं।
- जो कामना का गुलाम हैं, वह राजा होने पर भी कंगाल हैं।

लाभा लाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा पंससासु, समो माणावमाणओ ॥

—उत्तराध्ययन 19/91

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है वही वस्तुतः मुनि है ।

जहा सुणी पूइकण्णी, नियकसिज्जई सव्वसो ।
एव दुस्सील पडिणीए, मुहरी नियकसिज्जई ॥

—उत्तराध्ययन 1/4

जिस प्रकार सड़े हुए कानों वाली कुतिया जहां भी जाती है निकाल दी जाती है, उसी प्रकार दुःशील उद्दण्ड और मुख-वाचाल मनुष्य भी धक्के देकर निकाल दिया जाता है ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो।

—दशवै० 8/38

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणों का विनाश करता है।

47- पुरिसा । अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ
एव दुक्खा पमुच्चसि ।

—आचारांग 1/3/3

मानव ! अपने आपको ही निग्रह (संयत) कर स्वयं के निग्रह (संयम) से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है ।

मण परिजाणइ से णिग्गंथे ।

—आयारांग २/३/१५/१

जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है,
वही सच्चा निर्ग्रन्थ होता है ।
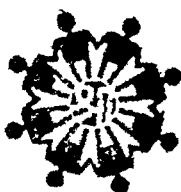
सज्झाए वा निउत्तण सव्वदुक्खविमोक्खण।

—उत्तराध्ययन २६/१०

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखो से मुक्ति मिल जाती है।

With Best Compliments
From

Bhandari Cotton Trading Company

COTTON MERCHANTS

H No 10 2 34 Mahabaleshwar Chowk City Takies Road
RAICHUR-584 102

Grams "GURUGANESH" Phones Office 8987 & 7091 Resi 8307

Branch Office

Chandramouli Nagar Laxmipuram, Main Road 5th Lane
GUNTUR-522 004

Grams "GURUGANESH" Phone 23643 & 25112

Sister Concerns

PRAKASH COTTON TRADING COMPANY RAICHUR
SUMATI COTTON GINNING FACTORY RAICHUR
SURESH COTTON GINNING FACTORY RAICHUR

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नन्दण वर्ण ॥

—उत्तराध्ययन २०/३६

मेरी (पाप मे प्रवृत्त) आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान (कष्टदायी) है। और मेरी आत्मा ही (सत्कर्म मे प्रवृत्त) कामधेनु और नन्दनवन के समान सुखदायी है।

अह वयइ कोहेण माणेण अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भय ॥

—उत्तराध्ययन ६/५४

क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है, मान से अधमगति प्राप्त करता है माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। लोभ से इस लोक और परलोक दोनो मे ही भय-कष्ट होता है।

सत्वपाणा न हीलियव्वा न निंदियव्वा

—प्रश्नव्याकरण २/१

विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिये और न निन्दा।

जा परिभवइ पर जण सुसारे परियत्तइ मह।

—सूत्रकृताग १/२/२/१

जा दूसरो का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है वह समार वन म दीघकाल तक भटकता रहता है।
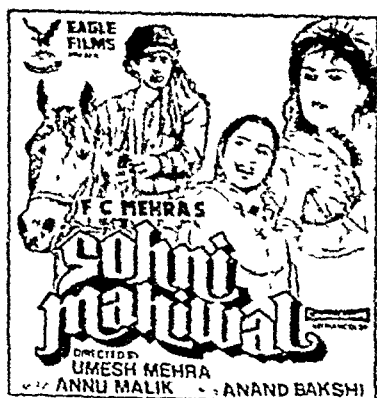
दो बातों से सदा बचे रहना चाहिए :—

- अपनी प्रशसा से
- पर निन्दा से।
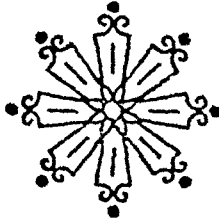
कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं ।

—उत्तराध्ययन २३/५३

कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) को अग्नि कहा है। उसको बुझाने के लिए श्रुत (ज्ञान) शील, सदाचार और तप जल के समान हैं।

पवित्र हृदय से की गई करणी ही काम आयगी
और करणी के अनुसार ही सुगति मिलेगी ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

With best compliments from

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।

—उत्तराध्ययन १३/२८

अस्तेय (अचौर्य) व्रत का साधक बिना किसी (स्वामी) की अनुमति के, और तो क्या, दाँत साफ करने के लिये एक तिनका भी नहीं लेता ।
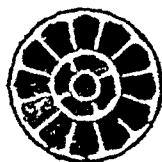
विणयाहीया विज्जा देति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा सस्साणि व तोयहीणाइं ।

—बृह० भाष्य ५२०३

विनयपूर्वक पढ़ी गई विद्या लोक-परलोक में सर्वत्र फलवती होती है। विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है जिस प्रकार जल के बिना धान्य की खेती।

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए, अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।

—स्थानांग–८

रोगी की सेवा करने के लिये सदा अग्लानभाव से तैयार रहना चाहिये ।

दो बातों के बिना प्राप्ति नहीं मिल सकती —

- एकाग्रता के बिना ।
- जितेन्द्रियता के बिना ।
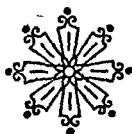
सज्जन हृदय दो प्रकार का होता है —

- दूसरे के दु:ख मे मोम की तरह कोमल ।
- प्रतिज्ञा-पालन मे वज्र की तरह कठोर ।
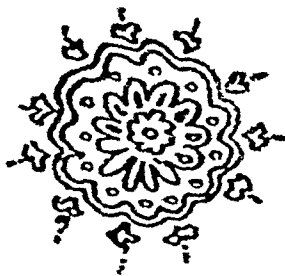
जे एग नाम, त बहु नामे ।

—आयारांग १/3/४

जो अपने आपको नमा लेता है– जीत लता है,
वह समग्र ससार को नमा लता है ।

इमेण चेव जुज्झाहि,
कि ते जुज्झेण बज्झाओ।।

—आयारांग १/५/3

अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर।
बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्राप्त होगा?

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसंगता ।
गुरुभक्तिस्तपोज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥

—हरिभद्र-टीका ३/१६

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निःसंगता, गुरुभक्ति, तप और ज्ञान ये पूजा के आठ फूल कहलाते हैं ।
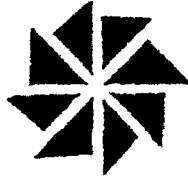
दा बाता के बिना घर सूना है—

प्रम क बिना ।

- अनुशासन के बिना ।

विवत्ती अविणीयस्स, सपत्ती विणीयस्स य ।

—दशवै० ९/२/२२

अविनीत विपत्ति (दु:ख) का भागी होता है और विनीत सम्पत्ति (सुख) का ।

With Best Wishes From :

दो तरह मे रहना सीखो—

- जगत के प्रपच म ३ ६ अक की तरह ।
- आत्म-साधना म ६ ३ के अक की तरह ।

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ।

—आचारांग १/३/२

सम्यग्दर्शी साधक पापकर्म नहीं करता, अर्थात् वह पापों से सदा बचता रहता है ।

स्वाध्याय, चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए सर्वोत्तम उपाय है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

धन, रोग और शोक दोनों का घर है जबकि धर्म रोग और शोक दोनों को काटने वाला है ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

किरिअं च रोयए धीरो।

—उत्तराध्ययन १८/३३

धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्तव्य) में ही रुचि रखते हैं।

दो बडे पापी हैं—

- धर्म स्थान मे पाप करने वाला ।
- झूठे मत प्रचार मे लोगो को ठगने वाला ।

दो प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

उत्तम संस्कार से।

- ज्ञानी के संग या सदुपदेश से।

कर्म-वृक्ष को आगे बढ़ाने वाला है राग और द्वेष,
जहां राग-द्वेष सूख गया कर्म-वृक्ष भी सूख जायगा।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०—

WITH BEST COMPLIMENTS FROM :

कार्यकर्ता में दो बातें आवश्यक हैं—

- जवान जैसा जोश हो।
- वृद्ध जैसा होश हो।

दो का जीवन व्यर्थ है—

- जिसने क्रोध को नहीं जीता ।
- जिसने काम को नहीं जीता ।

दो बातों पर हमेशा नजर रखो—

- आय से अधिक व्यय नहीं करना।
- आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करना।

हिंसा का ऋण मृत्यु होने पर भी नहीं छूटता ।
वह परलोक में भी साथ रहता है ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

—दशवै० ६/२१

मूर्च्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है ।

With best compliments from :

CENTURY RAYON

(PROPS : THE CENTURY SPG. & MFG CO. LTD.)

Industry House

159, Churchgate Reclamation

BOMBAY-400 020

दौलतमद मे दो ऐब हैं—

- कान से हित की सुनता नही ।
- आँख से अपने-पराए को देखता नही ।

With best compliments from :

Sardar Singh Gokhru

NATHMAL JI KA CHOWK,

JOHARI BAZAR

JAIPUR-302 003

न वाहि मोक्खो गुरुहीलणाए।

—दशव० ६/११७

गुरुजनों की अवहेलना करने वाला कभी बन्धन मुक्त नहीं हो सकता।

मानसिक चपलता के प्रधान कारण दो हैं—

लोभ और अज्ञान।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

चारित्त समभावो ।

—पंचास्तिकाय १०७

समभाव ही चारित्र है ।

With Best Compliments From :

ससारस्स उ मूल कम्म, तस्स वि हु ति य कसाया ।

—आचारांग निर्युक्ति १८९

ससार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है ।

With Best Compliments From :

☐

स्वाध्याय स आत्मा स्व पर क भद को समझन
म प्रतिक्षण जागरूक रहता है।

—आचाय श्री हस्तीमलजी म० सा०

मानसिक अशुद्धि दूर होने पर स्थिरता सहज प्राप्त हो सकेगी ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

With best compliments from

Phone 44716 Off
40176 Res

M/s Mohanlal Mahendra Kumar Kataria

FINANCE BROKER
Anaj Bazar ITWARI
NAGPUR 2

न बाहिर परिभवे, अत्ताण न समुक्कसे ।

—दशवै० ८/३०

बुद्धिमान दूसरों का तिरस्कार न करें और अपनी बड़ाई न कर ।

With best compliments from

Shri Gyan Chand Bhandari & Family

71 BHANDARI SADAN
BHATTON KI GALI
JAIPUR 302 002

Phone 44787

परिग्गहनिविट्ठाण वेर तेसि पवड्ढई ।

—सूत्रकृतांग १/९/३

जो परिग्रह (संग्रहवृत्ति) में फंसे हैं, वे
संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं ।

श्रीमन्तों को समाज की आंखों में काजल
बन कर रहना चाहिए जो खटके नहीं,
न कि कंकर बनकर जो खटकता हो ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

जैसे आवश्यकता आविष्कार की जननी है, उसी प्रकार आवश्यकता पाप की भी जननी है ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा.

With Best Wishes
Phone 43871
Hari Ballabh Chowdhary
Chowdhary Bhawan
Opp Hawamahal,
JAIPUR - 3
With best compliments
from :
Phone 47391
Ashok Kumar Gupta
Pitaliyon ka Chowk
Johari Bazar
JAIPUR 3
With best Compliments
From
Gyan Chand Kothari
(Bhopalwale)
M S B Ka Rasta
Johari Bazar,
JAIPUR 3
With best Wishes
Phone 45035
KAILASH CHAND RAWAT
Ramganj Chopar
Galta Road
JAIPUR 3

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित :

Phone : 7237 Fact.
7242 PP. Resi.

अनिल टेक्सटाईल इण्डस्ट्री

पावरलूम कपड़े के निर्माता

E 64 - F 2 इण्डस्ट्रियल एरिया

पाली मारवाड़ (राज०)

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित :

फोन : प्रतिष्ठान 6
मिल 29
निवास 106

श्री शान्तिलाल दगडूलाल

साण्ड

लासलगांव

With best Compliments
From :

Phone · 7660
7242

Kankariya Textiles

Manufacturers of :

DYED, PRINTED RUBIA VOILES
18, Gajanand Marg,
PALI-Marwar-306401
(Rajasthan)

With best compliments
from :

Phone : 73148

JOHRI INDUSTRIES

1/398, Pareek College Road,
JAIPUR - 302 006

आचार्य श्री गजेन्द्र अमृत महोत्सव
साधना समारोह

दिनाक ६ जनवरी, १९८४, पौष शुक्ला चतुदशी स २०४१

प्रिय बन्धुवर !
सादर जयजिनेन्द्र !

परम गौरव एव अपार हर्ष का विषय है कि विश्ववद्य श्रमण भगवान महावीर स्वामी के शासन के सजग प्रबल प्रहरी, जन जगत के ददीप्यमान नक्षत्र, रत्नवशनायक धमगुरु, धर्माचाय, सामायिक-स्वाध्याय के सन्देशवाहक, प्रात-स्मरणीय, अखण्ड बालब्रह्मचारी, चारित्र चूडामणि विद्वदरत्न, इतिहास-मातण्ड, परम पूज्य आचाय परम-श्रद्धेय श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहब का ७५वा पुनीत पावन जन्म दिवस आगामी पाष शुक्ला चतुदशी तदनुसार दिनाक ६ जनवरी, १९८५ को समुपस्थित हो रहा है।

परम पूज्य आचाय प्रवर का समग्र जीवन साधना सम्पूरित रहा है। आचाय श्री ने ६४ वष के इस सुदीघ साधना काल मे जहाँ एक ओर उत्तर से दक्षिण एव पूव से पश्चिम तक सहस्रो मील का पादविहार कर जिनवाणी की पावन गगा को भारत भूमि के कोने-कोने मे प्रवाहित किया है, वही स्वाध्याय एव सामायिक के मगलमय दिव्य घोप से नगर, ग्राम एव घर घर मे भगवान महावीर का विश्वकल्याणकारी सन्देश पहुँचाया है।

आपने अपने सुदीघ आचाय काल मे न केवल अनेको मुमुक्षु भद्र भव्य भाई-बहिनो को अध्यात्म की ओर प्रेरित कर उन्हें पच महाव्रता की भागवती दीक्षा ही प्रदान की है, अपितु हजारो नर नारियो को सप्त कुव्यसनो का त्याग करवाकर, उन्हें सामायिक व स्वाध्याय की प्ररणा देकर, समाज के नैतिक एव धार्मिक धरातल को समुन्नत करने की दिशा मे अथक परिश्रम किया है। आप द्वारा प्ररित सकडो स्वाध्यायी बन्धु प्रतिवष सकडो क्षेत्रो मे धम साधना पूवक पयु पण-पर्वाराधन करवा रहे हैं।

आपकी सतत अहर्निश अप्रमत्त दिनचर्या, अलौकिक ध्यान-साधना, नियमित मौन साधना, सम्प्रदायातीत धम प्रेरणा, साधक-जीवन मे दृढ अनुशासन, प्रतिपल जिन शासन हित चिन्तन आपकी मौलिक विशेपताए हैं। आपके जीवन में ज्ञान एव क्रिया का सुन्दर सगम सहज ही स्वत दृष्टिगत होता है। आपकी प्रसन्नचित सौम्य शान्त मुख मुद्रा दशनार्थी भक्तगणो को हठात प्रथम दशन में ही सदा सवदा के लिये अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

स्व सम्प्रदाय मे रहते हुए भी आपका लक्ष्य सदव जिन शासन सेवा सगठन, एकता एव श्रमणाचार की विशुद्धता का रहा है। आप द्वारा प्रेरित सस्थाएँ भी इसी पवित्र लक्ष्य के अनुरूप समग्र जैन समाज व मानव मात्र की सेवा हेतु समर्पित हैं।

हमें गौरव है ऐसे महान् धर्मगुरु धर्माचार्य के शिष्य होने का। आज हमारे समक्ष उपस्थित है एक महान् सुअवसर—अपने आराध्य गुरुदेव के चरणो में श्रद्धा एव भक्ति के पुष्प समर्पित करने का।

अनन्त उपकार है पूज्य प्रवर के हम पर, जिन्होने हमे जीवन की सच्ची राह दिखाई है। यद्यपि जन्म-जन्मान्तरो तक भी हम उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकते तथापि आइये ! आप हम सब एक साथ मिलकर अटल संकल्प करे कि पूज्य गुरुदेव के साधनामय जीवन के इस विशिष्ट पावन प्रसग पर हम "त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये" कहते हुए यत्किचित् साधना-सुमन उन्ही के चरणो मे समर्पित करें। और इस प्रकार पूज्य गुरु गजेन्द्र से प्राप्त सामायिक-स्वाध्याय के प्रसाद को हम घर-घर पहुँचाकर उनके भागीरथ-प्रयास मे अपना भी कुछ योगदान करें।

इसी शुभ भावना व आपके सहयोग के विश्वास के साथ कुछ संकल्प आपकी सेवा मे प्रस्तुत हैं :—

१ कम-से-कम ७५ व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करें।
२. कम-से-कम ७५ नये स्वाध्यायी बनें।
३. कम-से-कम ७५ जैनेतर व्यक्ति सप्त कुव्यसन त्याग करें।
४. कम-से-कम ७५ स्थानो पर सामायिक संघों को सुव्यवस्थित करना।
५. एक वर्ष के लिये ७५ छात्रो को छात्रवृत्ति प्रदान करना-करवाना।
६. कम-से-कम ७५ व्यक्ति पौष शुक्ला चतुर्दशी से ७५ दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करे।
७ कम-से-कम ७५ नये व्यक्ति धर्मस्थानक मे सामायिक-साधना का संकल्प करे।
८. कम-से-कम ७५ व्यक्ति एक वर्ष के लिये रात्रि भोजन त्याग करे।
९ कम-से-कम ७५ कार्यकर्ता तैयार करना एवं उनसे नियमित सम्पर्क स्थापित करना।
१० "गजेन्द्र-सूक्ति सुधा" के अंग्रेजी सस्करण का प्रकाशन।
११ कम-से-कम ७५ बच्चे एक वर्ष मे सामायिक/प्रतिक्रमण सीखने का संकल्प करे।

यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सके, इसमे आप सबका सहयोग अभीष्ट है। आपके सहयोग, मार्ग-दर्शन व प्रेरणा से ही सघ इस कार्य को पूर्ण कर सकेगा। आपके स्नेह व सहकार की अपेक्षा के साथ।

❀ विनयावनत ❀

सम्पतसिंह भांडावत
अध्यक्ष

माणकमल भंडारी
ज्ञानेन्द्र बाफना
महामंत्री

श्री अ० भा० जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ
घोडो का चौक, जोधपुर-३४२ ००१